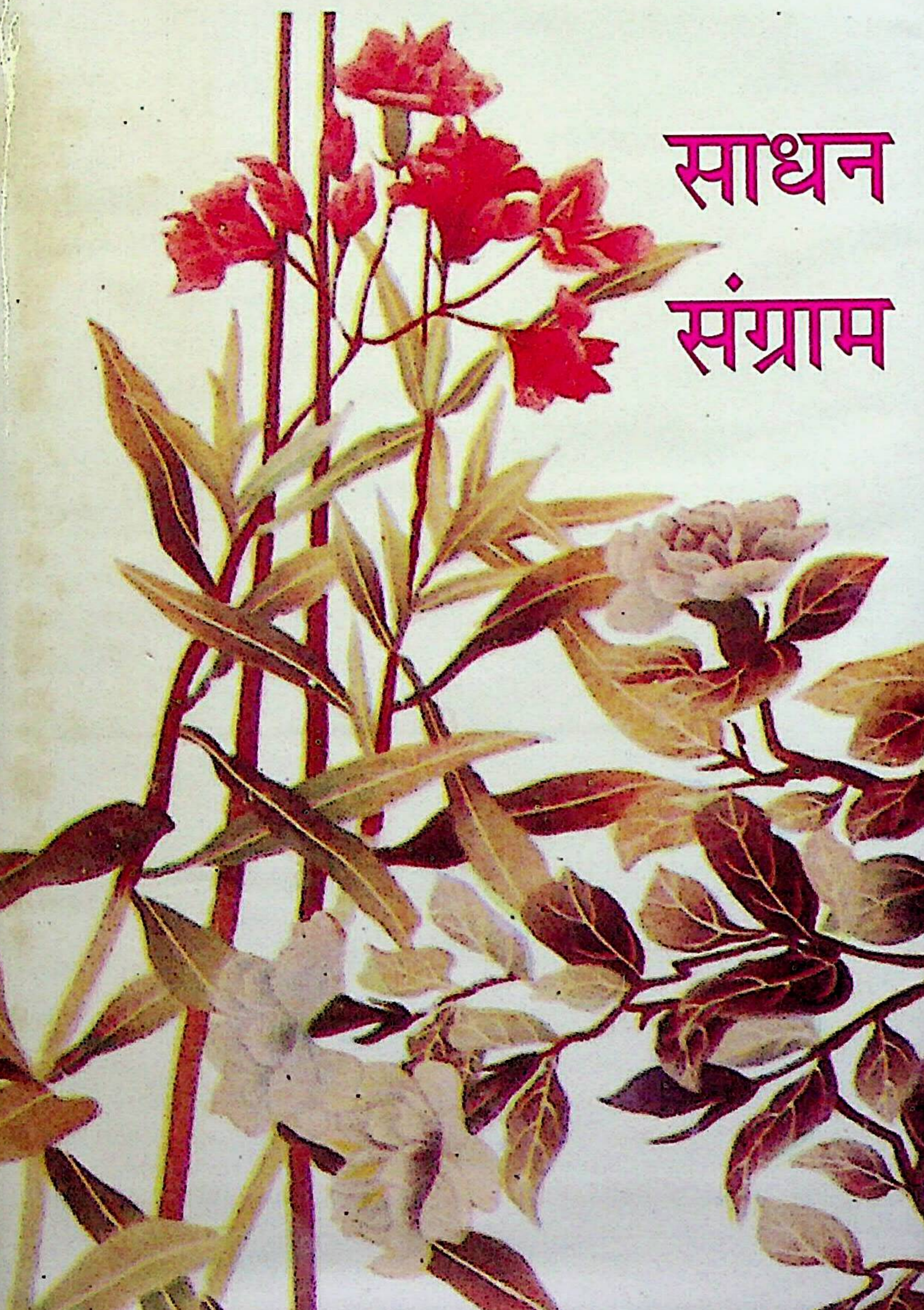

साधन
संग्राम

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—४४



साधन-संग्राम

तृतीय भाग

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्रीदक्षिणामूर्तिपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्दगिरिजी महाराज

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ, प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी-४६/६, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१ ०१०

प्रथम संस्करण

विक्रमाब्द	:	२०५६
भगवत्पादाब्द	:	१२१४
ख्रीष्टाब्द	:	२००२

मूल्य : 110/- रुपये मात्र

अक्षरसंयोजन
मानस टाइपसैटर
४६४८/१, २१, दरियागंज,
दिल्ली-२

मुद्रक :
महिम पत्रन प्रा. लि.,
आगरा

भूमिका

मानव को उपलब्ध अतीन्द्रिय रहस्यों के साहित्य में वेद का स्थान सर्वोपरि है यह वेदसे परिचित आस्तिक-नास्तिक सभी चिन्तकों ने माना है। वैदिक साहित्यमें भी ऋग्वेद-संहिता का आकार और वैशद्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद का भी दसवाँ मण्डल गाम्भीर्य में अनुपम है यह स्पष्ट है। वहीं आया 'नासदीय-सूक्त' अध्यात्म-विचार के लिये उत्कृष्ट आधार बनता है यह अनुभवसिद्ध है। सत्-असत् अर्थात् व्यक्त-अव्यक्त से परे जो ब्रह्मतत्त्व और उसकी आवरण-विक्षेपशक्तियों वाली माया—इनका अत्यन्त विविक्त प्रतिपादन इस सूक्त में प्रकाशित है। मोक्ष-साधनभूत विचार हृदयंगम होने केलिये बुद्धिका एक न्यूनतम स्तर चाहते हैं जिसे पाना साधनाभ्यासके बिना असम्भव है। साधना में रुकावटें और विरोध इतने अधिक आते हैं कि इसे एक संग्राम मानकर ही अपनाया जा सकता है।

श्रीविश्वनाथ संन्यास आश्रम, दिल्ली में प्रायः पचास वर्षों से अनवरत प्रतिदिन वेदान्त-प्रवचनों का क्रम निर्विघ्न चल रहा है। वहाँ की कुछ प्रवचन-मालाओं को ग्रन्थरूपमें प्रकाशित भी किया गया है। माण्डूक्य एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों पर आधारित वक्तव्य पूर्वमें 'साधन-संग्राम' नामसे दो भागों में प्रकाशित हुए थे। ईस्वी सन् १९७८ में नासदीय-सूक्त के प्रथम-द्वितीय मन्त्रों पर साधना-केन्द्रित विचार वहीं व्यक्त किया था जिसे आशुलेख-पूर्वक उट्टंकित

तभी कर लिया गया था, प्रकाशित अब किया जा रहा है। इनमें समझाये ढंगसे साधनाभ्यास कर अधिकारी अद्वैत साक्षात्कार कर मोक्षके भागी बनें यही आशीर्वाद है।

श्रीशंकर मठ, आबू
मकर संक्रांति, २०५८

भगवत्पादीय
महेशानन्द गिरि

विषय सूची

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

साधन-संग्राम

तृतीय भाग

ऋग्वेदीय नासदीयसूक्त के आद्य मन्त्रद्वयकी प्रवचनात्मक व्याख्या

प्रवचन—१

ऋग्वेद के दशम मण्डल में १२६ वाँ सूक्त 'नासदीयसूक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रायः वैदिक ग्रंथों के नाम शाखा के अनुसार, अथवा उनमें आये हुए प्रथम शब्द के आधार पर पड़ जाते हैं। क्योंकि वेद एक अखण्ड ग्रंथ है इसलिये उसके भिन्न-भिन्न भागों के नाम पहले प्रचलित ही नहीं थे। प्रत्येक व्यक्ति समग्र वेदों का अध्ययन करता था। कालान्तर में लोगों का बुद्धिवैशद्य कम होने लगा, अर्थात् ग्रंथधारण और ग्रन्थार्थधारण दोनों की शक्ति न्यून-न्यूनतर होती गई। ग्रंथधारण की शक्ति का मतलब है ग्रंथ में जो शब्द लिखा है उसको भली प्रकार हृदय में रखने की शक्ति। ग्रंथार्थधारण का मतलब है कि उसके प्रतिपाद्य विषय में जिस बात को बताया गया उसको भली प्रकार समझने की शक्ति। ग्रंथ-धारण करने की शक्ति कम होने से उसके भिन्न-भिन्न अंशों को एक-एक व्यक्ति याद करने लगा, पढ़ने लगा और तब उसका

नाम रखने की भी जरूरत पड़ी। ग्रंथार्थधारण करने की शक्ति जब कम होने लगी तब न्याय, वैशेषिक आदि भिन्न-भिन्न दर्शनों का तथा पुराण, आगम, स्मृति आदि का निर्माण करना पड़ा, जिससे अर्थों का धारण भिन्न-भिन्न हिस्सों में किया जा सके। दोनों में ही मनुष्य की मेधा शक्ति की कमी ही कारण है। प्रथम अक्षर से ग्रंथ का नाम पड़ने का दृष्टांत है ईशावास्य उपनिषद्। यह शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है, एवं 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्' से प्रारंभ होता है। चूँकि 'ईशावास्य' प्रथम शब्द आया इसलिये उसी पर उपनिषद् का नाम पड़ गया। सामवेद की तलवकार शाखा का नवाँ अध्याय 'केनेषितं' शब्द से प्रारंभ हुआ तो उसका नाम केनोपनिषद् पड़ गया। शाखा के अनुसार नाम पड़ने का उदाहरण है कठोपनिषद्। काठक संहिता में आने वाली उपनिषद् होने से काठकोपनिषद् या कठोपनिषद् कही गयी। इसी प्रकार ऋग्वेद के दशम मण्डल में १२९वें सूक्त का प्रारंभ 'नासद्' शब्द से होता है, इसलिये इसको नासदीय सूक्त नाम से कहा जाता है।

यह अद्वैत वेदांत के अनिर्वचनीयवाद का बहुत ही भली प्रकार से प्रतिष्ठापन करता है। अध्यस्त-अधिष्ठान का निरूपण, जगत् की रचना के कारण का विवेचन, हेतु और प्रयोजन का विचार, जगत् की निवृत्ति अविद्या की निवृत्ति से किस प्रकार होती है इत्यादि बातों को क्रमशः यह ग्रंथ बतायेगा। संक्षेप में वेदांत के समग्र विषयों का इसमें प्रतिपादन है। इसीलिये इस सूक्त की बड़ी प्रधानता है। यद्यपि यह बात हम आस्तिकों के मतलब की नहीं है फिर भी बता देना आवश्यक है : कुछ लोगों का आधुनिक

युग में बार-बार यह आक्षेप होता है कि वेदांत का अद्वैतवाद और जगत् की अनिर्वचनीयता बौद्धों से ली गई है और वस्तुतः इसका मंत्र-भागों में प्रमाण नहीं मिलता। आस्तिकों का सिद्धांत है—मंत्र और ब्राह्मण भाग दोनों वेद हैं। आजकल कुछ अर्द्धनास्तिक समाज चले हैं। नास्तिक वे हैं जो सारे वेद को न मानें। जो मंत्र भाग को मानते हुए ब्राह्मण भाग को नहीं मानते, उन्हें अर्द्धनास्तिक कहा जाता है। वेद के आधे भाग को मानकर आधे भाग को नहीं मानना, ऐसा इनका विलक्षण मन्तव्य है। यह सूक्त मंत्रभाग में आता है। कुछ लोग उस मंत्रभाग में भी क्रम मानते हैं। पहले ऋक्, फिर यजु, साम और तब अथर्व हुआ। इसलिये ऋग्वेद को वे लोग अधिक प्राचीन मानते हैं। यह सब आस्तिकों की कल्पनाएँ नहीं, नास्तिकों की कल्पनाएँ हैं। फिर भी समझना अवश्य चाहिये। ऋक् मंत्रभाग में भी आगे कुछ आधुनिक लोगों की कल्पनाएँ चलती हैं। कुछ मंडलों को अन्य मंडलों से, तत्रापि सूक्तों को सूक्तान्तरों से अर्वाचीन माना जाता है। ऋग्वेद के अंतर्गत होने से जो केवल मंत्रभाग को मानने वाले हैं उनके लिये भी और तत्रापि जो ऋग्वेद को प्राचीनतर मानते हैं उनके लिये भी यह नासदीय सूक्त प्रमाण- भूत है। अद्वैत को प्रच्छन्न बौद्ध मानने वालों का मुखमर्दन करने के लिये यह सूक्त पर्याप्त है, क्योंकि इसमें सम्पूर्ण वेदांत-प्रक्रिया आ जाती है।

इसका प्रथम मूलमंत्र है :—

'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

किमावरीवः कुह कस्य शर्म-
न्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।१।।'

अर्थात् तब न असत् था, न सत्, और न रज या परव्योम अर्थात् जगत् व जीव भी न थे। क्या था जो ढका जाये और किससे ढका जाये ! कर्म भी नहीं था।

चूँकि नासद् शब्द से प्रारंभ हुआ इसलिये नासदीय सूक्त नाम हो गया। 'तदानीम्' अर्थात् तब। जो अब नहीं वह तब। अब क्या है ? जीव, जगत् और ईश्वर का भेद निरंतर अनुभव में आ रहा है यह अब है, अथवा मोटी भाषा में सृष्टि अवस्था का अनुभव हो रहा है इसलिये यह अब हुआ। सृष्टि के पूर्व (सर्गावस्था के पूर्व) जिस समय यह भेद विस्तृत नहीं हुआ वह तब था। अब ही भेदों की सत्ता को बताना श्रुति को इष्ट है। हम लोग तो तब का प्रयोग अब के भेद में ही करते रहते हैं, लेकिन श्रुति कहती है कि अब वह है जिस समय काल का परिचय है। इसलिये तब वह होगा जब काल नहीं था। अब वह है जबकि चीज़ें दीख रही हैं, इसलिये तब वह होगा जिस समय चीज़ें नहीं थीं। अब हमको नामरूपात्मक प्रपंच की प्रतीति है, इसलिये तब वह होगा जिस समय नामरूपात्मक प्रपंच की प्रतीति नहीं थी। जिस समय देश काल वस्तुओं का भेद नहीं था तब अर्थात् सृष्टि के पहले असत् नहीं था।

तुरंत मन में प्रश्न होता है कि क्या कुछ नहीं था ? देश, काल, वस्तु ही हमारे अनुभव में आते हैं, इसलिये वह नहीं था तो कुछ नहीं था। इसीलिये सर्वप्रथम उसकी सम्भावना को दूर करते हैं 'असत् तदानीं न असीत्' अर्थात् उस समय कुछ नहीं था—ऐसा

नहीं था। जो सर्वप्रथम प्राप्त होता है उसी का सबसे पहले निषेध भी करना पड़ता है। जैसे स्वार्थ मनुष्य को स्वभाव से प्राप्त है इसलिये निषेध करना पड़ता है कि स्वार्थी मत बनो। कई बार लोग पूछते हैं कि दूसरे का उपकार करते-करते हम बरबाद हो जायें तो ? हम उनसे कहते हैं कि इसकी चिन्ता मत करो, क्योंकि तुम्हारे अन्दर स्वार्थ इतना धँसा है कि अपना नाश करने के पूर्व खुद बच जाओगे, उसके लिये उपदेश की जरूरत नहीं। विदेशों में मनोवैज्ञानिकों ने कुछ प्रयोग किये हैं। किसी व्यक्ति के मस्तिष्क को प्रक्रियाविशेष के द्वारा काबू में कर लिया जाता है। सम्मोहन की अवस्था में उस व्यक्ति से जो काम लेना चाहें वे करवा लेते हैं, क्योंकि वह अपने वश में नहीं रहता। जैसे अपने यहाँ भी जिसे भूतप्रेत चढ़ जाता है उस समय उसे पता नहीं चलता कि क्या कर रहा है। यह भी एक प्रकार से संमोहन ही है। लेकिन उस प्रयोग में उन्होंने एक विचित्र बात पाई कि यदि व्यक्ति को आदेश देते हैं कि 'सामने वाले को गोली मार दो' तो वह मार देता है। गर्दन काटने को कहें तो वह काट देता है। जब उसे कहते हैं कि 'खिड़की के पास चला जा' तो चला जाता है। 'खिड़की खोल दे', खोल देता है। 'खिड़की से झाँक', वह नीचे देखता है। 'खिड़की पर पैर रखकर खड़ा हो जा', खड़ा हो जाता है। लेकिन जब उससे कहते हैं कि 'नीचे कूद जा' तब वह जग जाता है, वह कूदता नहीं ! उन लोगों ने कई बार ऐसे प्रयोग किये। आत्मरक्षा की शक्ति अपने अन्दर ऐसी कसी हुई है कि बिना प्रयत्न के भी स्वतः हर-एक प्राणी अपनी रक्षा कर ही लेगा। इसीलिये यह संदेह कि 'कहीं परार्थ करते हुए कोई अपना नाश न कर ले', प्राप्त ही नहीं

है। इसलिये उसका निषेध भी नहीं कर सकते। लेकिन स्वार्थ प्राप्त है। इसीलिये हज़ारों शास्त्र, हजारों वर्षों से हजारों महापुरुष कहते रहे कि स्वार्थी मत बनो फिर भी अधिकतर व्यक्ति स्वार्थी ही हैं। चूँकि यह प्राप्त है इसलिये इसका निषेध करना पड़ता है। जो प्राप्त नहीं उसका निषेध भी नहीं, मना करने की ज़रूरत भी नहीं।

इसीलिये जैसे ही कहा जाता है कि देश, काल, वस्तु नहीं था, तब प्राप्त होता है कि कुछ नहीं था। इसीलिये तुरंत उसका निषेध.करना पड़ता है कि ऐसा नहीं था कि कुछ नहीं था। क्या फिर कुछ था ? कुछ होगा तो देश, काल, वस्तु वाली चीज़ होगी। लेकिन उस समय कोई भी नाम, रूप, कर्म नहीं था। जिसे तुम यहाँ जानते हो वह वहाँ नहीं था। यहाँ जिसे भी जानते हो उसे तुम 'कुछ' कहते हो। कुछ शब्द पर ध्यान देना आवश्यक है। संस्कृत भाषा में कुछ मायने परिच्छिन्न। जैसे 'मुझे कुछ दूध दे दो' अर्थात् सारी कढ़ाई का नहीं वरन् थोड़ा-सा, परिच्छिन्न दो। अथवा 'इस चाय के प्याले में कुछ पड़ा हुआ है', अर्थात् कोई छोटी-सी चीज़ पड़ी हुई है। अगर चाय के प्याले में छिपकली पड़ी हो तो यह नहीं कहा जाता है कि कुछ पड़ा हुआ है, चींटी या मक्खी आदि कोई छोटी चीज़ हो तभी कहते हैं 'कुछ पड़ा हुआ है'। कुछ वह है जो परिच्छिन्न है। इसलिये श्रुति कहती है कि यह मत समझना कि वहाँ कुछ था, अर्थात् वहाँ परिच्छिन्न कुछ नहीं था। केवल भूमा अखण्ड परब्रह्म अद्वितीय चिद्घन परमात्मा ही था। सत् अर्थात् नामरूपकर्मात्मक जगत्, और असत् अर्थात् उनका अभाव दोनों का निषेध करके प्रथम वाक्य में ही माया का निरूपण कर दिया। यही माया का लक्षण है। इसी श्रुति के

आधार पर भाष्यकार भी कहते हैं :

'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो' जो माया सत् नहीं असत् नहीं व सदसद्रूप भी नहीं; भिन्न नहीं, अभिन्न नहीं, भिन्नाभिन्न भी नहीं। वही यहाँ कही जा रही है। इसी की व्याख्या बाकी के मंत्रों में करेंगे।

'रजः न आसीद्' । महर्षि यास्क लिखते हैं 'लोकाः रजांसि' । भूः भुवः आदि सात ऊपर के और सात नीचे के लोकों को वेदों में रज शब्द से कहा जाता है इसलिये 'रजः न आसीद्' अर्थात् ये कोई भी लोक नहीं थे। वैसे रज का मतलब हुआ करता है बालू के कण। जिस अवस्था में सत् और असत् का ही अभाव बता रहे हैं, वहाँ बालू के कण नहीं थे यह कहना तो प्राप्त ही नहीं होता है। अर्थात् जहाँ तुम्हें अनुभव होता है, वह वास करने योग्य लोक भी नहीं थे।

'नो व्योमा परो यत्' वह परव्योम भी नहीं था। परव्योम के द्वारा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' श्लोक की याद आती है। 'परमे व्योमन्' ही यहाँ परव्योम है अर्थात् जिस चिदाकाश में बैठकर हम लोग चीज़ों का अनुभव करते हैं। हृदयगुहा के अन्दर ही परव्योम को बताया। हृदय गुफा में आने पर ही तो यह सम्भव है कि हम प्रमाता बनकर सब चीज़ों को देख सकें। जब तक हृदयरूप गुफा में प्रवेश नहीं करेंगे तब तक क्या किसी चीज़ का सच्चा अनुभव हो सकता है ? बाह्य पदार्थ चाहे जितने विद्यमान रहें, वे क्या कभी एक दूसरे का अनुभव करते हैं ? इस कमरे की एक दीवाल दूसरी दीवाल के सामने अट्ठाईस साल से अविकृत भाव से खड़ी है लेकिन एक क्षण को

भी एक ने दूसरी को नहीं देखा क्योंकि परव्योम नहीं है अर्थात् हार्दाकाश नहीं है। इसलिये चाहे जितना आमने-सामने रहें, जब तक इस गुहा के अन्दर नहीं जाते तब तक सच्चा अनुभव कुछ नहीं होता। अनुभव का केन्द्र वह परव्योम ही है। वह परव्योम नहीं था अर्थात् जिसका अनुभव होता है वह हार्दाकाश नहीं था, प्रमाताभाव भी नहीं था।

फिर उस समय सब ढका हुआ होगा अथवा किसी ने चादर तान दी होगी जिससे अन्दर सब होने पर भी दीखता नहीं होगा? ऐसा भी नहीं था। 'किमावरीवः' कोई चीज़ हो उस पर ही तो चादर तानी जाती है। ढाँकने के योग्य वहाँ था क्या कि जिसको ढाँका जाता ! ढके हुए का मतलब ही होता है कि ढक्कन के अन्दर कुछ है। जिसके नीचे कुछ न हो वहाँ थोड़े ही कहेंगे 'ढका हुआ है'। जैसे ही कोई कहेगा 'ढका हुआ है' वैसे ही प्रश्न होगा 'क्या ढका हुआ है ?' आगे कहें कि 'कुछ नहीं ढका हुआ' तो बात नहीं बनती। श्रुति आक्षेप कर रही है; पहले तो निषेध कर दिया, अब कहते हैं कि जब नामरूपात्मक कुछ था ही नहीं तो क्या वह चीज़ होती जिसे ढाँका जाता !

'कुह कस्य शर्मन्' सुख भी वहाँ नहीं था। सुख से यहाँ सुख-दुःख से उपलक्षित जीवों के भोग हैं। यहाँ भी आक्षेप ही करते हैं कि कौन से पदार्थ के भोग की वहाँ सम्भावना थी कि कुछ खोला और कुछ ढाँका जाता ! भोग को निमित्त बनाकर ही कुछ ढाँकते या खोलते हो। जिस-जिस पुण्य प्रारब्ध का उदय होगा वह खुलता जायेगा और जिस-जिस पाप प्रारब्ध का उदय होगा वह ढकता जायेगा। सुख-दुःख के भोग के निमित्त से ही तो

आवरण व विक्षेप होते रहते हैं। जिस काल में जिस चीज़ के भोग का प्रारब्ध उदय हुआ वह खोल दिया जायेगा, बाकी ढका रहेगा। इस समय यदि कान से श्रवण करने का प्रारब्ध है तो कान खुले हुए हैं, बाकी सब इन्द्रियाँ काम नहीं कर रही हैं। थोड़ी देर बाद जब जीभ का प्रारब्ध उदय होगा तो बढ़िया रसगुल्ले मुँह में जा रहे होंगे। उस समय कोई कहे भी कि 'ज़रा सुन लो' तो कहेंगे 'बात मत करो', तब कान का प्रारब्ध बन्द होगा। वहाँ कौन से भोग की सम्भावना थी कि कुछ ढाँका-खोला जाये !

और कुछ नहीं होगा पर आगे सृष्टि होनी है अतः लोगों के कर्म तो होंगे, वे कर्म ही ढाँकने-खोलने का काम कर देंगे ? 'अम्भः किम् आसीत्' अंभ जल को कहते हैं। 'अप् इति कर्मनाम'। अभी सृष्टि उत्पन्न ही नहीं हुई है तो कर्म आयेंगे कहाँ से ? सृष्टि उत्पन्न होने के बाद ही तो कर्म आयेंगे। हम तो अब तक कर्म को ही कारण मानते रहे हैं कि क्योंकि हम पिछली सृष्टि वाले हैं इसलिये हमारे पिछले कर्म भी हैं। 'गहनं गभीरं' यह विषय तो बड़ा गम्भीर है। गंभीर और गहन दोनों शब्दों का मतलब गंभीर होता है, फिर भी दोनों का प्रयोग कर श्रुति कहती है कि यह इतना भयंकर रहस्य है कि इसमें तो एक आवरण से दूसरे आवरण में घुसें तब जाकर कुछ पता लगता है। केवल कर्म को कारण मानकर तो बच्चों को समझा दिया जाता है ! इसलिये यहाँ बड़े विचार की ज़रूरत है। गहराई में उतरकर टक्कर मारनी पड़ेगी, ऊपर-ऊपर से कुछ नहीं होगा। इसलिये इस ग्रंथ में उस गहन स्थल का निरूपण करना उद्देश्य है। यह मंत्र का अक्षरार्थ हुआ।

प्रत्येक वैदिक मंत्र के ऋषि हुआ करते हैं। नासदीय सूक्त के

ऋषि परमेष्ठी प्रजापति हैं। त्रिष्टुप् छंद के सात मंत्र हैं। परमात्मा ही इस सूक्त के देवता हैं और ज्ञान प्राप्ति में इसका विनियोग है। प्रजापति मायने ब्रह्मा लेकिन यहाँ ब्रह्मारूप प्रजापति का विशिष्ट नाम परमेष्ठी प्रजापति कहा है। परमेष्ठी—'परमे व्योमन्' चिदाकाश में अर्थात् चैतन्य स्वरूप उस परम व्योम में जो रहता है अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ है, वह ब्रह्मा ही इस नासदीयसूक्त का द्रष्टा है, ऋषि है। ब्रह्मनिष्ठ है अर्थात् निरंतर अपने चैतन्य स्वरूप में स्थित रहता है। सचमुच अपनी प्रजा कौन हैं ? हमारी इन्द्रियाँ-रूप देवगण ही हमारी प्रजायें हैं। प्रजा का मतलब ही होता है कि जो हमको आगे रखें। अपने बच्चों को 'प्रजा' कहते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा ही मानो हमारा विस्तार होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और मन के द्वारा ही हमारा आगे विस्तार हुआ, अन्यथा जैसे गहरी नींद में पड़े होते हैं, वैसे पड़े रहते ! इसलिये इन्द्रिय-मन द्वारा हमारा विस्तार होने से ये सारी हमारी प्रजायें हैं और हम इनके पति (प्रजापति) हैं, मालिक हैं, इनका पालन करने वाले हैं। पति शब्द में दोनों ही रहस्य हैं। यदि हम इनका ठीक प्रकार से पालन नहीं करेंगे तो हम प्रजापति नहीं और यदि इनका पालन ही पालन करते रहेंगे तो भी मालिक नहीं रह सकेंगे। पालन करना तो सब जानते हैं, सवेरे से शाम तक कभी आँख का तो कभी कान का पोषण कर ही रहे हैं लेकिन इनके ऊपर शासन करना अभी नहीं सीखा है। प्रजापति का मतलब है कि इनका पोषण भी करो और शासन भी करो।

अधिकतर संसार में दो प्रकार के व्यक्ति हैं। कुछ लोग अतितीव्र तपस्या के द्वारा इनके ऊपर शासन तो करते हैं लेकिन

इनको सुखाते रहते हैं, इनका शोषण करते रहते हैं। वैदिकों को यह इष्ट नहीं है। वैदिक कहता है 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' मन व इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है। आँख से बुरी चीज़ देख ली तो आँख को फोड़ दिया या कान ने कोई गाना सुना तो कान को फोड़ दिया—यह तो घोर सुषुप्ति वाली स्थिति हुई जहाँ कुछ भी पता नहीं रहे। कुछ लोग इस प्रकार फोड़ते नहीं तो आँख पर पट्टी बाँध लेते हैं। हमारा आदर्श है कि ये सब साधन पुष्ट रहें। हम रोज़ प्रार्थना ही यह करते हैं 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येम अक्षभिः यजत्राः स्थिरैः अँगैः स्तुष्टवांसः' हमारी सभी इन्द्रियाँ शरीर आदि पुष्ट हों। इसलिये हम इनके शोषण को नहीं बढ़ाते लेकिन पोषण करके ये ऐसी हो जायें कि ये मालिक बन बैठें और हम गुलाम हो जायें—यह भी हमारी स्थिति ग़लत है। इनका पोषण हो लेकिन अपना पतित्व, अपना शासन इनके ऊपर से नहीं हटना चाहिये। ऐसे जो प्रजापति परमेष्ठी हैं वे ही इस नासदीय सूक्त के द्रष्टा हैं।

सामवेदीय ताण्ड्य महाब्राह्मण कहता है 'ऋषिः अधिकारी' किसी भी मंत्र का ऋषि वह होता है जिसके भाव को प्राप्त करने पर हम उस मंत्र के अधिकारी बनते हैं। देवता मंत्र का उद्देश्य हुआ करता है। अर्थात् उस मंत्र से जिस भाव को प्राप्त करना है। जैसा बनने पर प्राप्त होगा—वह ऋषि है। इस सूक्त के परमेष्ठी प्रजापति ऋषि और परमात्मा निर्विकार चिदात्मा स्वयं देवता हुए।

इसी बात को पुराणों के अन्दर गंगोत्पत्ति के माध्यम से बताया गया है। भगवान् का वामन अवतार हुआ। वामन अवतार का उद्देश्य क्या था ? असुरराज बलि प्रबल शक्ति को प्राप्त कर चुका

था। उस शक्ति के द्वारा वह देवताओं को पराभूत कर देता था। इतना ही नहीं, उसको शुक्राचार्य पुरोहित भी मिले हुए थे और उनके पास संजीवनी विद्या थी जिससे जो-जो असुर मारा जाता था उसे वे फिर जिला देते थे। देवताओं ने प्रार्थना की तो भगवान् वामनरूप से आये। विष्णु का ही वामनरूप से ब्राह्मण शरीर में अवतार हुआ। वामन और परशुराम दो ही अवतार ब्राह्मण शरीरों में हुए।

बलि यज्ञ कर रहा था। भगवान् स्नातक के रूप में यज्ञ में पहुँचे। जो व्यक्ति वेदाध्ययन कर चुका लेकिन अभी विवाह नहीं किया हो, वही स्नातक अवस्था वाला होता है। स्नातक हमेशा पूज्य और दान के योग्य होता है। इसलिये उसी नियम से जैसे ही वहाँ पहुँचे और भिक्षा की याचना की, वैसे ही बलि ने सोचा कि इन्हें पहले दान दे दूँ। दान की तैयारी करने लगा। उनसे पूछा 'आप क्या लेंगे ?' वामन ने कहा—'मैं तीन पैर ज़मीन लेना चाहता हूँ।' बलि ने कहा 'और भी कुछ ले लो।' उन्होंने कहा—'नहीं, इतना ही पर्याप्त है।' बलि ने कहा भी कि यह तो बड़ी छोटी-सी चीज़ है। पुरोहित शुक्राचार्य वेदज्ञ वहाँ बैठे थे। उन्होंने विचार किया 'तीन पाद भूमि तो कोई नहीं माँगा करता, इसमें कोई गड़बड़ की बात है।' उन्हें वैदिक मंत्र याद आया 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदमु, समूहळमस्य पांसुरे।' 'तीन पैरों में समग्र संसार को नाप देने वाले तो विष्णु देवता हैं। इसलिये विष्णु ही इस रूप में आये होंगे।' ध्यान लगाकर देखा और पहचान भी लिया। झट बलि का हाथ पकड़ा और उससे कहा कि 'कह दो कि मैं अभी यज्ञ में व्यस्त हूँ, मेरे किसी मंत्री से माँग लो; क्योंकि यह दान

के योग्य नहीं है वरन् शत्रु है।' बलि ने पूछा—'फिर भी है कौन?' शुक्र ने कहा—'साक्षात् विष्णु हैं।'

बलि ने विचार किया कि जिसको सब लोग परब्रह्म परमात्मा मानते हैं, जिससे सब प्रार्थना करते हैं कि 'कुछ दे दो', वह कब भिखमंगा कंगला बनकर मेरे सामने आयेगा ! इसलिये यह मौका नहीं छोड़ना चाहिये। जब बलदेवदास बिड़ला ने कलकत्ते में कार्य प्रारंभ किया था तब एक बार व्यापार में कुछ घाटा हो गया। वहाँ एक व्यक्ति के पास उन्होंने अपना चाँदी का लोटा-कटोरी गिरवी रखा था। समय पर पैसा नहीं दे पाये, इसलिये गिरवी कभी नहीं छूटी। फिर वे बहुत बड़े आदमी हो गये, राजा बलदेवदास बिड़ला बन गये। उन्होंने उस व्यक्ति से कहा कि 'मेरी चीज़ मुझे वापिस कर दो, अपना रुपया वापिस लो।' उस ज़माने में चाँदी सस्ती थी इसलिये सौ दो सौ की चीज़ थी। वे पचास हज़ार तक देने को तैयार हो गये, लेकिन वह व्यक्ति लोटा-कटोरी वापिस करने को तैयार नहीं हुआ क्योंकि 'राजा बलदेवदास बिड़ला की चीज़ मेरे पास गिरवी है यह ऐंठ मैं कैसे जाने दूँ !' बलि ने भी विचार किया—कि यह चाहे कुछ भी ले ले, लेकिन आज तक यही सुना गया है कि लोग विष्णु से माँगने गये; वही जब पहली बार मुझसे माँग रहा है तो कैसे मना कर दूँ ! शुक्राचार्य ने समझ लिया कि यह अब राजा नहीं रहेगा।

तीन पाद भूमि देने का संकल्प करवाया। जब संकल्प करके दे दिया तब वामन ने अपना असली विराट् रूप धारण किया। जो सारे संसार को व्याप्त करके रहे वही विष्णु है। उसने एक पैर नीचे रखा और दूसरा पैर ऊपर किया तो वह ब्रह्माण्ड का

भेदन करके निकल गया। तीसरे पैर में स्वयं बलि को अपने आपको अर्पण करना पड़ा। यहाँ दूसरे पैर वाली बात याद रखना कि जब दूसरा पैर उठाया तब ब्रह्माण्ड-चक्र का भेदन हो गया था। ब्रह्माण्ड के अन्दर तो सृष्टिप्रक्रिया हुई लेकिन बाहर 'नासदासीद् नोसदासीत्' अर्थात् वहाँ तो लोक भी नहीं है। इसलिये ब्रह्माण्ड के अन्दर सब लोक और बाहर लोकातीत है। जब ब्रह्माण्ड का भेदन किया तब ब्रह्माण्ड के बाहर गंगा बह रही थी। गम् धातु का अर्थ ज्ञान होता है। वह अलौकिक ज्ञान है जो किसी इन्द्रिय से विषय नहीं किया जा सकता। इस समग्र अध्यस्त जगत् से भिन्न जो शुद्ध चिन्मात्र है वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा उसका स्पर्श करने का प्रयत्न करते हैं लेकिन जिसका स्पर्श करते हो वह तो इन्द्रियों से परे है। ब्रह्माण्ड-भेदन करने से गंगा का कुछ हिस्सा ब्रह्माण्ड के अंदर आया। ब्रह्माजी ने झट उसे अपने कमण्डलु में भर लिया। वामन का पैर वापिस आ गया, ब्रह्माण्ड का आवरण फिर बन्द हो गया। बाद में किसी काल में भगीरथ की तपस्या से गंगा का कुछ हिस्सा पृथ्वी पर आ गया। गंगा को इस जगत् में लाने वाला विष्णु का पाद और पृथ्वी तक ब्रह्मा के कमण्डलु के माध्यम से गंगा आयी।

यही परमेष्ठी प्रजापति का 'नासदासीद् नोसदासीत्' के ज्ञान की गंगा को लाने का प्रकार है जो पुराणों में वर्णित है। वामन इसका हेतु बना। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'वामनो ह वै विष्णुरास' विष्णु ही वामन बने। विष्णु सर्वव्यापक परमात्मा है और वही छोटा-सा बन गया जब तुम्हारे हृदय में प्रमातारूप से घुस गया। इसलिये श्रुति उसे 'अन्दर' कहती है 'मध्ये वामन-

मासीनं' हृदय के मध्य भाग में वामन बैठा हुआ है। शरीर के जितने देवता अर्थात् इन्द्रियाँ हैं वे सब उसी का ज्ञान करवाती हैं। व्यापक परब्रह्म परमात्मा प्रजापति ब्रह्मा वामन रूप धारण करके ही प्रत्येक जीव के हृदय में बैठे हुए हैं। एक बड़ा भारी यज्ञचक्र बलि के द्वारा चलाया जा रहा है। बल वाला बलि है। बलवाला चिदाभास है; बल तो चित् है, उस चित् वाला चिदाभास है। चित् चित् *वाला* नहीं हुआ करता; जैसे धन और धनी का फर्क है ऐसे ही बल वस्तुतः तो चित् का है, परमात्मा का है, वामन का है, लेकिन बल वाला चिदाभास बना हुआ है। उसी के बल को लेकर सारे खेल खेल रहे हैं। यह बलि असुरों का राजा है। चिदाभास आसुरी वृत्तियों के साथ सम्बंधित हुआ पड़ा है। उसकी शक्ति तो चित् की है लेकिन उसका प्रयोग असुरों के लिये कर रहा है। इसको शुक्राचार्य रूप पुरोहित मिल गया है जो मरी हुई फौज को ज़िन्दा कर देता है अर्थात् एक कर्मफल को भोगता है और भोग के प्रकार में दूसरे कर्म कर लेता है जिससे इसका भोग कभी समाप्त नहीं होता। कर्मफल भोगने के तरीके में ही दूसरे कर्म कर लेता है और उस कर्म का फिर भोग सामने आ जाता है; इसलिये यह क्रम कभी समाप्त नहीं होता।

इस बलि के यज्ञ में वामन मौजूद रहते हैं अर्थात् कभी-न-कभी यह चिदाभास चित् के सामने पहुँचता है। कब पहुँचता है ? वामन का दूसरा तात्पर्य है 'वा' अथवा, मन। मन हमारे साथ है ही। मन के द्वारा ही यह चेतन चिद्रूप होने पर भी मन के जैसा ही हो गया है। इसलिये इसे मन न कहकर 'या मन' ही कह सकते हैं। चिदाभास वैसे मन में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब है लेकिन

व्यवहार-दृष्टि से उसे मन कहें तो भी चलेगा। है तो वामन चित् लेकिन अंतःकरण के अन्दर चिदाभास पड़ा हुआ है इसलिये दोनों एक हो रखे हैं, साक्षी और प्रमाता का भेद नहीं है। मैं जब रसगुल्ले को खाता हूँ तब इस बात को जानता हूँ कि मैं रसगुल्ले को खा रहा हूँ। इसलिये दो 'मैं' हुए—एक खा रहा है और दूसरा जान रहा है। लेकिन दोनों को एक किये बैठे हो। क्या कभी याद भी करते हो कि दो मैं हैं ? जो जान रहा है वह तो चित् ही है; विष्णु है और खाने वाला चिदाभास बंधन में पड़ा हुआ है।

वामन का एक अर्थ वमन अर्थात् उल्टी भी होता है। वमन शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय से वामन शब्द बनता है। कभी-न-कभी यह खाया हुआ निकल जाता है अर्थात् किसी काल में संसार का अनुभव करते हुए जीव संसार के अनुभवों का वमन करना चाहता है। यही वैराग्य है। 'वमनाहारवद् यद्वत्' जब संसार के सब पदार्थ उल्टी हुए जैसे लगें—यह उस वैराग्य की स्थिति हुई। वामन बलि के सामने आये।

असुरराज बलि, चिदाभास, जो बल वाला बना हुआ है, वह सोचता है कि वामन को कुछ भेंट दें। बलि शब्द का एक अर्थ ही भेंट होता है। हिन्दी वाले तो बकरों को काटने का ही अर्थ बलि मानते हैं लेकिन भेंट या उपहार को भी बलि कहते हैं। वामन त्रिपाद भूमि चाहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन ही तो चाहिये। माण्डूक्य उपनिषद् में इन्हीं को त्रिपाद कहा है। शुक्राचार्य समझाते हैं कि मना कर दो, क्योंकि इनके बिना कर्म ही नहीं हो सकता। कर्म तो सारे इन्हीं में करने हैं। वैराग्यवान् नहीं मानता, सोचता है 'कई बार अनुभव कर लिया इसलिये अब दे दो'। जाग्रत्

स्वप्न दो पैरों के अन्दर सारा ब्रह्मण्ड नाप लिया गया। सुषुप्ति में क्या दोगे ? बलि ने खुद अपने आपको दे दिया। अपना आपा अज्ञान था। चिदाभास में चिद्रूपता चित् परमात्मा की है, वह तो उसका पहले ही है, इसलिये मेरा अपना रूप अज्ञान ही है। वही बचा था इसलिये वह दे दिया। यही ब्रह्माण्ड का भेदन हुआ अर्थात् जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति के अतीत गये तो वहाँ ज्ञान मिला। वह ज्ञानगंगा ब्रह्मा ने अपने कमण्डलु में ले ली।

कमण्डलु का क्या अर्थ है ? वेद में आता है 'कस्मै देवाय', वहाँ 'क' का अर्थ ब्रह्मदेव है। छान्दोग्य में भी कहा—'कं ब्रह्म'। मण्ड सार को कहते हैं। श्रुति में ब्रह्म को घी के मण्ड की तरह अत्यंत सूक्ष्म बताया। लु अर्थात् 'लभते'। उसी के द्वारा ब्रह्मरूप सार प्राप्त किया जाता है। वेदांत-वाक्यरूप उपनिषद् का विचार ही कमण्डलु है। परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्मा ही वेद है। वह कभी भागीरथ प्रयत्न करके अर्थात् अतिदीर्घ प्रयत्न करके मनुष्यों को भी प्राप्त कराया गया।

यहाँ नासदीय सूक्त के ऋषि परमेष्ठी प्रजापति कहे गये। इसके द्वारा साधक उसे बताया जिसने भली प्रकार जगत् के स्वरूप को समझा और वैराग्य के द्वारा उसके बाद जगत् का निराकरण किया। परमात्मा के सामने जाकर जिसने अपने जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति रूप का परित्याग किया और उस ज्ञान को प्राप्त करके अपने सिररूप कमण्डलु में भरा। यहीं सारे ज्ञान हैं। इसलिये परमेष्ठी प्रजापति ही इस नासदीय सूक्त के द्वारा परमात्मतत्त्व का निरूपण करते हैं।

प्रवचन—२

सृष्टि से पूर्व न असद्रूप था, न सद्रूप था। न वहाँ भोग्य लोक थे और न भोक्ता जीववर्ग था। ऐसा भी कुछ नहीं था जिसे आवृत कहा जा सके। न सुख दुःख देने वाले कर्म ही थे। सृष्टि के निरूपण के पहले सृष्टि की प्रागवस्था का प्रतिपादन यह मंत्र कर रहा है। सर्वप्रथम असत् का निषेध इसलिये किया कि प्रायः लोगों के मन में यह भावना ही प्रबल रहती है कि पहले कुछ नहीं था, इसलिये उसका निषेध भी आवश्यक है। परवर्ती काल में बौद्ध लोगों ने इस निषेध को ही विधि समझ लिया। सबसे पहले चूँकि असत् का निषेध किया गया इसलिये उन लोगों ने सिद्धान्त बनाया कि पहले असत् ही था ! जगत् का कारण असत् नहीं हो सकता यह वेद कहता है। इसलिये जगत् का कारण असत् ही माना जाये—यह वेद का विरोध करने वालों में स्वाभाविक है। वे लोग कहते हैं कि जो चीज़ उत्पन्न नहीं हुई थी वह नहीं थी इसलिये 'नहीं' को ही कारण मान लो। इस स्वाभाविक समझ को ही बौद्धों ने अपनाया। इसीलिये बौद्धों को लोकायतों अथवा चार्वाकों का ही एक भेद माना जाता है। चार्वाक भी यही कहते

हैं कि चीज़ पैदा होने से पहले नहीं थी। असत् की कारणता चार्वाक भी और बौद्ध भी मानते हैं, किंचित् भेद है जो आगे बतायेंगे। असत् का मतलब है जो सर्वथा नहीं है, जैसे गधे के सिर पर सींग सर्वथा नहीं हैं; आज नहीं हैं, कल नहीं थे और आगे भी नहीं होंगे। सामान्य भाषा में कई बार असत् शब्द का प्रयोग इस अर्थ में भी कर देते हैं कि 'इस कमरे में घड़ा नहीं है' अथवा 'आज हमारे नलके में पानी नहीं है'। 'इस कमरे में घड़ा नहीं है' इसका मतलब घड़े का वास्तविक असद्भाव नहीं है, केवल इस देश में नहीं है ऐसा कह रहे हैं। उसका मलतब यह नहीं है कि घड़ा कहीं भी नहीं है। अथवा 'आज हमारे नलके में पानी नहीं है' यहाँ काल में निषेध है। इसका मतलब यह नहीं कि कभी भी हमारे नलके में पानी नहीं है। असद्वादी कहता है कि पहले कुछ नहीं था, उसका मतलब यह नहीं है कि यहाँ या वहाँ कुछ नहीं था वरन् सर्वथा कुछ नहीं था। इसीलिये नासदीय सूक्त को संक्षेप में समझाते हुए भगवान् भाष्यकार शंकर कहते हैं–

'तुच्छत्वाद् नासदासीद् गगनकुसुमवद् भेदकं नो सदासीत्
किंत्वाभ्यामन्यदासीद् व्यवहृतिगतिसन्नास लोकस्तदानीम्।।'

'नासदासीत्' का तात्पर्य समझना कि उस समय तुच्छ अर्थात् अलीक नहीं था क्योंकि असत् पदार्थ आकाश के फूल की तरह होते हैं। आकाश में रंग, गंध, आकार कुछ भी नहीं लेकिन फूल में आकार, गंध, रूप-रंग हैं। इसलिये आकाशकुसुम सर्वथा हो ही नहीं सकता; यह असत् का मतलब है।

आगे श्रुति ने कहा 'नो सद् आसीत्' अर्थात् नामरूपकर्मात्मक भेदकप्रत्यय नहीं था। सत् का मतलब है भिन्न-भिन्न प्रकार से

ज्ञान कराने वाला भेदक प्रत्यय। एक चीज़ दूसरी चीज़ से अलग की जा सके ऐसा भिन्न-भिन्न वहाँ कुछ भी नहीं था। असत् व सत् से अतिरिक्त कुछ ज़रूर था। श्रुति जब कहती है कि 'नो सदासीत्' तब सर्वथा असत् था ऐसा मतलब नहीं। यदि जगत् का कारण असत् मान लोगे तो संसार के अन्य पदार्थों में भी वही मानना पड़ेगा। इसलिये छांदोग्य उपनिषद् प्रश्न ही उठाती है कि असत् से सत् अर्थात् उसका विरोधी कैसे पैदा हो सकता है ? 'कुछ नहीं' से 'कुछ नहीं' पैदा हो सकता है, 'कुछ नहीं' से 'कुछ' कैसे पैदा होगा ? अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। अभाव से भाव की उत्पत्ति में न केवल श्रुतिविरोध है वरन् कोई दृष्टान्त भी मिलता नहीं। जहाँ भी देखा जाता है, किसी भी चीज़ का कारण कोई दूसरा 'कुछ' होता है। किसी चीज़ को प्राप्त करने के लिये कभी 'कुछ नहीं' को ढूँढने नहीं जाते हो ! बौद्ध दृष्टान्त बनाने के लिये कह देता है कि बीज नष्ट होने पर अंकुर पैदा होता है इसलिये बीजनाश अर्थात् बीज का अभाव अंकुर के प्रति कारण है। इस प्रकार वह दृष्टांत बनाने का प्रयत्न करता है और बहुत से लोगों की समझ में भी आ जाता है कि एक चीज़ नष्ट हुई तो दूसरी चीज़ पैदा हुई, जैसे दूध नष्ट हुआ तो दही पैदा हुआ। इसलिये किसी चीज़ का नाश दूसरे के प्रति कारण है।

समाज-विज्ञान में एक बहुत बड़ा दर्शन इसी सिद्धांत पर बना है—मार्क्स का सिद्धांत, जिसे समाजवादी कम्युनिस्ट इत्यादि सब मानते हैं। वे मानते हैं कि विनाश के गर्भ में ही वस्तुतः उत्पत्ति छिपी रहती है। आज उस दर्शन का बड़ा प्रचार है। जो अपने को धर्मनिरपेक्षवादी कहते हैं वे सब इस मार्क्स धर्म को मानने

वाले हैं। जिसे उन्होंने अपना धर्म माना है उसका सिद्धान्त असद्वाद है। इसीलिये वे कहते हैं कि पुरानी चीज़ को नष्ट करो उसमें से अपने आप ठीक चीज़ पैदा हो जायेगी। असद्वाद न केवल बौद्धकाल में वरन् वर्तमानकाल में भी समाजशास्त्र के अन्दर बड़ा भयंकर रूप लेकर आया है। विचार की कसौटी पर कसने से यह सिद्धान्त बिल्कुल ग़लत सिद्ध होता है। यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती तो जिस समय समाजव्यवस्था में कुछ भी नहीं था, मनुष्य जंगल में था उस समय उसमें से अपने आप उन्नत समाज की उत्पत्ति हो जानी चाहिये थी क्योंकि उस समय में तो अभाव था ही ! जंगल में रहने वाले व्यक्तियों में समाज-व्यवस्था का अभाव है इसलिये उसमें से उन्नत समाज सीधा आ जाना चाहिये। भिन्न-भिन्न रूपों में से समाज को क्यों निकलना पड़ा? ठीक इसी प्रकार यदि कहते हो कि बीज के नष्ट होने से ही अंकुर उत्पन्न होता है तो बीजनाश का सीधा-सा प्रकार है कि हम उस बीज को आग में जला देते हैं, अब तुम उससे अंकुर की उत्पत्ति करके दिखाओ ! इसलिये बीजनाश अंकुर की उत्पत्ति के प्रति कारण नहीं है क्योंकि बीजनाश तो कई प्रकार से किया जा सकता है। वस्तुतः बीज के अन्दर जो छोटे-छोटे अवयव हैं वे स्वयं ही अंकुर के आकार में परिणत होते हैं। खाद जल इत्यादि को ग्रहण करते हुए उस बीज के वे ही अंशविशेष आगे अंकुररूप में बन जाते हैं। इसीलिये आम के बीज से आम का ही अंकुर पैदा होता है, अशोक का उत्पन्न नहीं होता। अन्यथा बीज का नाश तो दोनों में एक जैसा है, जैसे आम के बीज का नाश वैसे ही अशोक के बीज का नाश। आम के बीजनाश से अपने आप ही अशोक का

पेड़ भी पैदा हो जाया करे, लेकिन नहीं होता है। मनुष्य के शुक्रनाश से मनुष्य ही पैदा होता है घोड़ा गधा तो पैदा नहीं हो जाता। यदि नाशमात्र या अभावमात्र को कारण मानोगे तो बीजनाश सर्वत्र एकरूप है इसलिये उससे उत्पन्न होने वाला पदार्थों का भेद भी सिद्ध नहीं होगा।

ठीक इसी प्रकार भिन्न-भिन्न समाजों के अन्दर परिवर्तन उस समाज के नियमों के अनुरूप ही आता है। उस समाज के अवयव-संस्थानों के अनुसार ही उनमें परिवर्तन आता है। जिस जाति का समाज पूर्व में था उसी जाति का समाज आगे आता है। एक मोटा दृष्टांत है : भारतवर्ष में ईसाई आये। केरल, गोवा आदि में उनके धर्म का प्रचार अधिक हुआ। ईसाई वर्णव्यवस्था को नहीं जानते। उनके देश में वर्णव्यवस्था नहीं है। उन्होंने यहाँ के लोगों को ईसाई बना लिया। ईसाई बन जाने से उनके अन्दर वर्णव्यवस्था खत्म हो जानी चाहिये। लेकिन कभी गोवा, मलाबार में चले जाओ तो वहाँ आज भी ब्राह्मण ईसाई अब्राह्मण ईसाई से ब्याह नहीं करता ! कारण यह है कि ईसाई बनने पर भी 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह अवयवसंस्थान नहीं जाता। मुसलमान छूआछूत को अरब देश में नहीं जानते लेकिन वहाँ भी शेख मुसलमान कभी भी भिश्ती मुसलमान के हाथ से खाता-पीता नहीं। यह इसलिये कहते हैं कि बड़ी सरलता से लोग कह देते हैं कि यदि धर्म बदल देंगे तो सब एक हो जायेंगे। वह नहीं होने वाला है। आज लोग खूब जोर-शोर से अन्य व्यवस्थाओं का प्रतिपादन करते रहते हैं कि खाने-पीने में, शादी-ब्याह में जातपांत मत मानो। वे जब वोट मांगने जाते हैं और चुनाव में खड़े होते हैं तो देखते हैं कि मेरी

जाति वाले इतने व्यक्ति मुझे वोट देंगे। खाने-पीने में जाति मिटाओ लेकिन वोट में जाति बनाये रखो ! इसलिये किसी भी समाज-व्यवस्था के अन्दर परिवर्तन उस व्यवस्था के अवयवों को लेकर ही होता है, सर्वथा अन्य तरह का परिवर्तन नहीं होता। इसलिये यह जो मान्यता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है यह न पदार्थों के व्यवहार में संभव है और न समाज के व्यवहार में ही सम्भव है। इसलिये बीजांकुर का जो दृष्टांत दिया जाता है वह भी ठीक नहीं है।

इतना ही नहीं, हमेशा कारण का कार्य में अनुवर्तन रहता है। कारण मिट्टी से उत्पन्न होने वाला कार्य घड़ा है। उस घड़े में मिट्टी का अनुवर्तन रहेगा। मिट्टी से बनने वाला घड़ा स्वर्णकलश नहीं होगा, मिट्टी का ही होगा। सोने से बनने वाला कलश स्वर्णकलश ही होगा, चाँदी का कलश नहीं होगा। इसलिये कारण का अनुवर्तन कार्य में अवश्य रहता है। बहुत साल पहले हमें एक आदमी ने एक कपड़ा दिया और कहा कि 'यह कपड़ा बहुत बढ़िया है आप ज़रूर पहनियेगा।' हमें भी कपड़ा अच्छा लगा। हमने महात्मा से कहा कि 'इसे रंग दो।' दूसरे दिन रंगकर लाया तो बड़ा भद्दा-सा रंग उस पर आया। कहीं रंग चढ़ा, कहीं नहीं चढ़ा। हमने महात्मा को डाँटा कि 'अच्छी तरह नहीं रंगा।' उसने कहा कि 'पाँच-छः बार कोशिश की लेकिन ऐसा ही आता है।' हमने कहा कि फिर तो यह कपड़ा ही खराब है, केवल देखने में अच्छा निकला। वहाँ कपड़े का एक व्यापारी बैठा था। उसने देखकर कहा कि 'यह टैरीकाट है, इसमें दो जाति के धागे हैं। कुछ धागे टैरीलीन की जाति के और कुछ रूई की जाति के हैं। आपने गेरू लगाया तो

रूई ने उसे पकड़ लिया, दूसरे ने छोड़ दिया।' हमने कहा कि लोग इसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं लेकिन हमारे लिये तो यह बिल्कुल बेकार निकला। यदि तुमने टैरीलीन और रूई को मिलाकर भी वस्त्र बनाया तो अपनी-अपनी जाति का अनुवर्तन हो गया। टैरीलीन पर सूती रंग नहीं चढ़ता तो कपड़े रूप में जाकर भी नहीं ही चढ़ेगा। इसी प्रकार यदि असत्, नहीं है, से जगत् उत्पन्न हुआ होता तो सब जगह 'नहीं है' का अनुवर्तन होना चाहिये था। लोग आपस में बात करते हुए कहते कि 'आज घड़ा नहीं है', उसका मतलब होता 'घड़ा है' ! जिसको आजकल हम लोग 'है' कहते हैं वह 'नहीं है' होता ! लेकिन अनुभव में अनुवर्तन सत् का तो होता है जैसे 'घड़ा है, कपड़ा है' इत्यादि; 'नहीं है' का अनुवर्तन नहीं होता। इसलिये असत् जगत् का कारण नहीं बनता।

दृष्टांत भी नहीं मिलता। जिसको दृष्टांत कहते हो, बीज से अंकुर की तरह, वह भी केवल दृष्टांताभास निकला। कोशाओं तक समझ लेना। विज्ञानदृष्टि वाले कहेंगे कि बीज के संस्थानों का क्या मतलब ? क्रोमोसोम्स तक भी तो संस्थान ही हैं। वे भी उसके अवयव ही हुए। उन्हीं अवयवों से आगे उत्पत्ति होती है। इसलिये विज्ञान की दृष्टि से अवयवसंस्थान में क्रोमोसोम्स तक समझने पर भी सिद्धान्त की कोई हानि नहीं। क्रोमोसोम्स तक भी नष्ट होकर कुछ पैदा नहीं होता है। इसलिये वे जो दृष्टांत मानते हैं वह भी सच्चा नहीं, दृष्टांताभास निकला।

न शब्द में 'नहीं है'की अनुवृत्ति मिलती है और न प्रतीति में 'नहीं है' की अनुवृत्ति मिलती है। दोनों में असत्की अनुवृत्ति नहीं है। 'मिट्टी का घड़ा, सोने का कलश, रूई का कपड़ा'—शब्द

में भी अनुवृत्ति है; और हमको वहाँ जो दीख रहा है या अनुभव हो रहा है उसमें भी अनुवृत्ति है अर्थात् अनुभव भी मिट्टी, सोने, रूई का हो रहा है। जगत् के अन्दर शब्द में भी 'है' की अनुवृत्ति है, शब्द भी सब 'है' बोलते हैं और प्रतीति भी सबको यही होती है कि घड़ा है, कपड़ा है इत्यादि। 'घड़ा नहीं है'—यह प्रतीति नहीं है।

व्यवहार-योग्यता में भी भेद है। घड़े को बनाने के लिये तुम मिट्टी को ग्रहण करने जाते हो, उपादेय-बुद्धि मिट्टी में होती है। क्या ऐसा भी व्यवहार होता है कि घड़ा बनाना है इसलिये मिट्टी का अभाव लाओ ? इसी प्रकार सोने का कलश या रूई का कपड़ा बनाना होता है तो सोने और रूई के भाव की, न कि अभाव की प्रतीति होती है। इसलिये उपादानता की दृष्टि से भी, व्यवहार-दृष्टि से भाव में ही प्रवृत्ति होती है, अभाव में उपादेय-बुद्धि नहीं होती। न दृष्टांत मिलता है, न व्यवहारयोग्यता मिलती है, न शब्द-प्रतीति की अनुवृत्ति मिलती है, न श्रुति मिलती है। इतने पर भी यदि कोई असत् को जगत् का कारण मानता है तो अविचार की ही सीमा है। सिवाय अविचार के इसका और कोई कारण नहीं। अविचार हमेशा अज्ञानजन्य होता है और अज्ञान ही सब दुःखों का कारण है।

संसार के अन्य मतमतांतरों और अपने सनातन धर्म में यह प्रमुख भेद है। हम लोग, चाहे नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा किसी भी सिद्धांत को मानने वाला हो, सभी मानते हैं कि सारे दुःखों का बीज कारण अविद्या या अज्ञान है। इस विषय में किसी भी आस्तिक दर्शन का मतभेद नहीं है। और सनातन

धर्म से अतिरिक्त लोग सभी दुःखों का कारण केवल कुछ मान्यताओं को न मानना मानते हैं। ज्ञान को तो उलटा वे बुरी चीज़ मानते हैं इसलिये उसका वे विरोध करते हैं। ईसाई, मुसलमान, यहूदी सबका कहना ही यह है कि मनुष्य का पतन तब शुरू हुआ जब उसने ज्ञान प्राप्त करना शुरू किया। उनकी सृष्टिप्रक्रिया की कहानी ही यह है कि आदम और ईव नंगे रहा करते थे। उन्हें पता नहीं था कि नंगे घूमना बुरा है और उनका जो गॉड या अल्लाह था उसने उनसे कह रखा था कि ज्ञान का फल कभी नहीं चख लेना। एक दिन उन्होंने ज्ञान का फल चख लिया तो उन्हें पता लगा कि इतनी बड़ी उमर में आदमी औरत का नंगे घूमना ठीक नहीं। जब उनके ईश्वर ने देखा कि उन्होंने अपने शरीर पर शरम के मारे लंगोटी लगा ली है तो उन्हें वहाँ से हटा दिया कि 'हमने तुमसे अज्ञानी बने रहने को कहा था, तुम ज्ञानी क्यों बन गये ?' उनकी सृष्टिप्रक्रिया ही यहाँ से शुरू होती है कि मनुष्य के पतन का कारण ज्ञान है।

लेकिन अपने यहाँ चाहे जितने मतभेद आस्तिक दर्शनों में हों, अज्ञान ही दुःख का कारण है इसमें हम लोगों को किंचित् संदेह नहीं है। अज्ञान तभी तक रहता है जब तक मनुष्य विचार नहीं करता। जब तक मनुष्य विचार की विद्यमानता नहीं लाता अर्थात् विचार में प्रवृत्ति नहीं करता बस तभी तक अज्ञान है और तभी तक उसका बंधन भी है। 'अविचारकृतो बंधः विचारेण निवर्तते।' विचार में प्रवृत्ति होते ही झट सच्ची बात का पता लग जाता है।

एक गाँव में ब्राह्मण और क्षत्रिय दो मित्र रहा करते थे। दोनों

में बड़ी मित्रता थी। प्राचीन काल में हर-एक गली में बाजार नहीं हुआ करता था। इसलिये भिन्न-भिन्न स्थलों के अन्दर महीने में या हफ्ते में एक दिन बाजार आया करता था। आजकल के लोगों को 'बाजार आना' समझ में ही नहीं आयेगा। वे समझेंगे कि हमारी मोटर बाजार के सामने आई, लेकिन तब बाजार खुद चलकर आया करता था। उस गाँव में थोड़ी दूर पर ही कहीं बाजार आया हुआ था। इसलिये वे लोग वहाँ सौदा खरीदने गये। सौदा खरीदने में देर हो गई। जहाँ बाजार हुआ करता था वहाँ बच्चों के लिये कुछ खेल-तमाशा भी रहा करता था, उन लोगों को भी यह सब खेल-तमाशा देखने में देर हो गई। लौटते हुए अंधेरा हो गया। जब जंगल में से निकले तब अकस्मात् उनको वहाँ दूर एक भूत दिखाई दिया; बड़ी-बड़ी लाल-लाल चमकती आँखें, बड़े-बड़े दाँत निकले हुए, भुजाओं को चौड़े किये हुए दौड़कर आता हुआ दिखाई दिया। उन बेचारों के होश गुम हो गये। लोग बातें तो बहुत करते हैं कि भूतप्रेत नहीं मानते, लेकिन जब दीखता है तब छक्के छूट जाते हैं ! जब तक न दीखे तभी तक ठीक है। भय के मारे वे लोग सोचने लगे कि किधर भागें, क्या करें, कैसे जान बचायें। दोनों काँपने लगे, शरीर से पसीना छूटने लगा। मुँह से बोलना असंभव हो गया, घिग्घी बँध गई। भय होना स्वाभाविक था। मन-ही-मन उन्हें अपने पुत्र, स्त्री की स्मृति आने लगी कि उन बेचारों के लिये सौदा लाये वह भी यहीं रह जायेगा और उन्हें अंतिम समय में देख भी नहीं पायेंगे ! लेकिन कुछ उपाय नहीं है।

ब्राह्मण तो डरकर अपना मुँह दोनों घुटनों में दबाकर वहीं बैठ गया कि अब तो मरना ही है। क्षत्रिय को थोड़ी देर में हिम्मत

आई। सोचा कि जब मरना ही है तो लड़कर मरना चाहिये, कुछ करना तो चाहिये। क्षत्रिय का साहस ही स्वरूप हुआ करता है। उसने निश्चय कर लिया कि कम-से-कम यदि लड़ते हुए मरेंगे तो शास्त्र यही कहता है कि सद्गति होती है। वह ब्राह्मण से कहने लगा कि डरने से कुछ नहीं होगा, लेकिन पंडित जी के मुख से तो आवाज ही नहीं निकली, उनकी तो घिग्घी बंध गई थी। क्षत्रिय ने कुछ बड़े-बड़े पत्थर उठाये और मारने लगा। पंडित जी ने कहा कि 'तुम्हारे पत्थर मारने से कुछ नहीं होगा।' वह कहने लगा कि 'फिर आप ही कुछ उपाय करो, हनुमान् जी, भैरव जी को मनाओ। मैं अपनी विद्या से लड़ता हूँ, आप अपनी विद्या का प्रयोग करो।' ब्राह्मण ने सोचा—यह तो ठीक है। यह तो मैं अपना नीचा मुँह किये भी कर सकता हूँ। झट गले से माला निकाली, मुँह ऊँचा नहीं किया। जो उनका इष्ट था, उसी का मंत्रजप करना शुरू किया।

क्षत्रिय ने देखा कि पत्थर की मार होने पर भी वह तो वहाँ का वहाँ ही खड़ा हुआ है। उसे कुछ और हिम्मत आई। ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने भी लगा। यह सब करने में थोड़ा समय बीता। तब तक चन्द्रमा के उदय का समय हो गया, कुछ-कुछ रोशनी होने लगी। वह क्षत्रिय देखने लगा कि अब भी वह आगे नहीं बढ़ रहा था और पीछे भी नहीं भाग रहा था, वहाँ का वहाँ स्थिर खड़ा था। चेतन पदार्थ में स्थिरता नहीं हुआ करती। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि यदि चेतन भी घड़े की तरह ऐसा का ऐसा स्थिर भाव से बिना बदले हुए रहता, तो उसे चेतन जाति का कौन कहता! चेतन का तो स्पंदन ही धर्म है, बिना स्पंदन

हुए चेतन नहीं रह सकता। साधारणतः भी जब किसी को कोई घोर बीमारी हो तो लोग देखते हैं कि इसकी नाडी स्पंदन कर रही है या नहीं। जब तक स्पंदन कर रही हो तब तक व्यक्ति जीवित है और यदि स्पंदन बन्द हो गया तो कहते हैं कि 'शांत हो गया', अशांति ख़त्म हो गई चूँकि चेतन यहाँ से चला गया। आजकल के लोग नाडी न देखकर हृदय की गति देखते हैं। वहाँ भी तो स्पंद ही है। जड-चेतन के अन्दर यही फरक है।

जब क्षत्रिय ने देखा कि वह अपनी स्थिति को किसी भी प्रकार से बदल ही नहीं रहा है तो उसके मन में संदेह होने लगा कि कहीं यह कुछ और तो नहीं ? ज़रा हिम्मत तो आई, लेकिन डर अभी बना हुआ था। पंडित जी से कहा कि ज़रा और आगे चलें। उन्होंने हाथ से इशारा किया कि यहाँ जान आफत में है, आगे कहाँ से चलें ! क्षत्रिय ने अपना अनुभव उसे बताया कि ऐसा-ऐसा दीख रहा है, तो पंडित जी ने भी सिर ऊँचा करके देखा। बात उन्हें भी कुछ जँची। लेकिन कहने लगे कि 'मैं तो जप कर रहा हूँ, यहीं बैठा रहूँगा, तू आगे जा।' क्षत्रिय जाते हुए कहने लगा कि 'मंत्र जपना मत छोड़ना।' तब तक चंद्रमा का पूर्ण उदय होकर प्रकाश और स्पष्ट हो गया था। थोड़ी दूर आगे जाकर देखा तो पता चला कि वह एक ठूँठ है ! उसकी दोनों डालें कटी हुई हाथों की तरह दीख रही थीं। सूखे वृक्ष के अंदर बने हुए कोटर आँखों की तरह दीख रहे थे और कोटर के पास जो तने निकले हुए थे वे बड़े-बड़े दाँतों की तरह दीख रहे थे। वह वहीं से चिल्लाया— 'पंडित जी ! यह पेड़ है, आ जाओ।' पंडित जी भी पहुँच गये। दोनों आश्चर्य से देखने लगे कि इसने खूब डराया। लेकिन अब

अज्ञान नष्ट हो गया था इसलिये अब उस भूत को चारों तरफ देखने पर भी वह भूत कुछ नुक्सान नहीं पहुँचा रहा था।

जैसे ये लोग थे वैसे ही यह शरीररूप ग्राम है। शास्त्रों में इसे पुरी नाम से कहा है 'पुरम् एकादशद्वारम्', 'नवद्वारे पुरे देही' आदि से इस शरीर को ही नौ या ग्यारह द्वारों वाला पुर बताया है। इसलिये यह शरीर भी एक गाँव है। इसके अन्दर ब्राह्मण ज्ञानशक्ति और क्षत्रिय क्रियाशक्ति दोनों हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा कुछ जाना और तदनुकूल कर्मेन्द्रियों के द्वारा कुछ किया; कर्मेन्द्रियों के द्वारा कुछ किया तो कुछ ज्ञान बढ़ा। किसी भी चीज़ से कुछ करने से ही उसका ज्ञान बढ़ता है। पाक-शास्त्र की चाहे जितनी पुस्तकें पढ़ लो, चाहे नलपाक का अध्ययन कर लो अथवा आधुनिक जमाने में 'कुकबुक्स' पढ़ लो, लेकिन सब पढ़कर भी भोजन बनाओगे तो खाने लायक नहीं बनने वाला है ! सोचो कि 'इतना पढ़ लिया इसलिये पहली बार ही अत्यंत स्वादिष्ट पिन्नी बन जायेगी' तो बननी नहीं। वह केवल तुम ही खाओगे या एक जना और यानी तुम्हारा पति खायेगा, क्योंकि उसकी यह कहने की हिम्मत ही नहीं पड़ेगी कि खराब बनी है ! लड़के ज़रूर कह देंगे कि खराब बनी है। लेकिन जब बार-बार बनाने का अभ्यास करते चले जाओगे तब तुम ही विशेषज्ञ बन जाओगे। इसलिये जितनी-जितनी क्रिया करोगे उतना-ही-उतना ज्ञान विस्तृत होगा और जितना-जितना ज्ञान विस्तृत करते जाओगे उतनी-ही-उतनी तुम्हारी क्रिया भी ठीक होती चली जायेगी। इसलिये ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों मित्र हैं।

दोनों ही इस गाँव से बाहर जगत् के अन्दर बाजार करने आये

हुए हैं। आँख-कान आदि के द्वारा ज्ञान-शक्ति बाहर जाकर अपना-अपना सौदा रूप, शब्द आदि खरीदती हैं; वाक्, पाणि, पाद आदि अपना काम करते हैं। बाहर जगत् है इसीलिये ये सब कुछ करेंगे। बाहर जगत् नहीं होगा तो तुम्हारे हाथ-पैर क्या करेंगे ? कोई जगह होगी तब चलोगे, कोई चीज़ होगी तब पकड़ोगे। यह ज्ञान-क्रिया-शक्तिरूप ब्राह्मण-क्षत्रिय का बाहर आना है। शरीर-रूपी गाँव से बाहर आकर सौदा खरीदते हुए अंधेरा हो जाता है अर्थात् इस जगत् के अन्दर व्यवहार करते हुए जो अपना स्वस्वरूप है वह ढँक जाता है। रात-दिन बाह्य व्यवहार करते हुए बाहर की चीज़ों का तो खूब स्पष्ट ज्ञान है लेकिन 'मैं कौन हूँ' यह पूछो तो जवाब नदारद है। कुछ लोग तो कह भी देते हैं कि 'ये बेकार की बातें क्यों सोचते हो, कहीं जाकर पैसा कमाओ, नौकरी करो। क्या वेदांतविचार में लगे हुए हो ! इससे क्या होना है ?' स्वयं अपने को भूल जाते हैं। इतना भूल जाते हैं कि 'मैं अपने बारे में जानूँ' यह इच्छा तक ख़त्म हो जाती है। यही अंधेरा हो जाना है।

जब अपने आत्मस्वरूप को भूले, अज्ञान हुआ तो बाहर का जगत् स्थाणुमें भूत की तरह लगता है। भगवान् शंकर को भी स्थाणु कहते हैं। है तो यह सारा संसार शिवरूप लेकिन दीखता भयानक है। सभी जानते हो कि कभी सेल्सटेक्स अफसर का रूप धारण करके आता है तो कभी आयकर अधिकारी का। ये सब रूप शिव ही धारण करके आ रहा है लेकिन तुम्हें वहाँ भूत दिखाई दे रहा है। कभी क्रोध का रूप, कभी भूख और प्यास का रूप धारण करके आता है। इन सब रूपों को धारण करने वाला शिव

ही है। कभी चोर और डकैत का तो कभी ठग का रूप धारण करके आता है। रुद्राध्याय में जब 'वंचते परिवंचते' पाठ आता है तो पंडित लोग भी बड़ी जल्दी-जल्दी पाठ करते हैं क्योंकि उस रूप से घबराते हैं लेकिन 'नमः शंभवाय च' तक पहुँचते-पहुँचते बड़ी शांति से पाठ होता है ! लेकिन शिवस्वरूप सब एक-जैसा ही है। जो वंचक वही शंकर है। है तो वह स्थाणु—शिवरूप, लेकिन दीख इन सब भयंकर रूपों में रहा है। इसलिये ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों स्तब्ध हो जाती हैं। स्तब्ध होने पर क्या करें, क्या न करें कुछ समझ में नहीं आता।

जब मनुष्य संसार के अन्दर घबराने लगता है तब उसके मन में प्रश्न उठता है कि अब अपना विचार करो। जन्मभर अर्जुन के मन में कहाँ कोई प्रश्न आया, जबकि हमेशा भगवान् के साथ रहता था ! कभी भी पूछ लेता कि 'तत्त्व का उपदेश करो' और भगवान् कर देते। लेकिन जब युद्ध में हाथ-पैर ढीले पड़ने लगे, घिग्घी बंध गई तब कहा—'शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं'—मैं आपका शिष्य बनता हूँ, मुझे श्रेयस्कर बात का उपदेश करो। इसी प्रकार जब मनुष्य की ज्ञान और क्रिया शक्ति भयभीत रहती है, पौनःपुन्येन दुःख का अनुभव करके स्तब्ध हो जाती है, तब जिज्ञासा उत्पन्न होती है जिसे मिटाने के लिये दोनों अपने कार्य में लगती हैं। क्रियाशक्ति के द्वारा शुभ कर्मों में लगना पड़ेगा क्योंकि उसी के द्वारा अशुभ का क्षय होता है। ज्ञानशक्ति के द्वारा अपने इष्ट के ध्यान में, उपासना में लगना पड़ेगा। जब कर्म और उपासना ठीक प्रकार की होने लग गई तब शुद्ध मनरूप चंद्रमा का उदय होता है। जैसे ही शुद्ध मन-रूप चन्द्रमा का उदय हुआ

वैसे ही पता लगने लगा कि इस संसार में कोई गति तो है ही नहीं, न यह संसार कभी हमारे ऊपर उछलकर आता है। यह तो जहाँ है वहाँ का वहाँ है। यह तो जड है, बेकार ही हम इससे डर रहे थे। फिर हिम्मत खुलती है। अंततोगत्वा पूर्ण चन्द्रोदय होने पर पता लगता है कि जिसे हम भयानक संसार समझ रहे थे वह केवल शिवरूप था, स्थाणुरूप था। जहाँ यह ज्ञान हुआ वहाँ काम बन गया। अज्ञान का कारण अविचार है। अज्ञान है तो अनादि, लेकिन अविचार के कारण ही बना रहता है। जहाँ इसका विचार करने लगे, यह मिटने लगता है। विचार का प्रारंभ ब्राह्म तथा क्षात्र शक्ति अर्थात् कर्म और उपासना से है। इस प्रकार विचार करने पर जगत् का स्वरूप शिवरूप समझ में आया तो यह भ्रम निवृत्त हो जाता है कि जगत् का कारण असत् है। वरन् अब निश्चय होगा कि जगत् का कारण तो एकमात्र शिव ही है। इसलिये श्रुति कहती है 'नासदासीत्' उस समय असत् नहीं था।

प्रवचन—३

असत् कभी किसी का कारण नहीं हो सकता फिर भी स्वाभाविक रूप से मनुष्य को सृष्टि की पूर्वकारणता में असत् की प्रतीति हो ही जाती है। इसलिये यह उसका प्रथम अनुभव है। अब, यदि वहाँ असत् अर्थात् कुछ नहीं था ऐसा नहीं तो कुछ होगा ?—इसकी प्राप्त होगी। सत् अर्थात् भेदक, एक चीज़ को दूसरी चीज़ से अलग करने वाली चीज़ भेदक होती है। 'नो सदासीत्' में भाष्यकार ने इसलिये कहा कि सत् का मतलब यहाँ भेदक समझना। उस अखण्ड परब्रह्म परमात्मा में भेद करने वाला और कुछ था ऐसा नहीं समझ लेना। यहाँ सत् का मतलब सच्चिदानंद ब्रह्म वाला सत् नहीं समझना क्योंकि उसको तो आगे 'न मृत्युरासीद्' से कहेंगे। यहाँ सत् का मतलब है कि उस सद्रूप ब्रह्म से भिन्न और कुछ सत् अर्थात् भेदक, भेद करने वाला वहाँ कुछ नहीं था।

जगत् की कारणताओं का विचार करते हुए कुछ लोग परमाणुवाद को मानते हैं। कणाद और गौतम के अनुयायी नैयायिक और वैशेषिक जगत् का कारण परमाणुओं को मानते

हैं। जैसे ही कहा जाता है कि 'असत् न आसीत्' तो वे कहते हैं कि इसलिये वहाँ परमाणु थे। जैसा जगत् हमको प्रतीत होता है वहाँ वैसा तो नहीं था लेकिन परमाणु रूप से था। गंध के परमाणु-रूप से पृथ्वी, रस के परमाणुरूप से जल, तेज के परमाणुरूप से अग्नि आदि सब वहाँ थे। इसलिये श्रुति ने निषेध किया कि 'सदपि न आसीत्' वहाँ परमाणु इत्यादि भी नहीं थे। जिन नित्य पदार्थों को, आकाश, काल, दिक् को मानते हो, वे भी वहाँ नहीं थे क्योंकि ये सब भेदक प्रत्यय हैं। काल भी सीमावान् है, भेद करता है। जैसे आज का समाज सत्ययुग का समाज नहीं है—यह कालकृत भेदक प्रत्यय है। इसी प्रकार उत्तर भारत और दक्षिण भारत को एक नहीं समझ लेना, यह दिक्कृत भेद है। जैसे काल दिक् इत्यादियों को जगत् का कारण मान लिया जाता है इसी प्रकार जिन परमाणुओं को जगत् का कारण मान लिया जाता है, वे भी वहाँ नहीं थे। अथवा सांख्य और योग के आचार्य कपिल और पतंजलि प्रकृति को वहाँ मान लेते हैं कि सृष्टि से पहले प्रकृति थी। प्रकृति भी भेद वाली है। उसमें भी तो सत्त्व, रज और तमोगुण—तीन भेद करने वाली चीज़ें हैं। इसलिये उसका भी निषेध है कि प्रकृति भी वहाँ नहीं थी। जैसे परमाणु इत्यादि भेदों को मानने वाले कुछ लोग, उसी प्रकार प्रकृति को मानने वाले कुछ अन्य लोग; वे भी कहते हैं कि वहाँ असत् नहीं था लेकिन वहाँ त्रिगुणात्मिका प्रकृति तो थी। उसका भी निषेध कर दिया कि वह भी नहीं थी।

कर्मवादी कहता है कि यह सब कुछ नहीं था लेकिन पुण्य-अपुण्य कर्म तो थे, नहीं तो आगे सृष्टि में प्रवत्ति कहाँ से होती?

इसलिये यह तो मान लो कि अपने-अपने कर्मफल वहाँ थे। लेकिन कर्म भी तो भेदक वस्तु ही है। पुण्य अलग, पाप अलग, पुण्यों के भेद और पापों के भेद अलग और पुण्य व पाप जिसके, वे व्यक्ति भी अलग; ये सभी भेदक प्रत्यय हैं। इसलिये श्रुति कह रही है कि सृष्टि के पहले पुण्य-पाप आदि कर्म भी नहीं थे। परमाणु, गुण, कर्म—किसी प्रकार का भेद वहाँ नहीं था। कुछ लोग कहते हैं कि पुण्य-पाप कर्म नहीं होंगे तो भी संस्कार तो होंगे। किंतु संस्कार भी तो भेदक प्रत्यय हैं। इसलिये संस्कार भी नहीं थे। संस्कार रहेंगे किसमें ? संस्कार अंतःकरण या मन में ही तो रहेंगे। जब मन ही नहीं तो संस्कारों का आश्रय ही नहीं रहा। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि पंचमहाभूतों को मान लो क्योंकि ये तो सूक्ष्म रूप से जरूर रहे होंगे अन्यथा उत्पत्ति कैसे बनेगी ? 'तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशस्संभूतः' से उपनिषद् ने इसका भी निषेध कर दिया। यदि ये पहले से होते तो फिर आगे सृष्टि काहे की होती ?

इन सब मान्यताओं में एक सबसे बड़ी भूल यह है कि उनके अनुसार सोचने वाले परमेश्वर को पूरी तरह से सृष्टि करने वाला नहीं मानना चाहते। क्योंकि यदि परमात्मा से अतिरिक्त सृष्टि से पहले कुछ था तो वह चीज़ परमात्मा ने नहीं ही बनाई, चूँकि वह पहले मौजूद थी। तो परमात्मा सबका वास्तविक स्रष्टा कैसे होगा ? श्रुति कहती है कि वहाँ कुछ नहीं था ऐसा नहीं, लेकिन परमाणु इत्यादि रूप से जो जगत् के कारण माने जाते हैं वे सब कुछ नहीं थे। जैसे अभाव का निषेध किया गया वैसे ही सभी भाव पदार्थों का भी निषेध ही है। यदि ये सब होते तो फिर प्रलय

किसका हुआ ? परमाणु, प्रकृति इत्यादि वहाँ रह गये तो सारा संसार मौजूद ही रहा।

जैसे इन सबका निषेध किया वैसे ही सत् और असत् के निषेध के द्वारा वेदांत के अन्दर ही कुछ भेद और कुछ अभेद दोनों को मानने वाले पक्ष का भी यहाँ निराकरण है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वहाँ था तो केवल परमात्मा ही 'सदेव सौम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' वेदांत की इस बात को तो मान लेते हैं, लेकिन वे ऐसा मानते हैं कि उस परमात्मा में स्वगत कुछ भेद रहता है। परमात्मा से अलग तो कुछ नहीं है लेकिन परमात्मा में कुछ-न-कुछ भेद ज़रूर है। तभी आगे भेद वाली सृष्टि बनी। यह इसलिये क्योंकि मन में खुजली चलती है कि यदि परमात्मा एक अखण्ड चिन्मात्र था तो संसार के भेद कहाँ से निकल आये ? यदि सृष्टिकाल में कुछ भी भेदक नहीं था तो एक पापी और एक पुण्यात्मा, एक इन्द्र और एक मकोड़ा निकल कहाँ से आये ? इस भेद का कारण मनुष्य का सबसे बड़ा अहम् है। परमात्मा परम स्वतंत्र है, सर्वथा अपरतंत्र है, इस बात को जीव स्वीकार नहीं करना चाहता, इसलिये परमेश्वर भी किसी प्रकार हमारी बुद्धि में आने वाले नियम के अनुसार चले—यह बुद्धि की खाज है जो धीरे-धीरे मिटती है लेकिन विचार करने पर मिटती जरूर है।

जैसे हम तुमसे पूछें 'क्या आज रात में तुमने कोई स्वप्न देखा था ?' तुम कहो 'यह स्वप्न देखा था कि हम दस ब्राह्मण गंगा-स्नान करके आ रहे थे। आजकल के जमाने में कई लोग अक्खड़ हो गये हैं, उन्होंने अशुद्ध रहते हुए हमें छू दिया इसलिये हम फिर

नहाने गये।' आगे हम तुमसे पूछें 'तुमने बाकी सबको ब्राह्मण बनाया तो एक को वैसा बदतमीज़ बना क्यों दिया, सबको एक जैसा ब्राह्मण ही बनाते !' तुम यही जवाब दोगे 'हमें पता नहीं, हमने जानकर नहीं बनाया।' अर्थात् अज्ञान से बनाया—यह सीधी बात कहो। तुम्हारी बात हम भी मानते हैं, लेकिन क्या तुम्हारे सिवाय कोई स्वतंत्र पदार्थ वहाँ है ? वह अज्ञान तो तुम्हारे साथ ही है। अज्ञान कोई स्वतंत्र पदार्थ तो है नहीं कि वह बनाये। बनाया तुमने, बिना जानकर ही बनाया, यह ठीक है। इसी प्रकार परमेश्वर ने भी ये सारे भेद अज्ञान से बनाये, लेकिन बनाने वाला स्वतंत्र कारण वही है। बना यह सारा भेद अज्ञान से ही है, और कोई इसमें कारण नहीं है।

वेदांती जिस माया को कारण बताता है वह सांख्यों की प्रकृति की तरह कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। अज्ञानविशिष्ट आत्मा या अज्ञात आत्मा अथवा आत्मविषयक अज्ञान ही कारण है, इसी को माया कह देते हैं। कई बार लोगों को ऐसी प्रतीति होने लगती है कि सांख्य जिस प्रकृति को मानते हैं उसी को हम लोग माया कह देते होंगे। वेदांत सिद्धान्त में अज्ञानविशिष्ट आत्मा या अज्ञात आत्मा अर्थात् आत्मविषयक अज्ञान ही जगत् का कारण है; प्रकृति की तरह कोई स्वतंत्र चीज़ नहीं है। क्यों ?—यह प्रश्न जहाँ नहीं पूछा जा सकता वह स्थल केवल एक अज्ञान होता है। 'मैं नहीं जानता' इस पर आगे प्रश्न नहीं हो सकता कि क्यों नहीं जानते? यह विचार का नहीं लेकिन अनुभव का विषय है। बुद्धि की खाज मिटाने वाला विषय है ! बुद्धि 'क्यों ?' का जवाब चाहती है। 'क्यों ?' का जवाब तभी तक है जब तक बुद्धि की विषयता अर्थात्

ज्ञात कारण है। यदि तुम किसी बात के लिये कहते हो कि 'मैं जानता हूँ', तभी प्रश्न बनता है कि 'किस रूप में और कैसे जानते हो ?' यदि कहते हो कि 'नहीं जानता' तो प्रश्न भी नहीं बनता कि क्यों और कैसे नहीं जानते ? तुम कहो 'जर्मन जानता हूँ' तो आगे पूछेंगे कि 'कहाँ पढ़ी ?' यदि तुम कहते हो 'मैं जर्मन नहीं जानता' तो प्रश्न नहीं बनता कि कैसे नहीं जानते, कहाँ जाकर नहीं जानते, क्यों नहीं जानते ? कहोगे 'मैं नहीं जानता। कह दिया, फिर माथा क्यों खाते हो !' वेदांतशास्त्र जगत् के कारण को इसीलिये अज्ञान कहता है अर्थात् 'नहीं जानते', इसलिये आगे यह प्रश्न नहीं बनता कि इस अज्ञान के बारे में कुछ बताओ। इसीलिये पंचदशीकार माया को प्रश्नस्वरूपिणी ही कह देते हैं अर्थात् माया स्वयं ही एक प्रश्न है जिसका कोई उत्तर है ही नहीं।

अज्ञान की निवृत्ति होती है यह तो कह सकते हैं। आगे तुम जर्मन कैसे जानोगे इसका उपाय तो बता सकते हैं कि अमुक व्यक्ति से अमुक वर्षों तक का पाठ्यक्रम पढ़ोगे तो सीख जाओगे; लेकिन यह प्रश्न नहीं बनता कि जर्मन क्यों नहीं जानते। इसी प्रकार जगत् और माया की निवृत्ति कैसे हो—इसका उपाय तो बता सकते हैं लेकिन जगत् की कारणता के विषय में अज्ञान की कारणता मानने पर बुद्धि की 'क्यों' की खाज मिट जाती है। तुम पूछते हो कि वह जगत् का कारण क्यों ? वह 'क्यों' ही तो अज्ञान है ! उसी को तो हम जगत् का कारण कह रहे हैं। यद्यपि यह बात सत्य है फिर भी मनुष्य इस भेद का कारण भेदक प्रत्यय वहाँ मानना चाहता है। इसलिये 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयं' श्रुति के बल से जिन्होंने वहाँ एक ब्रह्म को मान

भी लिया वे भी उस ब्रह्म में स्वगत भेद मान लेते हैं। रामानुज आदि वैष्णवाचार्य भी ऐसा ही मानते हैं। वे कहते हैं कि उस ब्रह्म में ही चिद्-अचिद्विशिष्टता है। है तो ब्रह्म एक ही लेकिन उसमें जड और चेतन दोनों बैठे हुए हैं अर्थात् स्वगत भेद वहाँ है। अथवा कुछ लोग मान लेते हैं कि उस ब्रह्म में स्वयं ही विकारिता है अर्थात् विकार बनने की सामर्थ्य है।

आत्मा की विकारिता का परिणाम जब कहते हैं अर्थात् जब कहते हैं कि परमात्मा जगत् रूप में बना तब इसमें कितना विरोध आता है यह वे नहीं सोच पाते। विकार कहाँ होता है ? भगवान् भाष्यकार विकार के तीन पक्ष बताते हैं :

(i) 'पृथिवीद्रव्यवद् अनेकद्रव्यसमाहारस्य सावयवस्य परमात्मन एकदेशपरिणामो विज्ञानात्मा, घटादिवत्।
(ii) पूर्वसंस्थानावस्थस्य वा परस्यैकदेशो विक्रियते, केशोषरादिवत्।
(iii) सर्व एव वा परः परिणमेत्, क्षीरादिवत्।'

(बृ. ३.१.२०)

तीन प्रकार विकार होता है। मिट्टी में अनेक कण हैं, उन कणों को तुमने आकारविशेष दे दिया तो घड़ा बन गया; इसलिये मिट्टी का विकार घड़ा हो गया। इस प्रकार का विकार वहाँ हो सकता है जहाँ अनेक द्रव्य हों, छोटे-छोटे अनेक अवयव हों। अगर परमात्मा को तुम जगत् का इस प्रकार विकारी कारण मानते हो तो परमात्मा में अनेक द्रव्य कहाँ से लाओगे ? परमात्मा तो एक-जैसा है, जैसे आकाश एक-जैसा है। आकाश से तुम घड़ा नहीं बना सकते ! दूसरा प्रकार है ऊषर की तरह एकदेश में विकार। लेकिन पृथ्वी के एक देश में ऊषर है, खेती होने के लायक

नहीं है और दूसरे हिस्से के अन्दर खेती हो सकती है, हरियाली है। इसी प्रकार क्या यह मानोगे कि परमात्मा के एकदेश में विकार होकर सृष्टि बन गई और उसका एकदेश अविकारी बना रहा ? तीसरा पक्ष है कि जैसे सारा ही दूध दही बन जाता है ऐसे ही परमात्मा जगत् बन गया, पीछे कुछ नहीं बचा। ये तीन ही संभावनाएँ हैं।

इसमें प्रथम सम्भावना को नहीं मान सकते क्योंकि वहाँ अनेक द्रव्यता यदि हो गई तो परमात्मा की कारणता ही गई। यदि इन अनेक द्रव्यों को परमात्मरूप कहते हो तो अनेक परमात्मा हो गये! फिर वह परमात्मा ही कहाँ रहा ! वह तो 'जनता पार्टी' की सरकार हो जायेगी ! रोज परस्पर झगड़ा होता रहेगा। यदि कहोगे कि एकदेश-विकारिता है तो परमात्मा में देशभेद मान लेना पड़ेगा और जहाँ देशभेद मानोगे वहाँ सावयवता आ जायेगी और अवयव वाले पदार्थों का एक दिन विनाश भी हो जाता है। जिसके टुकड़े हो सकते हैं उसके टुकड़े होते-होते एक दिन वह खतम भी हो जायेगा। इसलिये सावयव मानने पर विनाशिता की प्राप्ति। और यदि यह मानोगे कि सारा ही परमात्मा जगत् रूप में बन गया तब तो फिर परमात्मा 'न जायते म्रियते' लक्षण वाला नहीं रहा क्योंकि जब प्रलय से सृष्टि हुई तो परमात्मा 'म्रियते' और फिर जब सृष्टि के बाद प्रलय होगी तो वह फिर 'जायते' पैदा हो जायेगा ! इसलिये वहाँ परमात्मा में कोई स्वगत भेद भी नहीं था।

न परमाणु इत्यादि थे जिनसे जगत् को बनाया, न प्रकृति इत्यादि थे जिनसे जगत् को बनाया, न कर्म इत्यादि थे जिनसे जगत्-जीव को बनाया। इसी प्रकार न वहाँ संस्कार और महाभूत

थे और न स्वयं परमात्मा में ही कोई चिदचिद्विशिष्टत्व था। इन सबका निषेध किया। ये सब भावरूप पदार्थ हुए जिन्हें जगत् का कारण माना जाता है। इन सबका निराकरण करके कहा 'नो सदासीत्' यह सब कुछ नहीं था।

यह सब कुछ नहीं था तो फिर जैसे अग्नि से चिन्गारियाँ निकलती हैं ऐसे शायद परमात्मा में से जगत् निकलकर बाहर आ गया हो ? पहले तो वह 'बाहर' ही कहाँ है जहाँ निकलकर आयेगा ? परमात्मा की कहीं सीमा हो तो उससे *बाहर* कुछ आये जैस अग्नि में से चिन्गारी जब फूटकर बाहर आती है तो अग्नि का उतना हिस्सा टूट गया, उसी प्रकार यदि सृष्टि परमात्मा से बाहर आती है तो परमात्मा में क्षतता की प्राप्ति हो जायेगी। अनादि काल से अनंत काल तक जाते-जाते धीरे-धीरे वह परमात्मा भी सर्वथा क्षत हो जायेगा और इस प्रकार के हिस्से जहाँ-जहाँ से निकलेंगे वहाँ-वहाँ भगवान् वासुदेव के शरीर में छिद्रों की प्राप्ति भी हो जायेगी ! लेकिन श्रुति कहती है कि उसमें व्रण हो ही नहीं सफता। इसलिये जगत् के अन्दर किसी प्रकार से परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी दूसरे की भावकारणता भी नहीं और न ही अभावकारणता है। केवल एकमात्र ब्रह्म ही कारण है।

पुराणों के अन्दर देवर्षि नादर की एक कथा बताई है—किसी पूर्व जन्म में नारद किसी ब्राह्मण के घर पैदा हुए थे और उनके अन्दर यज्ञ करने की प्रबल कामना थी। महर्षि, देवर्षि, देवता इत्यादि सभी किसी-न-किसी काल में हम लोगों की तरह सामान्य जीव ही थे जो इस प्रकार विद्या और ज्ञान के बल से ऊँचे-से-ऊँचे पद पर पहुँच जाते हैं। छांदोग्य में जहाँ नारद का वर्णन आता

है वहाँ वे आत्मज्ञान के साधक हैं। यहाँ नारद अभी यज्ञ में लगे हुए हैं। उन्होंने एक बार अजामेध करने का निर्णय किया जिसमें बकरे की बलि दी जाती है। एक बकरे को खरीद कर ले आये। विधि के अनुसार उसका पूजन और उसको खिलाना-पिलाना प्रारंभ कर दिया। आजकल की तरह नहीं कि बाजार से खरीद लाये और दूसरे ही दिन काट दिया। कलकत्ते में तो उसी समय खरीदकर आधे घण्टे में ही काट देते हैं। विधान यह है कि उसे खिला-पिलाकर तगड़ा किया जाता है, उतने समय तक उसके मन की बात पूरी की जाती है और उसकी पूजा-अर्चना भी की जाती है। जैसे अश्वमेध में घोड़े को खुला छोड़ दिया जाता है, जहाँ मर्जी जाये, क्योंकि साल भर बाद बलि करना है। ऐसे ही नारद भी उस बकरे की पूजा करते रहे, उसे खूब खिलाते-पिलाते रहे जिससे वह बकरा तगड़ा हो गया। इतना तगड़ा हो गया कि एक दिन वह अपने बंधन को तोड़कर भाग गया। नारद जी सब जगह उस बकरे को ढूँढ आये लेकिन बकरा कहीं नहीं मिला। अंत में किसी ने उनसे कहा कि 'भगवान् कार्त्तिकेय स्वामी की आराधना करो तो उनकी कृपा से तुम्हें शायद बकरे की प्राप्ति हो जाये।' नारद ने वैसा ही किया। आराधना के फलस्वरूप वह उनके पास पहुँच गये और कहा कि 'मैंने तो अजामेध यज्ञ करना शुरू किया था लेकिन इस प्रकार से मेरा वह बकरा भाग गया। बहुत खोजा लेकिन कहीं मिला नहीं। मेरा प्रारंभ किया हुआ यज्ञ पूर्ण नहीं हो पायेगा। मैंने आपकी आराधना करके सफलता प्राप्त की। आप जैसा मेरा इष्ट रहते हुए मेरा क्रतुभंग हो जाये यह ठीक नहीं। आप ही इसका कोई उपाय करें।'

कार्तिक स्वामी ने उसी समय नारद का काम करने के लिये वीरबाहु नाम के अपने एक गण को बुलाया और कहा कि 'इनका बकरा ढूँढ कर लाओ।' वीरबाहु उनके गणों में महावीर था। वह बकरे को ढूँढने चला। भिन्न-भिन्न देशों में सब जगह ढूँढ आया लेकिन कहीं नहीं मिला। वह तो कार्त्तिक स्वामी का गण था ! आजकल के लोगों का गण होता तो पुलिस की रिपोर्ट होती कि 'अपराधी नहीं पकड़ा गया', इसी से काम पूरा हो जाता है। यह बात कोई साधारण आदमी भी कह सकता है, फिर इतने पैसे देने का क्या फायदा ? लेकिन वह तो कार्त्तिक स्वामी का गण था, जब यहाँ नहीं मिला तो अन्य लोकों में ढूँढने गया। उच्च लोकों में पहुँचा। वहाँ बकरा तो नहीं मिला लेकिन उसकी लीला सुनने में आई कि 'एक बकरा आया था, वह बड़ा भयंकर बकरा था, उसने बड़ा उपद्रव किया, बड़ी मुश्किल से उसे यहाँ से भगाकर हमने अपनी जान बचाई।' कहाँ गया ? किसको पता था ! इस प्रकार जगह-जगह उसे बकरे के चरित्र तो मिले लेकिन बकरा नहीं मिला। अंत में वीरबाहु वैकुण्ठ लोक में पहुँचा तो वहाँ उसे वह बकरा दिखाई दिया। उसने देखा कि वह साधारण बकरा नहीं था, ब्राह्मण ने बढ़िया माल खिलाया था अतः बड़ा जबर्दस्त था। वहाँ भी वह उपद्रव कर रहा था। विष्णु के सामने जाकर भी शांत नहीं हुआ। जो रस्सी वह नारद के घर से तुड़ा कर भागा था वह अभी भी उसके गले में लटक रही थी जिससे वीरबाहु पहचान गया कि यही उसका बकरा है। वीरबाहु ने वहाँ लोगों से कहा कि 'मैं इस बकरे को पकड़ने आया हूँ।' उन्होंने कहा कि 'जरूर पकड़ कर ले जाओ। हम सब लोग इससे परेशान हो गये हैं।'

उसने लपक कर उसके दोनों सींग पकड़ लिये और वहाँ से वह उसे बड़े परिश्रम से खींचकर कार्त्तिक स्वामी के पास ले आया।

वहाँ पहुँचते ही वीरबाहु ने कहा कि अब यह मेरे से नहीं संभाला जाता, आप ही सम्भालना। कार्त्तिक स्वामी ने भी देखा कि यह तो बड़ा जबरा है। वह झट उसके ऊपर बैठ गये ताकि किसी तरह उस पर नियंत्रण आ जाये। लेकिन जैसे ही वह उसपर चढ़े और वीरबाहु ने उसके सींग छोड़े तो वह वहाँ से भगा। उसी के ऊपर कार्त्तिक स्वामी भी भगे जा रहे थे। एक मुहूर्त के अन्दर वह बकरा सारे ब्रह्माण्ड में घूम गया। लेकिन कार्त्तिक स्वामी तो वीरबाहु के भी अधिपति थे ! बैठे रहे तो बैठे ही रहे, बिल्कुल हिले-डुले नहीं, चाहे जितनी तेजी से वह भगा। वह बकरा बेचारा थक गया क्योंकि सारे ब्रह्माण्ड का भार लिये स्वयं कार्त्तिक स्वामी उस पर बैठे थे। वह सब जगह घूम तो आया लेकिन अब उसकी हालत नाजुक हो गई थी।

वापिस आया तो उसे उस भाव में देखकर ब्राह्मण प्रसन्न हुआ कि अब मेरा काम इससे पूरा हो जायेगा। कार्त्तिक स्वामी से कहा—'हे देवेश ! आप कृपा के सागर हैं, यह बकरा मुझे दे दो जिससे मेरा यज्ञ पूर्ण हो जाये और मैं आनन्दपूर्वक अपना अध्वर करूँ।' अध्वर—हिंसा के कर्म को ध्वर कहते हैं अर्थात् किसी को मारने-काटने की क्रिया और अध्वर मायने जहाँ कोई हिंस्र कार्य न हो। इसलिये कार्त्तिक स्वामी ने कहा कि 'जिस बकरे पर में बैठ चुका यह अब वध के योग्य नहीं रहा। अब इसको मारकर यज्ञ करने की तुम्हें ज़रूरत नहीं है।' ब्राह्मण ने आश्चर्यचकित होकर कहा कि 'इसी के लिये तो मैं आया था और

यही आपने मना कर दिया !' कार्त्तिक स्वामी ने कहा कि 'तुम्हें यज्ञ ही तो पूर्ण करना है और मैंने प्रसन्न होकर उसे पूर्ण कर दिया इसलिये यज्ञ का फल तो तुम्हें प्राप्त हो ही जायेगा, उसके लिये इस बकरे को मारने की ज़रूरत नहीं है, उसकी आहुति देने की ज़रूरत नहीं है।' ब्राह्मण भी शांत हो गया क्योंकि उसे भी यही चाहिये था कि यज्ञ का फल मिल जाये। उनकी इस बात को सुनकर प्रसन्न-मन होकर वह भी अपने घर चला गया।

इस कथा के द्वारा पुराणकार किसी रहस्य को ध्वनित कर रहे हैं। सत्-असत्, भाव-अभाव से भिन्न कारणता किसकी होती है ? इसी के निरूपण के लिये यह कथा है। नारद साधक जीव है जो साधना करने वाला है। नारद की व्युत्पत्ति करते हुए शास्त्रकारों ने बताया है 'नारं पानीयं पितृभ्यो ददाति इति नारदः' नार का मलतब जल है जो पीने के योग्य है। अपने पितरों का जो प्रतिदिन जल से तर्पण करता है वही नारद कहा जाता है। जहाँ यह सारा जल रहता है वहीं रहने वाले को नारायण कहते हैं; नार (समुद्र) में रहने वाले नारायण हैं। साधक जीव वह है जिसने अपने कर्मों को सम्यक् प्रकार से किया है और कर रहा है। तभी हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है अन्यथा जिज्ञासा पैदा ही नहीं होती। पितृतर्पण से यहाँ सभी शास्त्रीय कर्मों का ग्रहण है। वह सोचता है कि मैं जिस कारण से इस जगत्चक्र में फँसा हूँ, यदि उस कारण की बलि दे पाऊँ तो मेरा काम हो जाये। इसीलिये जगत् का कारण 'अज' शब्द से कहा जाता है। जिससे सब उत्पन्न हों उस माया को भी इसीलिये 'अजा' शब्द से कहते हैं। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्।' जगत् का जो कारण होगा

वह स्वयं तो जन्मरहित होगा ही क्योंकि जो स्वयं जन्मवाला है वह तो फिर जगद्रूप ही हो जायेगा ! इसलिये साधक जीव चाहता है कि जगत् के कारण को यदि मैं समाप्त कर पाऊँ तो मेरा काम बने। यही उस अज की बलि यज्ञ में देना है। सारी साधना ही यज्ञ है। तभी मुक्ति होगी।

इतना तो पता है कि संसार का जो कारण है उसको जब ख़त्म करेंगे तब असंसारी होंगे। लेकिन उस कारण का पता नहीं चलता क्योंकि वह अज तो भागा हुआ है। इसलिये कभी गौतम के पास ढूँढने जाते हो तो वह कहता है कि परमाणु कारण हैं। कोई कहता है कि प्रकृति, तीन गुणों वाली, कारण है। कोई शुभाशुभ कर्म को कारण बताता है। कारण का पता न लगने पर वह जिज्ञासु कार्त्तिक स्वामी अर्थात् परमेश्वर की शरण लेता है। कार्त्तिक का मतलब होता है कतरने वाला। जो अज्ञानरूप बंधन से तुम्हें कतर कर भगा दे वही परमेश्वर कार्त्तिक स्वामी हैं जो वीरबाहु से पता लगाने को कहते हैं। वीरबाहु जो अपनी भुजाओं से पराक्रम करने में कभी भी थकता नहीं। कौन-सी ऐसी चीज़ है जो कभी नहीं थकती ? विचार ही ऐसी चीज़ है, क्योंकि बाकी सब चीज़ें तो किसी जगह जाकर थक जाती हैं, आगे नहीं जा पातीं, लेकिन विचारशक्ति मनुष्य को कहीं अवरुद्ध नहीं होने देती। इसलिये यहाँ वीरबाहु इह लोक और परलोक सब चीज़ों को नियंत्रण करने वाला विचार है। बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार विचार से ही निकलते हैं। बड़े-से-बड़े राज्य को विचार से चलाया जा सकता है। संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं जो विचार के द्वारा जीती न जा सके। इसलिये विचार ही वीरबाहु है। वह

ढूँढने निकलता है। जहाँ जाता है वहाँ उस अज का पराक्रम तो सुनने को मिलता है : परमाणु भी इस अज्ञान का पराक्रम ही है। अज्ञान के कारण ही परमाणु भी हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कारण भी अज्ञान है। इसलिये ये सब कारण उस अज्ञान के पराक्रम तो हैं; लेकिन स्वयं अज्ञान तो वैकुण्ठ में जाकर मिलता है।

जहाँ सत् और असत् इस प्रकार का निर्वचन करना कुंठित हो जाये वह वैकुण्ठ है। जैसे पत्थर पर तलवार मारें तो कुंठित हो जाती है, काट नहीं सकती, ऐसे ही बाकी सब चीजों के विषय में तो सत्-असत् का निर्वचन कर सकते हैं। आत्मा सत् है, अनात्मा असत् है। जीव चेतन है, पत्थर जड है यह निर्वचन हो गया। लेकिन अज्ञान हमेशा अनिर्वाच्य है। इसलिये वहाँ सत्-असत् इस प्रकार का निर्वचन निश्चित रूप से कुंठित हो जाता है। वह सदसद्विलक्षण है। वैकुण्ठ में इसकी प्राप्ति होती है। विचार से पता लगेगा कि यह सत्-असत् से अनिर्वाच्य है। इसीलिये वीरबाहु उसके दोनों सींगों को पकड़ कर वहाँ लाया। सत्-असत्, भाव और अभाव रूपी दोनों को इकट्ठा पकड़ना पड़ता है। केवल एक के विचार से काम नहीं चलेगा। उसको कार्त्तिक स्वामी के पास ले आया तो कार्त्तिक स्वामी उसपर अधिष्ठित हो गये। अज्ञान पर अधिष्ठित परमेश्वर ही है। वे ही अज्ञान को चलाने वाले हैं। जहाँ अज्ञान परमात्मा से अधिष्ठित हुआ तो फिर वह अज्ञान चाहे ब्रह्माण्ड में चक्कर लगाये लेकिन थकता चला जाता है। परमात्मा का स्वरूप साक्षी है। इसलिये जब तुम अज्ञान को साक्षी के प्रकाश के सामने लाते हो तब अज्ञान मन रूप को धारण करके ब्रह्माण्ड

भर में चक्कर मारेगा, लेकिन जब तुम उसे साक्षी रूप से देखते रहोगे तब वह थोड़ी देर में थक जायेगा।

तब साधक कहेगा कि अब इस अज्ञान को ख़त्म कर दो। तब स्वयं अपना साक्षी रूप परमात्मा ही कहेगा कि पहले वह चाहे जितना शोर क्यों नहीं मचा रहा हो, अब यह वध के योग्य नहीं है। वध तो उसका किया जाता है जो अपने समान कोटि का हो। स्वप्न के दुश्मन को क्या तुम जगकर तलवार से मारने जाओगे? जाग्रत् के दुश्मन का तो वध कर सकते हो। जब तक स्वप्न में हो तभी तक स्वप्न की दुकान में तलवार-बंदूक खरीदने जाओगे। इसलिये यह अज्ञान वध के योग्य नहीं है। इसलिये उससे कहते हैं कि अब तुम अपने घर जाओ। तुम्हारा जो आत्मरूप घर या अधिष्ठान है वही स्वगृह है। अपने उस ज्ञानस्वरूप में स्थित रहो, इस अज्ञान को क्या मारना है ! यह जो परमात्मा की प्रसन्नता है, ज्ञान का हो जाना है, यही इस साधनायज्ञ की पूर्णता हो जाना है। ज्ञान होते ही काम बन गया। वह भी अपने अधिष्ठान में पहुँच गया।

इसका कारण क्या बताया ? यह बात सुनना कि वह तुम्हारा अधिष्ठान स्वरूप है। जिस समय अज्ञान को परमात्मा के या साक्षी के समर्पण कर दिया उस समय ज्ञान का कारण वह श्रवण ही पड़ता है। कार्त्तिक स्वामी के कहते ही उसका यज्ञ पूर्ण हो गया। इसी प्रकार 'मैं पूर्ण हूँ,' यह श्रवणमात्र से ज्ञान हो गया। लेकिन कैसा श्रवण ? चित्त के अन्दर पूरे प्रेम के साथ श्रवण होना चाहिये क्योंकि जिस पर प्रेम होगा उसका चिंतन चलेगा। इसीलिये उसे निदिध्यासन कहते हैं। विचाररूप मनन वीरबाहु है और कार्त्तिक

स्वामी से निदिध्यासन होने पर पूर्णता हो गई।

श्रुति के सत्-असत्-विलक्षण को इस दृष्टांत से बताया। जगद्धेतु परमात्मा से अतिरिक्त भाव-अभाव दोनों नहीं। अनिर्वाच्य अज्ञान पर अधिष्ठित हुआ ब्रह्म ही एकमात्र कारण है। अज्ञान के द्वारा ही उसमें कारणता की प्रतीति है। यह निश्चय हो तो काम बने। आगे स्वयं वेद इसको विस्तार से कहेगा।

प्रवचन-४

बीजरूप से सृष्टि के पहले की अवस्था का प्रतिपादन करते हुए उसको अव्यक्त, अनिर्वाच्य, अविद्या, माया स्वरूपों से बताया। उसका लक्षण किया 'नासदासीत् नो सदासीत्'। सत् और असत् से विलक्षण तीसरी जाति की चीज ही अनिर्वाच्य मिथ्या कही जाती है। सृष्टि के पहले बीजरूप से अनिर्वाच्य अविद्या का निरूपण सूत्ररूप से करके उसका ही 'तदानीं नासीद्रजः' से आगे विस्तार करते हैं। 'रजः तदानीं न आसीत्' उस समय में रज अर्थात् कोई भी लोक नहीं थे। जिनका अनुभव किया जाता है उन्हीं को लोक कहा जाता है। जैसे यह भूलोक है क्योंकि यहाँ हम लोगों को भौतिक पदार्थों का अनुभव होता है। इसी प्रकार भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, गोलोक इत्यादि सब लोक कहे जाते हैं क्योंकि वहाँ किसी-न-किसी पदार्थ का ही अनुभव होता है। यह अनुभव वस्तुतः परमात्मा की असीमता को ससीम कर देता है। इसीलिये यहाँ उसे रज शब्द से कहा है। रज का अर्थ धूलिपटल होता है। गर्मी के मौसम में हल्की-हल्की धूल से सारा आकाश आच्छन्न हो जाता है। जैसे उस रज या

धूलिपटल से आकाश ढक जाता है वैसे ही लोकों से अर्थात् अनुभव किये जाने वाले विषयों से परमात्मा का वास्तविक स्वरूप ढक जाता है। बालू दिखाई देती है लेकिन आकाश दिखाई नहीं देता यद्यपि है वहीं। बालू किसमें है ? विवेकी कहेगा कि आकाश में है। यदि बालू को देख रहे हो तो बालू जिसमें है उसे तो देख ही रहे हो। लेकिन बालू के कारण आकाश नहीं दीख रहा—ऐसी प्रतीति होती है। उसी प्रकार जब विषयों को देख रहे हो उस काल में भी विषय जिसमें कल्पित है उस परमात्मा को भी तो देख रहे हो परन्तु प्रतीति यह होती है कि विषय को देख रहे हैं। इस समानता के कारण ही रज और लोक दोनों शब्दों को महर्षि यास्क ने पर्याय माना है।

अन्यत्र भी इसी ऋग्वेद के दशम मंडल के ५२वें सूक्त में इसका वर्णन करते हुए कहा है 'सहोभिः विश्वं परि चक्रमू रजः पूर्वा धामानि अमिता मिमानाः।' यहाँ भी लोकों को रज शब्द से कहा है। श्रुति विलक्षण कल्पना करती है। ये लोक धाम हैं। जहाँ कोई निवास करता है या जहाँ प्रायः पाया जाता है उसको संस्कृत में धाम कहते हैं जिसको address या पता कहते हैं। अभी भी कुछ पुराने लोग 'नाम-धाम' का प्रयोग करते हैं। श्रुति कहती है कि ये लोक ही धाम हैं। लोक वे हैं जहाँ प्रायः परमात्मा जीवभाव में उत्पन्न होकर पदार्थों का अनुभव करता है। ये लोक ही उस जीव के धाम या रहने की जगह है। उसके लिये विचित्र विशेषण दिया 'अमिता मिमाना' स्वरूप से तो ये धाम अमित हैं, अपरिच्छिन्न हैं, अपरिमित हैं। मित मायने परिच्छिन्न, सीमित या थोड़ा होता है। विचार से भी यही सिद्ध होता है कि अनादि काल

से करोड़ों-अरबों वर्ष बीत गये, इस भूलोक में करोड़ों-अरबों व्यक्ति आते रहते हैं, इसको देखते रहते हैं और फिर चले जाते हैं। दूसरे और करोड़ों-अरबों आते रहते हैं। आज तक क्या इस भूलोक के अनुभवों की समाप्ति हुई ? ऐसा नहीं कि पहले माल बहुत था और अब कुछ घट गया हो !

आधुनिक लोग तो सौ-दो सौ साल में ही घबराने लग जाते हैं। कभी कहते हैं बीस साल में पैट्रोल ख़त्म हो जायेगा, पचास साल में पानी ख़त्म हो जायेगा। वे कहने वाले कई बार ख़त्म हो जायेंगे और यह ऐसे ही चलता रहेगा। जैसे हम कई लोगों से कहते हैं कि कम-से-कम गत चालीस वर्ष से हर कुंभ में लोग आकर कहते हैं कि 'इतने लोगों का खाना-पीना, रहना, भण्डारे होना कब तक चलेगा, अब ज़माना बदल गया, यह ज़्यादा दिन नहीं चल सकता। अब की कर लिया सो कर लिया।' यह सुनते-सुनते चालीस साल तो हमें हो गये और हर बार कुंभ में पहले से ज़्यादा खर्च होता है, लोग ज़्यादा आते हैं, भण्डारे भी ज़्यादा होते हैं। लोग मित बुद्धिवाले हैं, मित ही सोचते हैं। यहाँ श्रुति उसे अमित, अपरिमित कहती है। करोड़ों-अरबों लोग आये और इस पृथ्वी तल पर रहे, उन्होंने भी अपने युग में बड़े-से-बड़े भोग भोगे और चले गये, हम भी आज भोग रहे हैं और आगे भी ऐसे ही चलता रहेगा। जैसे भूलोक के ऐसे ही सब लोकों के लोक समझ लेना। उन लोकों में भी प्राणी पहुँचते हैं, कर्मफलभोग समाप्त होता है, दूसरे प्राणी पहुँच जाते हैं लेकिन प्रवाह कभी रुकता नहीं। ये सारे परिमित या सीमित नहीं हैं।

जो भोग करने वाले प्राणी हैं वे निरंतर इसको परिच्छिन्न बनाते

रहते हैं। वे अपने स्वार्थवशात्, ईर्ष्यावशात्, लोभवशात् इसको सीमित करने का प्रयत्न करते रहते हैं लेकिन स्वरूप से अपरिच्छिन्न होने से यह सीमित कभी होता नहीं। व्यापारी लोग एकत्र करते रहते हैं, सोचते हैं हम माल को दबा लेंगे अर्थात् सारा माल रखकर फिर जो मर्जी दाम लेंगे, लेकिन क्योंकि दूसरे व्यापारी के दिमाग में भी यही बात आती है इसलिये नतीजा कुछ नहीं होता। दस-पाँच दिन के लिये लगता है दाम बढ़ रहे हैं फिर भी फायदा कुछ नहीं। अंत में हिसाब करके देखते हैं कि बचा उतना ही। जैसे व्यापारी ऐसे ही राजा लोग भी सोचते रहते हैं कि सारा धन हम ही ले लें लेकिन ऐसा भी कुछ नहीं होता। अंत में वे लोग कहते हैं कि एक समानान्तर अर्थव्यवस्था चल रही है अर्थात् जितना एक नम्बर का उतना ही समानान्तर दो नम्बर का चल रहा है ! इसलिये किसी भी चीज़ को परिच्छिन्न करने का प्रयत्न बेकार है। यह तो अपरिच्छिन्न है, अपरिच्छिन्न ही रहेगा।

वे लोग परिच्छिन्न क्यों करते हैं ? श्रुति ने कह दिया 'सहोभिः विश्वं'। वे सोचते हैं कि सहसा अर्थात् बलपूर्वक हम इसे परिच्छिन्न कर लेंगे लेकिन कर नहीं पाते। तरह-तरह की परिच्छिन्नतायें हैं। कई लोग मक्खियों से विरोध करते रहते हैं कि कैसे इन्हें खत्म करें, इसके लिये बड़े-बड़े औजार निकाले, लेकिन मक्खियाँ बढ़ती ही रहती हैं। फिर कुछ लोगों ने कमर कसी कि मलेरिया के मच्छर को ख़त्म कर देंगे। बीच में घोषित भी हो गया कि हम विजयी हो गये, मलेरियां को समाप्त कर दिया। दो-एक दिन पहले ही देख रहे थे कि लोगों ने कहना शुरू कर दिया है कि दिल्ली में फिर मलेरिया का प्रकोप शुरू हो गया है ! हम सोचते हैं कि हम

मच्छर को ख़त्म कर लेंगे लेकिन वह भी तुमसे सीमित होने वाला नहीं है। और एक बात से घबराना नहीं : जिस विज्ञान ने अपनी चरम उन्नति में प्रयत्न करके मच्छरों को ख़त्म नहीं किया वह जब हमें डराता है कि 'हमारे पास ऐसे बम हैं कि तुम आदमियों को और मानवसंस्कृति को ख़त्म कर देंगे' तब हमें हँसी आती है कि तुम आज तक मच्छर तो ख़त्म नहीं कर पाये और हमें डराते रहते हो कि तुम लोगों को ख़त्म कर देंगे ! तुम्हारे जैसे अनेक आयेंगे और अनेक चले जायेंगे। हम तो ऐसे ही बने रहेंगे। लोग साहस अर्थात् बलपूर्वक या साहसमात्र से चाहते हैं कि 'हम उसके ऊपर परिचक्रमण करें' लेकिन कर नहीं सकते हैं।

फिर हमें क्या करना चाहिये ? श्रुति साथ ही उपाय भी बताती है 'तनुषु विश्वा भुवनानि' जितना तुम्हारा भोग है अर्थात् जितना तुम्हारा कर्मफल तुम्हें प्राप्त होने वाला है, जो तुम्हारा हिस्सा है, इसका नियमन करने वाला जो है वह तुम्हें जितना देता है उतने का ही नियंत्रण चाहो, उससे ज़्यादा का नहीं। परमात्मा ही नियमन करने वाला है इसलिये उसने जो पदार्थ तुम्हारे लिये जितना नियमित किया है बस उतने पर ही तुम नियंत्रण करने का प्रयत्न करो, अधिक नहीं। परमात्मा ने कौन-सी चीज़ तुमको सबसे ज़्यादा तुम्हारे नियंत्रण में दी है ? मन ही ऐसी चीज़ है, तुम्हारे सर्वाधिक नियंत्रण में मन ही है। इसलिये तुमको सबसे पहले करना तो अपने मन को नियंत्रण में चाहिये क्योंकि वही तुमको दिया गया है लेकिन प्राणी ठेठ चन्द्रमा का चक्कर लगाने का प्रयत्न करता है, एक क्षण को मन को नियंत्रित करने का प्रयत्न नहीं करता ! जिसको देखो कोई मोटर चलाना सीख रहा है, कोई

पायलट बनकर हवाई जहाज चलाना सीख रहा है, कोई ‘बिज़नस मैनेजमैण्ट’ का कोर्स करके व्यापार चलाना सीख रहा लेकिन अपने मन को चलाना कोई नहीं सीखता ! हम भी अपने बच्चों को बाकी सब काम सिखाने के लिये खूब पैसा खर्च करते हैं; बच्चा कहाँ पढ़ रहा है ? दून स्कूल में चार सौ रुपया महीना खर्च करके पढ़ा रहे हैं, करना ही पड़ता है। उस बच्चे को मन को ठीक नियंत्रण में लाने के लिये आप कुछ प्रयत्न या खर्च करने को तैयार हैं ? कुछ नहीं। जो तुम्हारे शरीर में प्राप्त मन है इसके ऊपर पहले नियंत्रण करो क्योंकि यह तुम्हें नियंत्रण करने के लिये मिला है। लेकिन मनुष्य कर क्या रहा है ? प्रसार करता चला जा रहा है।

यदि मन से आगे कुछ नियंत्रण करने लायक चीज़ है तो वह तुम्हारी इन्द्रियाँ, प्राण और शरीर हैं। यही क्रम है। इन पर क्रमशः तुम्हारा ज़ोर कम होता जाता है। मन के ऊपर जितना तुम्हारा अधिकार है, इन्द्रियों पर उतना अधिकार नहीं होता क्योंकि इन्द्रियों की अपनी सीमा है। मन में हज़ार साल पहले का विचार करो तो कर सकते हो लेकिन क्या आँख के द्वारा सौ साल पहले की चीज़ भी देख सकते हो ? और सच्ची बात तो यह है कि एक सैकेण्ड पहले की देखी हुई चीज़ को नहीं देख सकते, सौ साल पहले तो तुम्हें ढाढस देने के लिये कह दिया ! इन्द्रियों की ताकत बहुत सीमित है। नियंत्रण तो संभव है लेकिन जैसा मन पर वैसा नहीं!

इसी प्रकार मन की अपेक्षा प्राणों पर भी तुम्हारा नियंत्रण कम है। मन से तुम सोच सकते हो कि ‘मैं भी रावण की तरह तपस्या करके कैलास को अपने हाथ से उठा लूँगा’। प्रयत्न करने

जाओगे तो तुम्हारे ये कलयुगी प्राणों से कैलास पर्वत को जाने दो, विश्वविद्यालय के सामने की छोटी-सी पहाड़ी नहीं उठनी है! जितना मन पर स्वातंत्र्य है उतना इन्द्रियों और प्राण पर नहीं है। शरीर पर उससे भी कम है। मन में सोच सकते हो कि रसगुल्ले की दुकान पर जाकर बंगाली मार्कीट को खाली कर देंगे लेकिन शरीर से तो पचास रसगुल्ले खाने के बाद इक्यावनवाँ ठेलना मुश्किल हो जायेगा। धीरे-धीरे पूर्णता बढ़ती है।

लेकिन मनुष्य क्या करता है ? अनेक प्रकार से प्रसार, जिनके ऊपर अपना नियंत्रण हो नहीं सकता, उनको फैलाता रहता है। आगे श्रुति कहती है कि केवल अपना ही नहीं बढ़ाता, उस बढ़े हुए प्रसार को अपनी प्रजा या संतति पर भी डालता रहता है। लोग अपने बच्चों से कहते हैं कि 'यहाँ तक तो मैंने अपना जीवनस्तर बना लिया, आगे तुम इसे घटाना नहीं, तरक्की करना।' यह नहीं कहते कि 'तुम अपने मन को नियंत्रित करना। मैंने अपने मन को दो घण्टे समाधि में लगाना सिखाया, तुम चार घण्टे करना।' लेकिन यह कहते हैं कि मैंने दुकान का 'टर्नओवर' पचास लाख का कर दिया, यह नीचे न गिरे इसका ख्याल रखना। और उसी चक्कर में मरते दम तक लगा रहता है। कहता ही यह है कि 'छोड़ तो दूँ लेकिन बच्चा सम्भाल नहीं रहा है।' क्या नहीं सम्भाल रहा है ? जो मैंने प्रसार कर दिया उसको नहीं सम्भाल रहा है। इसलिये श्रुति कहती है कि जितना तुम्हें नियंत्रण करने को मिला है पहले उसपर करो, व्यर्थ के विस्तार में मत जाओ। व्यर्थ के विस्तार में ले जाने वाली चीज़ कामनाओं का जंजाल है। कामनाओं के इस जंजाल में मनुष्य यह भूल जाता है कि सर्वात्मा

शिव ही सर्वत्र विस्तृत है, तुम उसका क्या विस्तार कर सकते हो ! वह सर्वात्मा शिव ही अंतर्यामी तुम्हारे अन्दर बैठा हुआ है। उसको जितना विस्तृत होना था वह हो रखा है। तुम एक दुकान के विस्तार की सोचते हो और तत्त्व यह है कि विश्वभर की दुकानों के अन्दर काम करने वाला अंतर्यामी शिव एक ही है, तुम क्या विस्तार करोगे ! लोग इस बात को न समझने के कारण ही विषयों और ऐश्वर्य की कामना करते रहते हैं—'अमुक विषय मेरा हो, अमुक ऐश्वर्य मेरा हो।' लेकिन ये सारे विषय ही रज, धूल हैं जो परमात्मा को ढाँक रहे हैं। उस धूल को सुख समझ करके उन्हीं के पीछे दौड़ते रहते हैं। इसीलिये असली उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पाते। इन कामनाओं के कारण ही दीन-हीन और दुःखी बने हुए हैं।

संसार में कोई दीन नहीं है। दीन बनाने वाली यह कामना ही है। जिस व्यक्ति को हमेंशा महामूर्ख समझते हैं वह व्यक्ति चुनाव में खड़ा होकर एम. पी. और बाद में मंत्री बन जाये तो जो आज कहते हैं कि 'यह महामूर्ख है' वही आकर हमसे कहते हैं कि 'उत्सव में उसी को मुख्य अतिथि बना कर बुला लें तो कैसा रहेगा ?' हम उनसे कहते हैं कि 'साल भर पहले तो तुम उसे महागुण्डा और बदमाश कहते थे ?' कहते हैं कि 'अब तो वह मंत्री बन गया है।' दीनता इसलिये है कि मन में कामना है कि इससे कुछ काम बन जायेगा अथवा उसके साथ फोटो खिचने मात्र से ही दूसरे अफसर हमसे दबा करेंगे। पुराने ज़माने में तो लोग शंकर पार्वती का फोटो अपने घरों में लगाते थे। अब कइयों के घर जाते हैं तो देखते हैं कि कहीं नेहरूजी के साथ उनका फोटो

है, किसी फोटो में गांधी जी को माला पहना रहे हैं। इसका क्या कारण है, क्यों यह दीनता का अनुभव है ? कामना से ही है। जब अपने को दीन मानते हैं तब अपने को दूसरे से हीन भी मान लेते हैं। मेरे पास जो ऐश्वर्य है उसको मैं भूल करके दूसरे के ऐश्वर्य को देखने लगता हूँ क्योंकि मेरे अन्दर उसकी कामना है। संसार में कोई प्राणी या कोई मानव ऐसा नहीं जिसके अन्दर कोई-न-कोई अद्‌भुत गुण नहीं है। जिसको तुम मोची कहते हो वह जितना सुन्दर जूता गाँठ सकता है उतना सुन्दर कोई पंडित गाँठकर दिखाये तो सही, उससे तो चमड़े में छेद ही नहीं होगा, घंटों लगा रहेगा। लेकिन चूँकि उसकी कामना कुछ और है इसलिये अपने को हीन समझता है और जब तक अपने को दीन-हीन समझेगा तब तक दुःखी भी बना रहेगा क्योंकि वह अपनी शक्ति को नहीं देख रहा है।

काशी में एक स्थल है जहाँ एक कुआँ बना हुआ है जिसके नीचे शिवलिंग है। पुराने ज़माने में वहाँ एक तलवार लटकी रहती थी और प्रसिद्धि यह थी कि वहाँ जाकर उस तलवार पर कूदकर जो मनुष्य अपना प्राण देगा उसकी अपनी कामना पूर्ण हो जायेगी। उस स्थल को 'काशीकरवत' कहते हैं। वह मन्दिर और कुआँ अब भी वहीं है। बाद में अंग्रेज़ों ने इसपर रोक लगा दी; अब वहाँ जाकर कोई प्राण नहीं छोड़ सकता। एक बार एक चमार वहाँ पहुँच गया। पंडित ने उससे कहा कि 'यहाँ जो इच्छा करके प्राण छोड़ेगा वह तेरी इच्छा पूरी हो जायेगी।' उसने सोचा कि अपने भी इसमें कूदकर इच्छा पूरी करें। तैयार हुआ। पंडित ने कहा कि 'पहले संकल्प करना पड़ेगा कि क्या इच्छा पूरी करना चाहते हो।'

उसने सोचा कि यह तो मैंने सोचा ही नहीं था। सोचने लगा कि क्या बनूँ। सबसे पहले उसे स्मरण आया कि मैं ब्राह्मण बनूँ क्योंकि समाज में सर्वोच्च स्थान ब्राह्मण का है। कहीं श्राद्ध होगा तो भोजन का निमंत्रण आयेगा, खूब हलवा-खीर खाने को मिलेगी। किसी के यहाँ विवाह-शादी होगी तो मेरा आदर पहले होगा। किसी के लड़का पैदा होगा तो सबसे पहले कुण्डली बनाने को मेरे पास आयेगा, ठाकुर भी मेरे पैर पर सिर रखेगा। इसलिये इससे बढ़िया कोई नहीं। मन में सोचने लगा कि ब्राह्मण ही बन जाऊँ। तब तक ख्याल आया कि सर्दी के मौसम में भी पंडित जी रोज़ सवेरे चार बजे ही उठकर कुएँ पर पहुँच कर ठंडे पानी से नहाते हैं, चाहे माघ की सर्दी ही हो। मुझे भी नहाना पड़ेगा। सोचा वहाँ तो थरथरी आयेगी। फिर याद आया कि पंडितजी का लड़का पढ़ने जाता है तो छोटी-सी गलती करने पर जोर का थप्पड़ पड़ता है। जब वेद का पाठ कराया जाता है तब आदमी के सिर पर नीबू रख दिया जाता है क्योंकि वेदपाठ में शिरःकंपी को व्यास जी नें दोषी बताया है। इसलिये सिर पर नीबू रखा जाता है, जल्दी बाँचते हुए अगर थोड़ा भी सिर हिला तो नीबू गिर जायेगा और जैसे ही वह गिरा कि थप्पड़ पड़ा। ग़लती पर अध्यापक थप्पड़ मारता है, यह महाभाष्य में भी लिखा है। यह तो बड़ा मुश्किल है इसलिये यह बनने से कुछ नहीं होगा। और पंडित जी के कपड़े भी फटे हुए रहते हैं। लोग बुलाकर नमस्कार तो पूरा करते हैं लेकिन पंडित जी के लिये सबसे झीनी धोती और सबसे सड़े केले खरीदकर लाते हैं। इसलिये इसमें कोई फायदा नहीं।

मुझे क्षत्रिय बनना चाहिये। गाँव में ठाकुर साहब बारह बजे

खूब तेल-मालिश करके नहाते हैं। फिर मूँछों पर ताव देकर घोड़े पर बैठकर निकलते हैं, एक तरफ तलवार लटकाये होते हैं। ब्राह्मण भी पूर्णिमा-अमावस को बिना बुलाये वहाँ पहुँच जाते हैं तो उन्हें भी कुछ दे देते हैं। इसलिये यही बनना चाहिये जिसमें आनंद से घोड़े पर बैठकर मौज करने को मिलेगी। जैसे ही यह संकल्प करने को तैयार हुआ तब तक खुली तलवार सामने याद आई ! सोचा कि कभी-कभी लड़ाई में भी उन्हें जाना पड़ता है, वहाँ युद्ध करना पड़ता है। उन्हीं ठाकुर साहब के पिता जी का एक हाथ ऐसे ही युद्ध में कट गया था जिससे बेचारे खा भी नहीं सकते थे, उन्हें बायें हाथ से ही खाना पड़ता था। युद्ध में तो खटाखट तलवारें चलती हैं। उनके तो हाथ पर ही लगी, किसी की गर्दन पर भी चल जाती होगी। इसलिये यह तो ब्राह्मण बनने से भी खराब है। वहाँ तो थर-थर काँपना ही है और यहाँ तो मरना है।

इसकी अपेक्षा तो सेठ बनना अच्छा है। पंडित जी की लड़की का ब्याह था तो वह भी सेठ जी के यहाँ पहुँचे थे कि 'कुछ पैसा दे दो।' सेठ जी गद्‌दी पर तने हुए थे। एक साल जब खेती अच्छी तरह नहीं हुई थी तो ठाकुर साहब का गुजारा भी नहीं चल रहा था, वे भी उसी बनिये के पास जाकर कह रहे थे कि 'कुछ दे दो' और वह कह रहा था कि 'दो सौ लिखो तो सौ दूँगा।' वह घोड़े पर बैठने वाला ठाकुर भी उनके सामने 'हीं-हीं' कर रहा था। इसलिये बनिया बनना ठीक है जिसमें न सवेरे उठने का टंटा, न क्षत्रिय की तरह लड़ने का डर, गद्दी पर बैठकर आनंद से अपना व्यापार करेंगे। इसलिये इसके जैसा कोई नहीं। तब तक उसको याद आया कि अपने पड़ोस के गाँव वाले सेठ जी ने एक सौदा

किया था तो उसमें घाटा होकर घर तक की कुड़की आ गई थी। उसके पहले तो सौ देकर दो सौ लिखाते थे इसलिये अन्दर-अन्दर सबकी दुश्मनी थी ही इसलिये अब कोई भी उन्हें साथ देने को तैयार नहीं हो रहा था। वैसे भी बनिये लोग रात-रात भर बैठकर हिसाब लिखते रहते हैं। सालाना हिसाब ख़त्म होने के समय रात भर उनके मकान की बिजली जलती रहती है। यदि थोड़ी-सी रोकड़ इधर-उधर हो जाये तो सेठ जी का खाना भी पड़ा रहता है। कई बार उनकी लड़की कहती है तो उससे कहते हैं कि 'तुम लोग खाकर सो जाओ, मेरी थाली रख दो, रोकड़ अभी नहीं मिल रही है।' यह भी बड़ा झंझट का काम है।

अंत में सोचा कि सबसे बढ़िया तो मेरा चमारी का ही काम है। न सवेरे उठना, न लड़ने को जाना, और न कोई घाटा होने का टंटा। जब मर्जी आये उठे, दो जूते गाँठे, पाँच रुपये कमाये और बढ़िया माल खरीद कर खाया। सोचने लगा कि आज साठ साल मुझे यह काम करते हो गये, आज तक कोई दुःख मुझे नहीं हुआ, बड़े आनंद से रह रहा हूँ। इसलिये सबसे उत्तम यही है। उसने पंडित जी से कहा कि 'मैंने संकल्प ले लिया।' पंडित जी ने पूछा—'क्या बनना चाहता है ?' उसने कहा कि 'मैं अगले जन्म में चमार बनना चाहता हूँ।' पंडित जी ने संकल्प फेंकते हुए कहा—'अरे, काशीकरवत कोई चमार बनने के लिये होती है ?' उसने कहा कि 'मैंने खूब सोचकर देखा, मुझे इससे बढ़िया कुछ नहीं लगा। इसलिये सबसे उत्तम यही है।' पंडित जी ने कहा कि वह तो तू पहले ही है, इसके लिये क्यों संकल्प करता है !

संसार के अन्दर जो प्राणी जिस स्थिति में है, यदि विचार

करके देखते हैं तो वहाँ भी उसका कोई-न-कोई स्ववैशिष्ट्य है। उसकी तरफ दृष्टि करोगे तो कभी भी अपने को दीन-हीन अनुभव नहीं करोगे और कभी भी दुःखी नहीं होगे। प्रायः भूल यह करते हैं कि जो हम नहीं हैं उसे मन में सोचते रहते हैं और जो हम हैं उसका विचार नहीं करते। जो हम नहीं कर सकते उसके बारे में तो आदमी बहुत बोलता है लेकिन जो कर सकता है उसके बारे में कोई प्रत्यन नहीं करता। विवेकी अपने को इसीलिये हमेशा वहीं नियंत्रित करता है जिस कार्य को उसे परमेश्वर ने स्वतः प्राप्त कराया है। उस कार्य को करने में, उस फल को भोगने में, उसमें पूर्ण नियंत्रण करने में प्रवृत्ति करता है। जो उसे स्वभाव से प्राप्त नहीं है उसे ढूँढने के लिये जबर्दस्ती भटकता नहीं है।

वस्तुतः हम लोगों के यहाँ वर्णधर्म पर जो इतना ज़ोर दिया गया, उसका बीज ही यह है कि उत्पन्न होने के साथ 'मैं ब्राह्मण हूँ' तो मुझे पता है कि मुझे क्या करना है ? परमात्मा ने मुझे यह वातावरण दिया और यह हमको उन्होंने आनुवंशिकी परम्परा (Heredity) दी है। इसीलिये परमेश्वर मुझे ब्राह्मण के कार्य में लगा देना चाहते हैं। उसे मैं अच्छा कर पाऊँ, बुरा कर पाऊँ, मुझे यही करना है। इसीलिये भाष्य में भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मः न तु यो यं स्वनुष्ठातुं शक्यते' जिसका जिसके प्रति विधान किया गया है, नियम किया गया है वह उसका धर्म हुआ करता है। जो जिस काम को अच्छी तरह से कर सके वह उसका *धर्म* नहीं होता है।

यह बात ख़्याल रखना। आज यह कहा जाता है कि जो आदमी जिस कार्य को अच्छी तरह से कर सके वही उसका

धर्म मान लो। धर्म में कर्त्तव्य-बोध होता है। पुत्र कहेगा कि 'मेरा स्वभाव पिता की सेवा करना नहीं है, दूसरे किसी भाई का होगा, छोटे भाई का ज़्यादा सेवाभावी स्वभाव है इसलिये यह उसका कर्त्तव्य मानो, मेरा नहीं।' एक बार यदि यह मान लिया कि 'जो जिस काम को अच्छी तरह कर सके वह उसका धर्म है' तो जितने भी कर्त्तव्य हैं, जितने भी कार्य करने के नियम हैं वे सब उच्छृंखलित होते चले जायेंगे। एक जगह का उच्छृंखलवाद सर्वत्र उच्छृंखलवाद को फैलायेगा। तुम चाहते हो कि कहीं उच्छृंखलता और कहीं छृंखलता मान लो। कुछ नहीं पढ़ने वाले कहते हैं कि 'हम छुरा चलाने में तेज़ हैं, कोई कलम चलाने में तेज़ है। इसलिये कोई पढ़कर कलम से नम्बर लेता है और हम छुरा चलाकर लेते हैं, जो जिस काम को अच्छी तरह कर सके वह ठीक है।' एक बार यदि स्वीकार कर लिया कि जो जिस काम को कर सके वह उसका धर्म तब कहीं नियम नहीं रहेगा।

इसलिये नियम है कि जो जिसके प्रति विधान किया गया है वही उसका कर्त्तव्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में मैंने जिस परम्परा में जन्म लिया उसका अनुवंश और वातावरण मैंने तो चुना नहीं। परमात्मा ने मुझे वहाँ पैदा किया तो इसलिये कि परमात्मा उसकी मेरे ऊपर विधि कर रहा है। यह कर्म मुझसे अच्छी तरह हो, न हो—इससे मुझे कोई मलतब नहीं। जितनी अच्छी तरह से होगा उतनी अच्छी तरह करूँगा। जैसे-जैसे यह कर्त्तव्यबोध मनुष्य के अन्दर आयेगा वैसे-वैसे दीन-हीनता की भावना जायेगी। अन्यथा निरंतर हम अपनी अच्छाई को तो देख नहीं पाते हैं और दूसरे को देखते रहते हैं कि उनमें कौन-सी अच्छाई है। ब्राह्मण

सोचता रहता है कि 'मैं व्यापार करके पैसा कमा लूँ।' शूद्र सोचता रहता है कि 'मैं कुछ मंत्र पढ़कर पुजारी बन जाऊँ।' चूँकि सभी एक दूसरे को देख रहे हैं इसीलिये सब अपने को दीन-हीन और दुःखी अनुभव कर रहे हैं। ब्राह्मण भी अपने को दीन-हीन अनुभव करता है कि 'क्या संस्कृत पढ़ें ! पैसा तो आता ही नहीं ?' और उधर शूद्र भी अपने को दीन-हीन अनुभव कर रहा है कि 'हम चाहे जितना कर लें लेकिन ब्राह्मण के सामने हमारी इज्जत होने वाली नहीं।' दोनों ही दुःखी बन रहे हैं।

कामना से हम प्रवृत्ति करेंगे, ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहेंगे तब यह स्थिति बढ़ेगी। एक बार जब इस बात को स्पष्ट समझ लिया गया कि न कोई कार्य अच्छा है, न कोई कार्य बुरा है वरन् जो जिसके लिये विधान किया गया है वही उसके लिये अच्छा है; तब दूसरे को देखना मिटेगा और जहाँ यह मिटा वहाँ वृत्ति अपने अन्दर आई। उस चीज़ में ही हम विशेषता प्राप्त करने में अपनी शोभा मानेंगे और दूसरा काम हमें अशोभनीय लगेगा, उसमें हम शोभा नहीं मानेंगे।

विचार करो : कोई व्यक्ति पाँच मिनट तक बोलता है, उतनी ही देर में अपनी मातृभाषा को छोड़कर विदेशी शब्दों का प्रयोग करता है। उससे जब कहते हैं कि 'तू पढ़ा-लिखा नहीं है, मूर्ख लगता है' तो वह कहता है कि 'मैं बी. एस-सी., एम. एस-सी. हूँ।' उससे क्या हुआ ? अपनी मातृभाषा तो पढ़ा नहीं है। वह कहता है कि 'मैंने तो विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़ा है।' दूसरे सब सोचते हैं कि यह पंडित है। दूसरा व्यक्ति सुन्दर-से-सुन्दर मातृभाषा का प्रयोग करता है, उससे वह पूछता है कि 'तुम क्या

कह रहे थे मैं नहीं समझा।' लोग उससे कहते हैं कि 'आप पढ़े-लिखे नहीं हैं।' वह भी कहता है कि 'मैं विदेशी भाषा नहीं जानता।' बैठने वाले समझते हैं कि यह मूर्ख है। लेकिन सोचो कि यदि परमात्मा का तुम्हें विदेशी भाषा पढ़वाना तात्पर्य होता तो तुम्हें विदेश में ही पैदा करते। यदि वहाँ भी यही मानें कि हमसे अपनी भाषा नहीं पढ़ी जाती, हम तो फ्रेंच, जर्मन कुछ भी बोलेंगे, तो मातृभाषा, राष्ट्रभाषा आदि का विचार ही निरर्थक है। इसी प्रकार छोटी-से-छोटी चीज़ में समझना : वस्त्र आदि जितनी चीज़ें हैं सर्वत्र नियम होना चाहिये कि जहाँ हो वहीं तुम्हारी श्रेष्ठता है। 'दूसरे निकृष्ट हैं' यह हम नहीं कह रहे हैं। यदि वहाँ रहने वाला भी अपनी मातृभाषा को नहीं जानता है तो उसकी भी गलती है।

एक विषय में तो आजकल के लोग भी बड़े आदर वाले हैं! यदि हम किसी से कहें कि 'हमें तो इज़रायल देश ही अच्छा लगता है इसलिये भारतवर्ष में रहकर हम इज़रायल वालों को स्वीकार करके वहाँ भारत की सभी सूचनाएँ भेजते रहेंगे' तो सब ज़रूर कहेंगे कि 'तुम देशद्रोही हो क्योंकि पैदा भारत में हुए हो और कल्याण दूसरे का चाहते हो।' जैसे ब्राह्मण पैदा होकर कहता है कि दूसरे वर्ण का कार्य करूँ, ऐसे ही दूसरे देश का कार्य करना भी गलत नहीं होना चाहिये ! अधिकतर जो अपने को आधुनिक मानने वाले हैं वे भी उसे देशद्रोह के नाम से कहते हैं, अर्थात् राष्ट्रीयता को जन्मना ही मानते हैं कि तुम जहाँ पैदा हुए उसी के प्रति वफादारी रखो। नियम सर्वत्र एक ही आयेगा, केवल देश को लेकर नहीं हो सकता।

ये नामरूपकर्मात्मक कामनायें ही हमें पथभ्रष्ट कर देती हैं,

दीन-हीन और दुःखी बना देती हैं। उसकी जगह कामनाओं को छोड़कर जब हम धर्मबुद्धि, कर्त्तव्यबुद्धि में आते हैं तब जो रज अर्थात् नामरूपकर्मात्मक लोक हैं वे ही हमारी उन्नति का भी कारण बनेंगे।

प्रवचन—५

सत् और असत् से विलक्षण, अव्यक्त अनिर्वाच्य अविद्या ही जगत् का निमित्त कारण है। इसी को विस्तार से बताते हैं कि जो कुछ भी व्यक्त था, व्यक्त है और व्यक्त होगा वह सब सृष्टि से पूर्व नहीं था। व्यक्त का मतलब ही है लोक अर्थात् अनुभव का विषय बनना। यदि अनुभव की विषयता में रजोगुण की वृत्ति प्रवृत्ति का कारण बनती है तो बंधन का कारण बनती है। यहाँ लोकों को रज शब्द से कहा है। जैसे धूलिपटलरूप रज आकाश या नभ को आच्छादित कर देती है और धूलिपटल आकाश में दीखता है वैसे ही इन विषयों से आवृत हो जाने से विषय दीखते हैं, शिव नहीं।

फिर इन विषयों का प्रयोजन क्या है ? वेद कहता है कि प्रयोजन कुछ था लेकिन कर लिया गया कुछ और। 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' ऋग्वेद कहता है कि यह सारा जगत् सृष्ट या व्यक्त क्यों हुआ ? परमात्मा का रूप अर्थात् परमात्मा की अनंतता का प्रख्यापन करने के लिये, जिससे परमात्मा के रूप को अर्थात् अनंतता को लोग समझ सकें, वह स्पष्ट हो सके, व्यक्त हो सके।

उद्देश्य तो यह था, लेकिन फल यह हो गया 'आरामम् अस्य पश्यंति न तं पश्यति कश्चन'। लोग परमात्मा की इस क्रीडा, खेल, लीला या इस विस्तार को अथवा इस प्रकट प्रंपच को देखते हैं लेकिन उस परमात्मा को जहाँ यह लीला है, जिसने यह सब बनाया है, जिसके कारण यह सब है, उसे कोई नहीं देख रहा है ! भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'कष्टं भो ! विविक्तम् अपि परमात्मनः रूपं न पश्यति' कितने कष्ट और दुःख की बात है कि अत्यंत स्पष्ट जो परमात्मा सर्वत्र दीख रहा है, उसे देखने पर, उसके व्यक्त होने पर, विविक्त होने पर भी नहीं देखते। यद्यपि उद्देश्य लोकनिर्माण का यह नहीं था कि लोग इससे विपरीत इसी में फँस जाते वरन् इसके लिये था कि अनंतता का ज्ञान करते, लेकिन उसकी जगह उलटा फल कर लिया।

'अहो मूढत्वं लोकानाम्'—शास्त्रकार कहते हैं कि अत्यंत आश्चर्य है कि लोगों की मूढ़ता या अविवेक कैसा है ! कोई व्यक्ति आता है उसको देखते ही आदमी कहता है 'वाह ! कितनी सुन्दर तुम्हारी अंगूठी है, हीरे का नग बड़ा अच्छा है, कहाँ से खरीदा?' दूसरा भी खूब तन कर कहता है कि 'झवेरी के यहाँ से खरीदी है, अस्सी हजार रुपये लगे हैं।' वह भी कहता है 'बड़ी अच्छी जगह से खरीदी, वह ऐसी बढ़िया चीज़ बनाता है, दाम ज़रा ज़्यादा लेता है, कोई बात नहीं लेकिन चीज़ अव्वल दर्जे की बनाता है, कैसी सुन्दर कारीगरी है।' अंगूठी की इतनी शोभा हो रही है लेकिन वह अंगूठी जिस अंगुलि में है, उसकी कोई प्रशंसा नहीं। अंगुलि की सत्ता और सौन्दर्य के पीछे ही उस अंगूठी का सौन्दर्य है। कभी अजायबघर या म्यूज़ियम में जाकर हड्डी के ढाँचे को वह अंगूठी पहना के देखो कितनी शोभा देती है ! अंगूठी के हीरे की तारीफ,

उसके घड़ने वाले की तारीफ होती है लेकिन जिस अंगुली को बनाया गया, जिस अंगुली की सुन्दरता और सत्ता से उस अंगूठी की सुन्दरता, शोभा है, उसकी तरफ कोई ध्यान ही नहीं है, न उसके बनाने वाले की कोई प्रशंसा है। उसे देख रहे हैं; ऐसा नहीं हो सकता कि अंगूठी दीख रही है, अंगुली नहीं दीख रही है, लेकिन दीखने पर भी उससे बेखबर है, उसकी तरफ ध्यान नहीं है। इसी तरह वस्त्र आदि को समझ लेना। 'आपका सूट बड़ा बढ़िया सिला है, किसके यहाँ से सिलाया है?' 'वढेरा के यहाँ से, आठ सौ रुपया सिलाई दी है।' लेकिन जो उस सूट को पहने हुए है उसको तो देखो, उसके पीछे ही तो सूट की सुन्दरता और सत्ता है। यदि वह सूट किसी शव के ऊपर हो तो क्या शोभा देगा ?

'स्थानभ्रष्टा न शोभंते दंता केशा नखा नराः।' हमारे एक मण्डलेश्वर थे, उनका शरीर अब शांत हो गया है। कुंभ में समष्टि में भोजन करने गये थे। हम लोग अभी भोजन कर रहे थे, उन्होंने कर लिया था। हमारे साथ ही बैठे हुए थे। भोजन समाप्त करने के पहले अच्छी तरह से सब चीज़ें खा रहे थे, जैसे ही उनका भोजन समाप्त हुआ उन्होंने दो अंगुलियाँ मुँह में डालकर पूरा जबड़ा बाहर निकाल दिया ! मुँह पोपला हो गया, दाँत भी दीख रहे थे, वे दाँत उन्होंने एक तसले में डाल दिये, यह देखकर हम लोगों के खाने की इच्छा भी हट गई। जब तक दाँत अंदर थे तब तक मुँह भी अच्छा और दाँत भी बढ़िया लग रहे थे। पूछा—कब बनाये ? कहने लगे 'छः महीने हुए।' बाहर निकली हुई उसी चार सौ रुपये की दाँतों की जोड़ी से हमारा खाना बन्द हो गया। इसी प्रकार किसी सुन्दर स्त्री के केश देखो तो ठेठ एड़ी तक बड़े सुन्दर दीखते हैं, बड़ी प्रसन्नता होती है, बिल्कुल श्यामवर्ण के चिकने बाल हैं।

वह बढ़िया समोसा बनाकर लाती है। उसमें जो पहला कौर काटो तो लम्बा बाल निकल आये ! मुँह में लिये हुए भी थूककर रख देते हैं। दूसरा कौर नहीं लेते क्योंकि घृणा हो गई कि शायद दूसरे में भी होगा। बाल जो सिर पर शोभा दे रहा था, वही स्थानभ्रष्ट होकर शोभा नहीं दे रहा है। इसी प्रकार नखों पर बड़ी घिसाई करके उन्हें सुन्दर बनाया जाता है। उस पर मेंहदी या अन्य रंग लगाते हैं। लेकिन वही नख कटा हुआ पड़ा हो तो गया सारा आनंद भोजन करने का। इसी प्रकार मनुष्य भी अपने स्थान से, अपने चरित्र से, अपने पद से भ्रष्ट हो जाता है तो कहाँ शोभा देता है! इसलिये ये सब स्वस्थान में ही शोभा देते हैं।

सुन्दर वस्त्र स्थान पर तो शोभा देगा, सुन्दर व्यक्ति पहने हुए हो तो शोभा देगा, लेकिन किसी मुर्दे पर पड़ा हुआ क्या शोभा देगा ? लेकिन मनुष्य सूट की प्रशंसा करता है, उसकी सिलाई पूछता है, जिस दुकान से सिलाया उसका ठिकाना भी लिख लेता है, लेकिन जिस परमात्मा ने उस शरीर को बनाया उस बनाने वाले की सुन्दरता का विचार नहीं, बनाने वाले की महत्ता का विचार नहीं, उसकी तरफ दृष्टि ही नहीं। जिसकी सत्ता व सुन्दरता से सब कुछ सत्ता वाला और सुन्दर बना हुआ है उस शिव की तरफ से मनुष्य बेखबर रहता है। यह सारा जगत् वस्तुतः परमात्मा के ऊपर शृंगार है। इस शृंगार को इसलिये किया गया था कि तुम्हारा ध्यान परमात्मा की तरफ जाये। लोग अच्छे कपड़े क्यों पहनते हैं, क्यों गहने पहनते हैं ? जिससे दूसरों का ध्यान *उनकी* तरफ जाये। लेकिन ध्यान देने वाला है कि उन चीज़ों की तरफ ध्यान देते हुए उस आदमी की तरफ ध्यान ही नहीं देता। इस प्रकार

परमात्मा के ऐश्वर्य को, परमात्मा के सौन्दर्य को, नामरूपकर्मात्मक शृंगार को देखते हुए उसमें ऐसा भूल जाता है कि उसकी तरफ ध्यान ही नहीं देता।

उस सुन्दर को छोड़कर जो असुन्दर क्षण भर में देखते-ही-देखते नष्ट हो जाने वाला है ऐसे तुच्छ पदार्थों के पीछे पागल बना रहता है। सवेरे से शाम तक परिश्रम इन तुच्छ पदार्थों की प्राप्ति के लिये करता रहता है। जो नित्य और सुन्दर प्राप्त करने के योग्य है उधर ध्यान ही नहीं देता। यदि संसार में कोई ऐसा ज़रूरी काम आ जाये तो सबसे पहली चीज़ क्या कटती है? सत्संग में जाना, ध्यान करना, जप करना ही कटता है। किसी को मंत्र देने पर उससे कहते हैं कि दस हज़ार जप रोज़ कर लेना। उसका पहला प्रश्न होता है कि यदि समय न मिले तो ? लेकिन क्या जब कहीं मुनीमगिरी या आई. ए. एस. ही नौकरी के इंटरव्यू में जाते हैं तो उससे कहा जाता है कि 'तुम्हें यहाँ नौ बजे आकर पाँच बजे जाना पड़ेगा' तो वहाँ यह नहीं कहता कि यदि समय न मिले तो ! स्कूल में बच्चे को भर्ती करने जाते हैं, विद्यालय वाले कहते हैं कि 'सवेरे सात बजे बच्चे को स्कूल भेजना'; क्या कोई माता उनसे कहती है कि इतने सवेरे बच्चे की आँख न खुले तो! ऐसा कोई प्रश्न अन्यत्र नहीं पूछा जाता। लेकिन जब कहते हैं कि 'ब्राह्ममुहूर्त में उठकर भजन करना' तो पहला ही प्रश्न होता है कि इतने सवेरे न उठ सकें तो ! हमारी विचारसरणी के अन्दर सत्संग, भजन-पूजन, परमात्मसम्बन्धी कार्य सबसे गये बीते हैं, बाकी सब कार्य हो जायें तब इनका नम्बर है। जो नित्य है, सुन्दर है उसकी अपेक्षा जो अनित्य है, क्षणभर में नष्ट हो जाने वाला,

तुच्छ है, असुन्दर है, नकली है उसी के पीछे मनुष्य लगा रहता है।

जब विवेक जाग्रत् होता है तब यही नामरूपकर्मात्मक जगत् उस परमेश्वर का स्मरण कराने वाला हो जाता है। केनोपनिषद् भाष्य में भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि इस संसार को चारों तरफ देखते हैं तो कैसा दीखता है ? एक-एक ग्रह को और नक्षत्रों को देखो तो उनकी विचित्रता देखते रह जाते हो। मंगल ग्रह को देखो तो लाल, बुध ग्रह को देखो तो हल्का नीला, बृहस्पति पीला, शुक्र सफेद और शनि को देखो तो साँवला। यह परमेश्वर की सृष्टि है। ऐसा नहीं कि ग्रह को तो चलना ही है, सबको एक ही रंग वाला चलाओ। इसी प्रकार नक्षत्रों को देखो तो भिन्न-भिन्न आकार वाले नक्षत्रों के चक्र हैं। कोई दो एक-साथ चलते हैं जैसे अश्विनी, कोई छः का गुच्छा अंगूर की तरह लग जाता है जैसे कृत्तिका, कोई अकेला ही चलता है जैसे रोहिणी, कोई सींग की तरह मृगशिरा इत्यादि। नक्षत्र भी भिन्न-भिन्न तरह के हैं। यह नहीं कि सब एक ही जैसा मामला हो।

कितनी तरह के प्राणी हैं कोई ठिकाना नहीं। कभी चिड़ियाघर में जाकर देखो तो तरह-तरह के बन्दर, तरह-तरह के पक्षी, कई तरह के शेर, हिरण, किसी के सीधे सींग, किसी के सींग में सींग--बारहसिंगा और उन सब प्राणियों का उपभोग भी विविध—कोई मांसभक्षी, कोई कीटभक्षी, कोई मृद्भक्षी, कोई फलफूल को खाने वाला, कोई मूल और पत्ते खाने वाला, कोई फूल खाने वाला। इस प्रकार विविध प्राणी और उनके विविध उपभोग। प्रत्येक प्रकार के उपभोग के योग्य देह और स्थान अलग-अलग हैं। मृद्भक्षी

प्राणी मिट्टी के अन्दर ही चलता है। पत्ते खाने वाला कपि डालियों पर ही चलता है।

इन सभी सम्बन्धों को बनाने वाला परमात्मा कैसा लगता है ? भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि बड़े से बड़ा चतुर शिल्पी ले आओ और उससे कहो कि 'एक टुकड़ा तो बना कर दे' वह बना नहीं सकता। बातें तो बहुत करते हैं ! विचार करके देखो कि एक नहर इधर और एक उधर बना दी, उस पर जगह-जगह नाम लिखाया हुआ है कि यह नेहरू कैनाल है, मानो बड़ा भारी काम किया। यदि हम लोग कह दें कि 'यह गंगा भगवान् शंकर की देन है' तो कहते हैं कि यह तुम्हारा अंधविश्वास है ! अगर आगे उनसे पूछो कि 'नेहरू जी ने कब फावड़े चलाकर यह कैनाल निकाली थी, बड़े बलिष्ठ रहे होंगे ?' तब कहते हैं कि उन्होंने तो बटन दबाया था। फिर उनका नाम क्यों लिखा, खोदने वालों का नाम क्यों नहीं लिखा ? कहते हैं कि निमित्त तो वे ही बने थे। तुम कहते हो कि पहाड़ इसलिये ऊँचे उठे कि दो भूखंड साथ आये, आपस में टक्कर मारकर जुड़ गये, उसमें गड्ढे हुए, भूकम्प से ज्वालामुखी फटी इस तरह से गंगा बनी, यह शंकर ने थोड़े ही बनाई है। लेकिन वह तो तुम सब मज़दूरों का नाम ले रहे हो! बटन दबाने वाला, संकल्प करने वाला कौन है ? तुम तो संकल्प करने से, निमित्त बनने से नेहरू कैनाल वाले बन गये और वहाँ कहते हो कि 'शंकर जी ने क्या किया ? ऐसे-ऐसे समझो, विज्ञान पढ़ो तो समझ में आयेगा !' इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि वह एक अत्यंत कुशल शिल्पी है। यहाँ तुम एक अत्यंत कुशल शिल्पी से एक टुकड़ा बनाने के लिये कहो तो वह उससे

नहीं बन सकता। इतना ही नहीं तुम्हारी उन नहरों में कभी पानी रहता है, कभी नहीं रहता, वे बालू से भर जाती हैं इसलिये उनकी सफाई करते रहो। हमारी गंगा में हज़ारों सालों से किसने मजदूर लगाकर उसकी ऐसे सफाई की है ? तुम्हें तो इधर-उधर के किनारे टूटने पर कई मजदूर लगाने पड़ते हैं।

यह विचार करने वाला विवेकी तो देखता है कि यह जो बनाने वाला है यही वस्तुतः सर्वोत्कृष्ट रूप से सोचने के लायक है, यही अन्वेष्टव्य है, ढूँढने के लायक है। संसार में एक साथ दो जुड़वाँ पुत्र (यमल) एक माँ के गर्भ से पैदा होते हैं, उन दोनों के चेहरे देखो तो एक जैसे नहीं। यही उसकी निर्माण करने की विलक्षणता है। कपड़ों की मिलों में डिज़ाइन बनाने वाले नौकर रखे जाते हैं। एक बार अहमदाबाद में एक कपड़े की मिल में गये तो वहाँ कपड़े का डिज़ाइन बनाने वाला दस हज़ार रुपया महीना लेता था। उससे पूछा कि 'रोज़ कितने डिज़ाइन बनाते हो ?' वह कहने लगा कि 'यह बड़ा विचित्र, बड़ा कठिन काम है। आप लोगों को पता नहीं। दिन में नहीं, यह तो महीना सवा महीना परिश्रम करते हैं तब एक डिज़ाइन निकलती है और मेरी डिज़ाइन ऐसी चलती है कि उसकी बड़ी माँग रहती है।' हमें बड़ा आश्चर्य हुआ, सेठ ने भी कहा कि वास्तव में बड़ा परिश्रम का काम है।

हमने सेठ से कहा कि तुम्हारे छः पुत्र हैं उन छहों के लिये तुमने छहों लड़कियाँ बड़ी सुन्दर लीं तो क्या सुन्दरता ख़त्म हो गई ? अहमदाबाद के उस डिज़ाइन बनाने वाले की सोचो कि जो रोज़ नई डिज़ाइन बना रहा है और दुनिया पसन्द कर रही है और यह भी कहता है कि बड़ा पसन्द कर रही है। इसके डिज़ाइन

अच्छे-से-अच्छे बन गये तो दस-बीस हजार बनते होंगे और उसे देखो कि एक बार जो डिज़ाइन बना दी, उस डिज़ाइन का फिर दूसरा नहीं बनाता। इतना ही नहीं, उसके एक-एक टुकड़े में नवीनता है। ये व्यापारी लोग लाखों रुपये एक दूसरे को दे देते हैं तो किस भरोसे पर ? दो आदमियों के अंगूठों की छाप, दो आदमियों के दस्तखत एक जैसे नहीं होंगे। उन्हें यह भरोसा है कि किसी दूसरे की ऐसी छाप या ऐसे दस्तखत नहीं निकलेंगे। इस विश्वास पर ही बैंक वाले भी तुम्हें चैकबुक देते हैं। यदि यह विश्वास न हो और दो आदमी एक जैसे दस्तखत कर दें तो चैकबुक नहीं देते, कहते हैं 'यहीं आकर ले जाओ।'

इस प्रकार विचार करके जब देखते हैं तो उसकी अनंतता सिद्ध हो जाती है। जितना-जितना विचार करेंगे उतनी-उतनी उसकी अनंतता सिद्ध होगी, नाम रूप कर्मों में नहीं फँसोगे। इन सब चीजों को वह बड़ी सरलता से बनाता है और इन सबको बनाने में उसे कोई परिश्रम नहीं पड़ता। ऐसा नहीं कि यह सब बनाकर वह थक जाता हो और रात को आराम करता हो ! तुम आराम करोगे, वह नहीं करता। जिस समय तुम सोचते हो कि रात में भगवान् सो रहे होंगे उस समय अमरीका वाला भी यही सोच रहा होता है कि जब रात आयेगी तब भगवान् सोयेंगे ! वहाँ भी यही लीला हो रही है। यह तो तुम्हारी एक पृथ्वी की बात हुई। अनंत लोकों की तो कोई सीमा नहीं, और फिर भी छोटी-से-छोटी बात की तरफ उसका ध्यान रहता है।

विदर्भ देश में सत्यरथ नाम का राजा था। अच्छा राज्य करता था। किसी समय में कोई कर्म का भोग आया तो उसके ऊपर

शाल्व लोगों ने आक्रमण कर दिया। राजा काफी समय तक बड़ी बहादुरी से लड़ा। अंततोगत्वा राज्य को नहीं बचा पाया और युद्ध-भूमि में स्वयं भी मारा गया। शाल्व लोगों ने तुरंत जाकर घेरा डाल दिया। रानी उस समय गर्भिणी थी। उसने विचार किया कि पति तो मर गया और यदि किसी तरह से इन लोगों ने मुझे देख लिया तो वंशनाश हो जायेगा। इसलिये वह बड़े यत्न से किसी प्रकार वेश इत्यादि बदलकर वहाँ से निकल गई। ये सब जो उसे मानसिक विपत्तियाँ भोगनी पड़ीं, उससे उसे घबराहट हो गई तो जंगल में जाकर एक तालाब के किनारे उसने वृक्ष के नीचे आश्रय लिया। ऐसे समय में भगवान् शंकर के चरणकमलों का स्मरण करते हुए किसी तरह तालाब के किनारे रात निकाली। इसी समय इन सब कारणों से उसको गर्भवेदना हो गई और वहीं उसका पुत्र भी उत्पन्न हो गया जो देखने में भी बड़ा सुन्दर था और बाकी भी सब लक्षणों से युक्त था। कहाँ तो विदर्भराज की रानी और कहाँ जंगल में अकेली बिना किसी सहायता के पुत्र उत्पन्न हुआ! पुत्रोत्पत्ति के बाद उसे तीव्र भूख लगी क्योंकि यह स्वाभाविक हुआ करता है। इसीलिये बच्चा होने के पहले ही बेचारी सासें बड़ा माल बनाकर रखती हैं कि बच्चा होने पर खिलायेंगी। लेकिन वहाँ जंगल में उस बेचारी को कौन खिलाये ? उसने विचार किया कि दिव्य सरोवर सामने है, इसका पानी ही पी लूँ और किसी तरह से भूख को दबाऊँ। पानी पीने के लिये उतरी तो वहीं उसे एक मगर आकर खा गया।

वह बच्चा जिसकी अभी नाल काटने वाला वहाँ कोई था ही नहीं, ऐसे ही ऊबड़-खाबड़ पर पड़ा हुआ रो रहा है। भगवान् शंकर

ने विचार किया कि इसकी माँ मेरा स्मरण करते हुए इसको लेकर आई, इसलिये इसे बचाना है। कोई भिखारिन वहाँ से होकर दूर जा रही थी। उसके मन में तालाब में जाकर पानी पीने की प्रेरणा हुई। वह वहाँ पहुँची तो उसने बच्चे का रोदन सुना। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस जंगल में कौन-सा बच्चा रो रहा है ! पास आई तो देखा कि एक बच्चा जिसका सद्यःप्रसव हुआ है, जिसकी अभी कोई सफाई नहीं हुई है, रो रहा है। उसने चारों तरफ देखा, लेकिन वहाँ कोई था ही नहीं। सोचने लगी कि यह कैसी विचित्र बात है। यदि किसी से कहूँगी कि घोर जंगल में जहाँ कोई मनुष्य नहीं वहाँ पैदा हुआ बच्चा रखा है—तो कौन मानेगा ? लोग कहेंगे कि इसकी सम्भावना ही नहीं। ऐसा कहा ही नहीं जा सकता। न मन से सोच सकते हो, न वाणी से कह सकते हो, लेकिन मेरे अन्दर किसी ने प्रेरणा की है तो निश्चित है कि कृपायुक्त जो भगवान् महेश्वर हैं, वही अन्तर्यामीरूप से इसके रक्षक हैं, उन्होंने ही मुझे यहाँ आने की प्रेरणा की है।

उसने निर्णय किया कि 'मैं इस बच्चे को ले जाकर इसकी रक्षा करूँगी'। उसका अपना भी सालभर का बच्चा था इसलिये दूध भी सद्यःउपलब्ध हो गया। उसके मन में फिर यह संशय आया कि पता नहीं यह कोई भूतप्रेत हो, न जाने किस कुल का हो, ऐसे अज्ञात कुल-शील वाले को मैं कैसे ले लूँ ? उसके मन में यह संदेह होने पर भगवान् शंकर ने विचार किया कि केवल अंतर्यामी रूप से प्रेरणा देकर काम नहीं हुआ इसलिये अब बहिर्यामी भी बनना पड़ेगा। करुणा से प्रेरित होकर उन्होंने एक संन्यासी का रूप धारण किया। वह महेश्वर महान् लीला करने

वाला है जिसने संन्यासी का रूप धारण किया। विचार करो कि जगत् के एक कोने तक में उनका कितना ध्यान है। इतने ग्रह-नक्षत्रों को चलाते हुए भी उनकी करुणा कहीं ढीली नहीं होती। वहाँ आकर उससे कहा कि 'तू निःसंदेह होकर इस पुत्र का पालन कर। इस शिशु के पालन से शीघ्र ही तेरा कल्याण होगा। संदेह मत कर।' वह उसे लेकर गई और एकचक्र नाम के गाँव में जाकर निवास किया।

धीरे-धीरे बच्चा बड़ा हुआ। वह चूँकि ब्राह्मणी थी, उसने बच्चे का संस्कार भी कराया और उसको 'ॐ नमः शिवाय' का मंत्रोपदेश भी करवा दिया। प्रतिप्रदोष उसने शिवपूजन का नियम कर लिया और व्रत भी रखा। जब वह अठारह साल का हुआ तो वन में गया, प्रायः ही जाया करता था। वहाँ उसे एक गंधर्वराज ने देखा, योग्य व्यक्ति को देखकर उससे पूछा 'तू कौन है ?' उसने कहा—'मैं एक ब्राह्मणी के घर में पला हुआ लड़का हूँ।' गंधर्वराज ने उसके अंगप्रत्यंगों को देखकर कहा कि 'तू ब्राह्मण नहीं, राजा का पुत्र है, मैं भी गंधर्वराज हूँ, तू मेरी कन्या से विवाह कर, मैं तुझे फौज दूँगा जिससे तू जाकर अपने राज्य को फिर कायम कर।' उसका विवाह हो गया, गंधर्वराज की फौज की सहायता से उसने पुनः राज्य जीता और सम्राट् पद को प्राप्त हो गया। उस भिखारिन को उसने राजमाता का पद दिया जिससे उसका भी कल्याण हो गया। यह परमेश्वर की विचित्रता है कि इतने भिन्न प्रकार की सृष्टि करते हुए भी सर्वत्र ध्यान देता है।

इसे केवल एक ही विदर्भदेश की कथा नहीं समझ लेना। प्रत्येक प्राणी की यही कथा है। दर्भ कुशा या दाभ को कहते हैं।

जितने भी शुभ कर्म किये जाते हैं उन सबके अन्दर दर्भ को धारण करना पड़ता है। इसलिये दर्भ कर्म है क्योंकि उससे ही कर्म होता है। एक कर्म और एक विशेष कर्म, 'वि'-'दर्भ' होता है। विशेष कर्म वह होता है जिसमें परमात्मा की प्रसन्नता ही हमारा उद्देश्य हो। कर्मफल की प्राप्ति के लिये कर्म करना सादा दर्भ है और परमात्मा की प्रसन्नता के लिये कर्म करना विदर्भ है। यही कर्म की विशेषता है। भगवान् ने भी कर्म में कुशलता को योग कहा 'योगः कर्मसु कौशलं'! कुशल शब्द में कुश दाभ को कहते हैं जो दोनों तरफ बड़ी पैनी होती है। जो चतुर व्यक्ति होता है वह जब कुश को उखाड़ता है तब ऐसे ढंग से काटता है कि हाथ नहीं कटता। जो न जानने वाला हो, नया-नया रंगरूट हो, उससे उखाड़ने को कहो तो कुश बाद में कटेगा, उसका हाथ पहले कट जायेगा ! कुशल का मतलब ही है जो कुश को उखाड़ सके अर्थात् पैनी चीज को हाथ में लेकर भी हाथ को बचा सके। संसार में कर्म करते हुए कर्म तुमको पाप-पुण्य फल देकर बार-बार जन्म-मरण के बंधन में डालता है। कर्म करो लेकिन उसके पाप-पुण्य रूप फल से बच जाओ—यह योग का तरीका है। योग का मतलब है ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना। दो प्रकार से ईश्वर को प्रसन्न करने वाले कर्म होते हैं।

उस विदर्भदेश में सत्यरथ नाम का राजा राज्य करता था जिसका सत्य ही रथ है। उपनिषद् में जहाँ साधनाओं का निरूपण किया वहाँ धर्म को कहकर फिर सत्य को आयतन बताया है। वहाँ प्रश्न उठा कि सत्य भी तो एक धर्म ही है ? सत्य धर्म होने पर भी इसका वैशिष्ट्य है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में

'धर्मं चर' के साथ ही कहा 'सत्यं वद'। धर्म के आचरण में सत्य तो आ ही गया, फिर अलग से क्यों कहा ? उसके वैशिष्ट्य-प्रतिपादन के लिये ही कहा है। सनातन धर्म का सबसे अधिक ज़ोर सत्य पर है इसलिये जहाँ कहीं साधनों का निरूपण आता है वहाँ सबसे पहले सत्य को रखते हैं 'सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा'। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर तो कहते हैं कि प्राण छूटने पर भी जो सत्य का त्याग नहीं करता है उसी के हृदय में ब्रह्मविद्या प्रसूत होती है क्योंकि ब्रह्म सत्यरूप है। उस सत्यरूप रथ के ऊपर जो हमेशा चढ़ा रहे वही सत्यरथ राजा है। इसकी विशेषता यह है कि शुभ कर्म करने पर भी वह शुभ कर्म ईश्वर की प्रसन्नता के लिये करता है और कभी भी सत्य को नहीं छोड़ता। यह साधक है जो काफी समय तक कर्म इत्यादि में लगा रहता है।

किसी समय शाल्व इसके ऊपर आक्रमण करते हैं। 'शुल्वो रज्जुः शुल्व एव शाल्वः'; रस्सी मनुष्य को बाँधती है। यह ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म तो करता है लेकिन मन के अन्दर जो सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण की रस्सियाँ हैं, वे इसे बाँधती रहती हैं। यही गुणों से अभिभूत होना है। इस प्रकार के कर्म और उपासना में लगा रहने वाला व्यक्ति भी यह पाता है कि हमारे मन में सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण का उदय होता है इसलिये परम स्थान की प्राप्ति नहीं हो पाती। यह तब हो जब तुम मन के स्वरूप को छोड़ो, मन से अलग हो सको। इसीलिये वह उस राज्य से मानो भ्रष्ट हो गया, लेकिन किस रूप में रह गया ? हमारे यहाँ कहा है 'आत्मा वै पुत्रनाम' मनुष्य स्वयं ही पुत्ररूप में उत्पन्न होता

है। इसलिये राजा का कर्मिष्ठ रूप तो नहीं रहा लेकिन पुत्ररूप से पत्नीरूप बुद्धि के अंदर वे ही संस्कार बैठे हुए हैं। पत्नी एकांत वन में चली जाती है। जब दीर्घ काल तक ईश्वरार्पण-बुद्धि से मनुष्य कर्मानुष्ठान सत्य का आश्रयण करके करता है तब उसके अन्दर वैराग्यरूपिणी बुद्धि पैदा होती है जिसके कारण वह एकांत में जाकर बैठता है। वहीं ज्ञानरूप पुत्र की उत्पत्ति होती है। ज्ञानरूप पुत्र उत्पन्न होते ही माता मर गई। तात्पर्य यह है कि जिस काल में निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होगा उस काल में बुद्धि भी नहीं रह जायेगी। मन से छूटा, बुद्धि से भी छूटा, चूँकि वह तो मन और बुद्धि दोनों के परे है। अब उसकी रक्षा करने वाला अंतर्यामी परमात्मा है। उन्हीं की प्रसन्नता के लिये तो उसने सब कर्म किये थे।

इसलिये भिखारिन आकर उसकी रक्षा करती है। 'भिक्षाचर्यं चरन्ति' श्रुति कहती है कि ज्ञान होने के बाद फिर भिक्षा से ही अपना काम चलाता है क्योंकि भिक्षा के अन्दर ही अपनी अधिकारभावना का सम्यक् त्याग होता है। जब तक तुम अपने अधिकार से कुछ प्राप्त करते हो तब तक अहम् का बंधन नहीं जाता। कई बार लोग कहते हैं कि 'और तो कोई इच्छा नहीं लेकिन किसी के सामने हाथ न फैलाना पड़े।' यह अहंकार ही तो है। यह अहंकार का बंधन अभी बना हुआ है इसलिये उसको हटाने के लिये, अपनी अधिकारभावना को छोड़ने के लिये श्रुति कहती है 'भिक्षाचर्यं चरन्ति'। भिखारिन के घर ही ज्ञानरूप पुत्र बड़ा हो पाता है अर्थात् जब ज्ञान की दृढता हो पाती है तब उसके बाद, जैसे वहाँ गंधर्व की पुत्री से विवाह होकर पुनः अपना राज्य प्राप्त

करके सम्राट् पद को प्राप्त कर लेता है, वैसे अब जो भी प्रारब्ध की प्रवृत्ति है उस प्रारब्ध के अनुकूल ही आचरण और व्यवहार करता है लेकिन उससे सम्राट् बना रहता है। यही है उसके पूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति। प्रत्येक जीव इस प्रकार से जब इन साधनों के द्वारा जाता है तब उस दिव्य साम्राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर पाता है, अन्यथा नहीं।

यह सारा संसार परमात्मा ने किस लिये बनाया ? इस भाव की प्राप्ति के लिये ही बनाया। हमेशा जागरूक रहकर जो कोई भी इस साधन में प्रवृत्ति करता है उसके ज्ञानरूप पुत्र की रक्षा परमेश्वर अन्तर्यामी व बहिर्यामी रूप बनकर करता है; अर्थात् जो कोई भी ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म-उपासना में लगता है वह परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर सके इसके लिये स्वयं परमात्मा ही व्यवस्था बनाते रहते हैं। जहाँ अन्तर्यामी बनकर काम चलता है वहाँ अन्तर्यामी बनकर और जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ वह महालीलावान् होने के कारण बाह्य रूप में आकर भी रक्षा करता है। यह इस बात को बताने के लिये है कि इस मार्ग में चलने वाले को कभी भय नहीं करना चाहिये।

यहाँ कह रहे हैं कि उस समय अर्थात् प्रलयकाल में लोक नहीं थे 'नासीद्रजः'; फिर शंका होती है कि बनाया क्यों ? उसका उत्तर दिया कि बनाया था इसकी प्राप्ति के लिये लेकिन लोग उस नामरूप कर्म को लेकर ही अटक गये।

प्रवचन—६

सृष्टि का वर्णन करने के पूर्व सृष्टि की प्रागवस्था का अर्थात् पहले की स्थिति का प्रतिपादन करते हैं। उस समय कुछ नहीं था ऐसा भी नहीं था और जिसको लोक में कुछ-शब्द से कहा जाता है ऐसा नाम-रूप-कर्म भी नहीं था। नाम-रूप-कर्म नहीं था इसी का प्रतिपादन विस्तार से करना है। पहले बताया "नासीद्रजः" अर्थात् जहाँ भोग उपलब्ध होते हैं ऐसे लोक नहीं थे। अब कहते हैं "नो व्योमा परो यत्" भोक्ता भी नहीं थे, परव्योम वहाँ नहीं था। एक व्योम यह आकाश है जिसको भूताकाश कहते हैं और दूसरा परव्योम है जिसको चित्ताकाश कहते हैं। मन के अन्दर जो पदार्थों का ग्रहण होता है वह उतना ही ग्रहण होता है जितना बड़ा यह बाह्याकाश है। यदि मन में आकाश न हो तो ग्रहण कहाँ से हो ? इसीलिये हार्दाकाश को आकाश-शब्द से कहते हैं। छांदोग्य उपनिषद् उसे "हृद्यन्तराकाशः" हृदय के अन्दर होने वाला आकाश कहती है। तैत्तिरीय उपनिषद् उसे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्" स्पष्ट ही परव्योम शब्द से कहती है।

यह जो हार्दाकाश है इसके अन्दर जीव बैठता है। यहाँ बैठा हुआ ही वह भोक्ता बनता है। यद्यपि आत्मा सर्वव्यापक है तथापि भोक्ता वह तभी बनेगा जब हार्दाकाश में आयेगा। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सर्वव्यापक हैं, जहाँ भी रास्ते या गली में चल रहे हो या कमरे की खिड़की में से झाँक रहे हो वहाँ सब जगह सूर्य की किरणें हैं लेकिन सूर्य जगमगाता हुआ तो दर्पण में ही प्रतीत होता है। दर्पण के अन्दर सूर्य की रश्मियों के द्वारा सूर्य ही प्रतीत हो जायेगा। अन्यत्र भी सूर्य की किरणें हैं लेकिन वे सूर्यवत् प्रतीत नहीं होतीं। यह नहीं समझ लेना कि दर्पण में पड़ने वाली किरणें कुछ और जाति की होंगी ! किरणें वही हैं। सूर्य की रश्मियों में कोई भेद नहीं है। लेकिन रश्मि को ग्रहण करने वाले आधार दर्पण का भेद है। यदि जल में देखोगे तो सूर्य का बिम्ब उतना जगमग करता नहीं दीखेगा। उसकी अपेक्षा यदि किसी दीवाल के ऊपर नया-नया ऐनेमल पेण्ट किया हो तो उसमें सूर्य का प्रकाश ज़्यादा चमकेगा। उसकी अपेक्षा भी यदि कोई तलवार नई-नई सान की हुई है तो उसमें अधिक चमकेगा। दर्पण में सर्वाधिक चमकेगा। सूर्य की किरणों में फरक नहीं है, फरक किरणों को ग्रहण करने वाले आधार में है। दीवाल और तरह से ग्रहण करती है, पेण्ट की हुई दीवाल और तरह से ग्रहण करती है, धातु और तरह से ग्रहण करता है और दर्पण और तरह से ग्रहण करता है।

इसी प्रकार से आत्मा तो सब जगह एक है। घट के अन्दर जैसे सत्तारूप आत्मा, वैसे ही हार्दाकाश में भी आत्मा है। हृदय के अन्दर कुछ अधिक आत्मा होगा और बाह्य जड जगत् के अन्दर कुछ कम आत्मा हो ऐसा नहीं है। वह तो एक ही है लेकिन घड़ा

इत्यादि जड पदार्थ केवल सामान्य रूप से उससे प्रकाशित हो जाते हैं, स्वयं प्रकाशक नहीं बन पाते। हार्दाकाश में यह विशेषता है कि वहाँ पड़ा हुआ आत्मा का स्वरूप ज्ञाता बन जाता है।

दूसरे दृष्टांत से समझो : पानी को चूल्हे पर चढ़ाकर गरम करो, पानी गरम हो जायेगा। ज़्यादा गरम करो तो भाप बनकर उड़ने लग जायेगा। गरम करते-करते सारा पानी उड़ जायेगा, भाप बन जायेगा। पानी गरम होता गया, उड़ता गया लेकिन इतना सब गरम करने पर भी पानी में अग्नि का प्रकाश नहीं आयेगा। चाहे जितना आग के साथ पानी को रखो, पानी के अन्दर रोशनी नहीं आयेगी। अब लोहे को लो, गरम करो; गरम हो जायेगा। और गरम करो तो हल्का लाल हो जायेगा। अंत में पूरी तेजी के साथ वह लाल चमक कर रोशनी देने लगेगा। ऐसा नहीं है कि पानी को गरम करने वाली अग्नि कोई दूसरी हो, लोहे के खण्ड को गरम करने वाली अग्नि कोई दूसरी हो ! अग्नि वही है, अग्नि का प्रवेश भी जैसे पानी में वैसे लोहे में, लेकिन पानी में यह सामर्थ्य नहीं कि अग्नि की तरह प्रकाश देने लग जाये, लोहे में यह सामर्थ्य है।

इसी प्रकार जड पदार्थों में यह सामर्थ्य नहीं कि आत्मा की चेतनता का प्रकाश देने लग जायें, आत्मा से सत्ता लेना, आत्मा से प्रकाशित होना तो जड पदार्थों की सामर्थ्य है लेकिन स्वयं आगे किसी को जान लेना उनकी सामर्थ्य नहीं है। हार्दाकाश के अन्दर यह विशेषता है कि यहाँ आत्मा जानने वाला बन जाता है। आत्मा की उस सामर्थ्य को वह ग्रहण कर लेता है। जब वह जानने वाला बन जाता है तभी उसको 'जीव' कह दिया जाता है।

एक बात और समझने की है : मिट्टी से ही दीवाल बनती है, ईंट लगाओ तो मिट्टी, उसपर सीमेंट करो तो मिट्टी, गारा भी मिट्टी, और अंत में चूना भी मिट्टी ही है। और काँच भी मिट्टी से ही बनता है। बालू को गरम करके काँच बनाया जाता है। काँच भी मृद्विकार ही है और दीवाल भी मृद्विकार ही है। दोनों जिससे बनी उस मिट्टी में फरक नहीं है, फिर भी एक प्रकाश को लेकर प्रकाश को दे सकता है और दूसरा प्रकाश को ले सकता है, दे नहीं सकता। उसके बनाने के तरीके में फरक है। ठीक उसी प्रकार से उन्हीं पंचमहाभूतों से बाहर का जड जगत् बना है और उन्हीं पंचमहाभूतों से मन-इन्द्रियाँ बनी हैं। ऐसा नहीं समझना कि मन और इन्द्रियों को बनाने वाली सामग्री कोई और है, बाहर के संसार के पदार्थों को बनाने के लिये सामग्री कोई और है। उन्हीं पंचमहाभूतों से दोनों बने हैं। फरक दो हैं—पहली बात, बाह्य पदार्थ पंचमहाभूतों के पंचीकरण के द्वारा बने हैं। यह प्रक्रिया आगे भी आयेगी। दो आना आकाश, दो आना वायु, दो आना तेज, दो आना जल और आठ आना पृथ्वी को मिलाया गया तब पृथ्वी का पंचीकरण हो गया। पंचीकरण के द्वारा पदार्थ स्थूल हो जाते हैं। दूसरी बात, पंचमहाभूतों के तमोगुण से बाह्य पदार्थ बने हैं। और अपंचीकृत भूतों के सत्त्व-रजोगुणों के द्वारा मन, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं। पंचमहाभूत वही हैं। जैसे चिकनी मिट्टी से घड़ा और बालू जैसी भुरभुरी मिट्टी से काँच बनता है, हैं दोनों मिट्टी ही; उसी प्रकार यहाँ पंचमहाभूतों के सत्त्व-रज के द्वारा जानने और करने वाले साधन बने हैं और तमोगुणांश से जानी जाने वाली और की जाने वाली चीजें बनी हैं। शास्त्रीय

भाषा में पंचमहाभूतों के सत्त्वगुण से ज्ञान का आश्रय मन और ज्ञानेन्द्रियाँ बनीं, पंचमहाभूतों के रजोगुणांश से प्राण और कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् क्रिया का आश्रय बना, तथा ज्ञान और क्रिया का जो विषय है वह तमोगुणांश है। ज्ञान करेगा सत्त्वगुण और तमोगुण का ज्ञान करेगा। क्रिया करेगा रजोगुण, तमोगुण पर करेगा। आधारभूत रूप से पंचमहाभूत ही हैं।

यहाँ परव्योम अर्थात् जानने वाले को बता रहे हैं। इस परव्योम की विशेषता जानना ही है। इसीलिये उपनिषद् में बताया कि यह पुरुष या जीव मनोमय है, मन ही है। भाष्यकार कहते हैं कि मन के द्वारा ही उसे उपलब्धि होती है इसलिये उसे मनोमय कह दिया। जीव मन के द्वारा ही तो सिद्ध होता है। जब मन कार्य नहीं करता तब जीव कौन-सा कार्य करता है ? जानना ही उसका एकमात्र स्वरूप या सद्भाव है। यही फरक जड और चेतन में है। चेतन जानता है और जड नहीं जानता है। वह जब अन्दर मिलता है तो अतिसूक्ष्मभाव से मिलता है जैसे चावल या जौ का छोटा-सा दाना हो। यह जो इतना बड़ा सूर्यमण्डल है उसको यदि तुम छोटी-सी अंगूठी के काँच में देखो तो बिल्कुल छोटा-सा दीखेगा, दो मिलीमीटर परिधि में दीखेगा। सूर्य तो वैसा ही है लेकिन उपाधि, जहाँ उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह छोटी है इसलिये वह छोटा दीखता है। इसी प्रकार यह हार्दाकाश अथवा परव्योम अत्यंत छोटा है। इसलिये सर्वव्यापक आत्मा भी यहाँ छोटा-सा दीखता है जैसे चावल या जौ का दाना छोटा-सा होता है।

व्रीहि का दृष्टांत इसलिये दिया कि उसमें ऊपर खोल होती है और अन्दर चावल होता है। खोल तो प्रत्यक्ष दीखती है और

उसके अन्दर चावल बुद्धिमान् को दीखता है। कहते हैं खेत में इस साल धान अच्छा, इस साल खराब हुआ। इस साल चावल अच्छा, इस साल चावल खराब हुआ। वहाँ चावल थोड़े ही दीख रहा है। दीख तो धान रहा है लेकिन चावल के दाने का धान से पता चल जाता है। ठीक इसी प्रकार हम लोगों को दीखता तो हमेशा मन के खोल में बन्द आत्मा है। इसलिये साधारण आदमी मन को देखता है, मन को समझता है लेकिन मन के अन्दर जो है उसको तो शास्त्रदृष्टि वाला ही जानता है। बुद्धिमान् ही समझता है, नहीं तो मन को ही सब कुछ समझ लेते हैं, मन के अनुसार चलने को अपने अनुसार चलना मानते हैं। अधिकतर लोग कहते हैं कि "हमें स्वतंत्रता चाहिये, हम शास्त्र का बंधन क्यों माने ?" हम कहते हैं—बात तो बिल्कुल ठीक है लेकिन शब्द तुम्हारे ग़लत हैं। तुम उसे *स्व*तंत्रता नहीं *मनस्तंत्रता* कहो। मन और स्व एक थोड़े ही हैं ! शास्त्र की अधीनता छोड़कर यदि तुम स्व की अधीनता लेते हो तब तो हम कहेंगे बहुत अच्छा है, ज़रूर लो। जैसे मान लो कोई आदमी सरकारी नौकरी छोड़कर अपना व्यापार करे तो हम कहेंगे "ज़रूर करो"। लेकिन यदि वह सरकारी नौकरी छोड़कर प्राइवेट नौकरी में जा रहा हो तो कहेंगे कि "खतरे का मामला है, क्योंकि सरकारी नौकरी में स्थिरता से बैठे हो और प्राइवेट में चाहे जितना काम करो, एक दिन मालिक कह देगा कि यह लो दो महीने का वेतन और जाओ।" अपना व्यापार करते हो तब तो ठीक है, उन्नति की सम्भावना है।

इसी प्रकार इस सारे संसार को चलाने वाली ईश्वर की सरकार है। शास्त्र के अधीन चलने वाला ईश्वर का नौकर है। लोक में

भी कहीं पर अन्न या कपड़े की कमी हो तो सबसे पहले सरकार अपने नौकरों का ख्याल रखती है, बाकियों का बाद में नम्बर आयेगा, क्योंकि वे तो उसके आश्रित हैं। इसी प्रकार संसार को चलाने वाला परमेश्वर है और शास्त्र के अनुसार चलने वाला परमेश्वर का नौकर है। इसलिये उसके सुख-दुःख को परमेश्वर हमेशा देखता रहेगा। यदि परमेश्वर की नौकरी छोड़कर जो ईश्वर का अधिष्ठान तुम्हारा अपना आत्मस्वरूप है उसकी तरफ जाते हो, तब तो कहेंगे कि छोड़ दो, क्योंकि स्वतंत्रता की तरफ जा रहे हो। मनु ने स्वयं यह बात कही

'यथोक्तान्यपि कर्माणि प्रविहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे चैव वेदाभ्यासे च यत्नवान्।।'

मैंने जितने भी कर्म बताये; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के धर्म गिनाये, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी, मनुष्य, स्त्री इत्यादि सबके बहुत धर्म गिनाये हैं; जो आत्मविवेकी विचारशील है वह इन सबको छोड़कर आत्मज्ञान, जो अपना स्वरूप है उसकी प्राप्ति में लगे। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये साधन भी बता दिया शम अर्थात् मन को शम के द्वारा नियंत्रण करे। अंतःकरण को वृत्तिहीन बनाये। उसका भी साधन बता दिया 'वेदाभ्यासे च यत्नवान्'। बार-बार वेद के विचार में, वेदार्थ के विचार में लगते हुए मन को नियंत्रित करते हुए आत्मज्ञान में लगो तब कर्मों को छोड़ दो। इसलिये यदि ईश्वर की नौकरी छोड़कर तुम आत्मज्ञान की प्राप्ति में लगते हो तब तो जरूर छोड़ दो। लेकिन जैसे सरकारी नौकरी छोड़कर प्राइवेट नौकरी करोगे तो कब हटा दिये जाओगे इसका कोई ठिकाना नहीं, ऐसे ही यदि यहाँ भी

धोखा खा गये कि शास्त्र-आज्ञाओं को छोड़कर मनोमुखी हो गये, तो यह मन तुम्हें कब ठोकर मारेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं!

इसको ठोकर मारते देरी नहीं लगती। रास्ते में जा रहे हो, बढ़िया दहीबड़े और गरम-गरम कचौड़ी की दुकान आ गई। यह मन आज्ञा देता है "खा लो, बढ़िया है।" यदि तुमने मन की नौकरी कर रखी है तो खाओगे और यदि शास्त्र की नौकरी कर रखी है तो नहीं खाओगे, सोचोगे—पता नहीं यह आदमी किस जाति का, किस गुण का है, नहाकर बना रहा है या नहीं, कहाँ रास्ते में खड़े-खड़े खायेंगे, हाथ-पैर धोने की जगह है या नहीं; इत्यादि सब विचार करके शास्त्राज्ञा को मानने वाला तो नहीं खायेगा। लेकिन मन की आज्ञा को मानने वाला खा लेगा। मन तो प्राइवेट मालिक है ! तुमने खा लिया। शाम को पेट खराब हो गया, खट्टी डकारें आने लग गईं, पेट में वांयटा चलने लगा। तब मन झट कहेगा कि "क्यों खाया था ?" उससे कहो "तेरी ही तो आज्ञा मानी थी", तो वह कहेगा "उससे क्या मतलब ? अब तुम नौकरी से निकाल दिये गये।" बस इतनी ही देरी मन को "न" करने में लगती है।

यदि मनस्तंत्रता स्वीकार ली, मन के अधीन बन गये, तो प्रतिक्षण दुःख-ही-दुःख पाते रहोगे। इससे बचने का कोई उपाय नहीं है। इसलिये यदि आत्मज्ञान की दृष्टि से कर्मों का त्याग, शास्त्रीय कर्मों का त्याग करते हो तब तो इष्ट है। लेकिन यदि मन के अधीन बनना चाहते हो तब शास्त्रीय कर्म का त्याग नहीं बनता। व्रीहि के दृष्टांत से यह बताया कि मन की कोथली में, मन के आवरण में या खोल में आत्मा है लेकिन साधारण आदमी

के लिये दोनों एक ही हैं। इसलिये साधारण आदमी आत्मा और मन के भेद को नहीं समझ पाता। हर हालत में वहाँ दीखता छोटा ही है।

दूसरा दृष्टांत जौ का दिया। जौ के ऊपर भी खोल होती है लेकिन जौ की खोल और चावल की खोल में थोड़ा फरक है। चावल तो तुष से अलग रहता है, बजाने पर वह बज भी जायेगा, लेकिन जौ पर वह कसी हुई रहती है। जौ के द्वारा अविवेकी की दृष्टि बताई। विवेकी तो खोल को देखकर बुद्धि के द्वारा अन्दर रहने वाले चावल को कुछ समझता भी है, है परोक्ष ज्ञान, अभी अपरोक्ष तो नहीं हुआ, चावल दीख नहीं रहा है, फिर भी दोनों का भेद कुछ समझ में आता है, बजा कर उसका परोक्षज्ञान कर लेता है। इसी प्रकार आत्मा मन से भिन्न है ऐसा विवेकी को परोक्ष अनुभव तो हो जाता है। परोक्ष होता है—तभी तो कहते हो कि 'आज ध्यान करने बैठे लेकिन मन नहीं लगा, मज़ा नहीं आया।' यहाँ एक ही वाक्य से तीन बातें कह रहे हो—ध्यान करने बैठा, मन नहीं लगा और मज़ा नहीं आया। 'ध्यान करने बैठा' इसके द्वारा अपना परिचय दे रहे हो। हमसे कई बार लोग कहते हैं कि "ध्यान करने बैठते हैं लेकिन मन नहीं लगता है, क्या करें ? आपने कह रखा है कि इतना जप रोज़ करो।" हम उनसे हमेशा कहते हैं कि हमने *तुमसे* बैठने को कहा है, तुम्हारे मन से नहीं कहा; चूँकि वह तो हमारे पास मिलने के लिये आया नहीं था ! इसलिये तुम तो बैठो, मन की क्यों चिंता करते हो ? फिर कहते हो कि "मन नहीं लगा" तब अपने को मन से अलग बता रहे हो : एक मैं जो ध्यान करने बैठा और एक मन जो नहीं बैठा। यहाँ मन

को अपने से अलग बता रहे हो। लेकिन यहाँ मन को अलग परोक्ष रूप से जानते हो इसलिये तीसरे वाक्य में कह रहे हो कि यह ज्ञान अभी हमारा पक्का नहीं हुआ, "मज़ा नहीं आया" अर्थात् मन शांत हो तो मुझे मज़ा आयेगा; मन अशांत तो मुझे मज़ा नहीं आयेगा। मन के साथ एक होकर तादात्म्याध्यास हो गया है। पहले जब कहा था कि "बैठे, मन नहीं लगा" तब तक विवेक था, जान रहे थे। लेकिन दूसरे वाक्य से कह रहे हो कि अपरोक्ष नहीं हुआ। मन नहीं जमा तो मज़ा मन को नहीं आया या तुमको नहीं आया? यदि वस्तुतः अपरोक्ष अनुभव हो जाता तो जैसे मन की समाधि वैसे मन का विक्षेप। तुम्हारा मज़ा मन के अधीन थोड़े ही है। विक्षेप और समाधि तो दोनों मन की होनी हैं। वृत्तिहीन हुआ तो अंतःकरण हुआ, तुम्हें क्या हुआ ? और यदि आनंदात्मक वृत्ति को मन बनाता रहे तो विक्षेप वाला भी मन ही होने से विकार वाला तो मन है, उसका तुमसे क्या मतलब ? विवेकी तो चावल के तुष से सम्बन्ध की तरह है—वह अपने स्वरूप को परोक्ष रूप से जानता भी है तब कहता है "मन नहीं लगा, मैं बैठा" और अपरोक्ष रूप से नहीं भी जानता है इसलिये कहता है "मुझे मज़ा नहीं आया।" जो सर्वथा अविवेकी है वह यव की तरह है इसलिये उसको कभी पता नहीं लगता कि मैं और मन में कोई अलगाव है भी। किसी भी काल में वह इस बात को समझता ही नहीं। उसको तो हमेशा मन और मैं एक ही दीखता रहता है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जो लोग निरंतर अभ्यास करने वाले हैं उन लोगों को ही इस प्रकार से दीखता है, यह भारूप, प्रकाशरूप होता है।

प्रकाश इसका रूप है। हृदय के अन्दर वही जो तुम्हें इतना अल्प दीख रहा है वही सबका अधिपति है। श्रुति कहती है कि जीवरूप से प्रवेश करने वाला वही परमात्मा है। छोटे से दर्पण के अन्दर प्रवेश करने वाला वही सूर्य है जो करोड़ों योजनों में फैला हुआ है, वही तो उसमें प्रविष्ट हो रहा है। जब तक इस अल्प रूप में वह नहीं आयेगा तब तक नाम-रूप बनेंगे नहीं। इसलिये श्रुति कहती है कि "इस जीव रूप से इसमें प्रवेश करके फिर नाम-रूपों को व्याकृत करूँ अर्थात् व्यक्त करूँ, प्रकट करूँ", यह परमात्मसंकल्प है। भूमा दृष्टि से, ब्रह्मदृष्टि से, व्यापकदृष्टि से नाम-रूप रह नहीं सकते। जब तक जीवरूप में प्रवेश न हो जाये तब तक नाम-रूप का व्याकरण कैसे होगा ? व्याकरण मायने व्यक्त होना। अव्यक्तरूप से भले ही रहें लेकिन नाम-रूप व्यक्त तो जीवरूप में आने पर ही होंगे, इसके बिना व्यक्त नहीं हो सकते।

प्रवेश इसका प्रतिबिम्बरूप से इसीलिये मानना पड़ता है कि और कोई प्रकार नहीं जिससे व्यापक चीज़ अल्प चीज़ में प्रवेश कर पाये। एक सेर के घड़े में एक सेर दूध डालो यहाँ तक तो वह घड़ा सहन कर लेगा लेकिन यदि एक सेर के घड़े के अन्दर तुम चाहो कि समुद्र को भर दें तो थोड़े ही भर जायेगा ! इसी प्रकार यह जो तुम्हारा हार्दाकाश (परव्योम) है, यह तो छोटा-सा है, अंगुष्ठमात्र है, ज़्यादा-से-ज़्यादा मुट्ठी भर भी मान लो, कितना मानोगे ? हर हालत में अनंत आत्मा का इसमें प्रवेश कैसे हो ? श्रुति कह रही है कि प्रवेश किया है। इसलिये भगवान् वेदव्यास कहते हैं "आभास एव च", ब्रह्मसूत्र में कहते हैं कि उसका प्रवेश प्रतिबिम्ब की तरह है। इस रूप में ही उसका प्रवेश बनता है।

जैसे जल या दर्पण में सूर्य का प्रवेश है उस ढंग से ही यह प्रवेश समझा जां सकता है और कोई प्रकार इसे समझने का नहीं है। इसके अन्दर जब यह प्रवेश हुआ तब नाम-रूप का व्यक्तीकरण हुआ। यहीं से भोग का प्रारंभ होगा।

प्रतिबिम्ब के ऊपर थोड़ा विचार और करेंगे क्योंकि यह अच्छी तरह से समझना जरूरी है। काँच में पड़ने वाला जो प्रतिबिम्ब है उसको न तो तुम कह सकते हो कि यह सूर्य है, क्योंकि सूर्य ऊपर है, दर्पण वाला सूर्य नीचे है। सूर्य के कोण के बदलने पर भी वह सूर्य ही रहेगा, लेकिन प्रतिबिम्ब नहीं रह जायेगा। बहुत से अंतर हैं। इसलिये यह नहीं कह सकते कि यह प्रतिबिम्ब सूर्य ही है। यदि काँच तोड़ दो या घड़े के जल को सुखा दो तो प्रतिबिम्ब नहीं रह सकता, बिम्ब वहीं रहेगा। इसलिये यह नहीं कह सकते हो कि यह सूर्य है और न कह सकते हो कि यह सूर्य से सर्वथा अलग है। यह नहीं कह सकते कि यहाँ कोई नई चीज़ पैदा हो गई। प्रतिबिम्ब जो हुआ करता है वह बिम्ब से न भिन्न है, न अभिन्न है। सर्वथा एक है—यह नहीं कह सकते और सर्वथा अलग है—यह भी नहीं कह सकते।

इसी प्रकार यहाँ न कह सकते हो कि जीव ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि तब उसकी चेतनरूपता नहीं बनेगी; और न यह कह सकते हो कि सर्वथा अभिन्न है क्योंकि तब जीव की अल्परूपता नहीं बनेगी। आभास या प्रतिबिम्बस्वरूपता बताने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों के अन्दर न भिन्न और न अभिन्न सम्बन्ध है। न जीव को ब्रह्म से सर्वथा एक कह सकते हो और न सर्वथा अलग कह सकते हो। कितने रूप में एकता

है ? पहले तो सत् रूप में एकता है; ब्रह्म सदा है ही, कभी भी 'नहीं है' यह ब्रह्म में नहीं होता क्योंकि सद्रूप ही है। जैसे पहले बताया था "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" ऐसे ही यहाँ जीवरूप के अन्दर भी हमेशा सद्रूपता है ही। किसी भी काल में क्षणमात्र को भी इसके अन्दर "नहीं है"पना नहीं आ पाता। कोई आकर दरवाजा खटखटाता है, पूछें "कौन है ?" कहता है "मैं हूँ।" इसके द्वारा अपना शुद्ध परिचय दे रहा है। हर-एक प्राणी "मैं हूँ" यह तो पहले सच्ची बात कह देता है। अब आगे उससे पूछें "तुम कौन हो ?" विशेष ज्ञान से रहित है इसलिये अब कह देता है 'मैं देवदत्त हूँ, मैं डॉक्टर हूँ या वकील हूँ, मैं हिन्दू हूँ या मुसलमान हूँ, मैं हिन्दुस्तानी हूँ या पाकिस्तानी हूँ।" जब अपना परिचय देने लगता है कि "मैं कौन हूँ" तब घपला कर जाता है। सामान्य रूप से तो वह अपने आपको ठीक जानता है लेकिन विशेष रूप में गड़बड़ा जाता है। फिर अज्ञान का परिचय देने लग जाता है। लेकिन किसी भी काल में 'मैं नहीं हूँ' ऐसा परिचय नहीं देता।

कोई व्यक्ति तुमसे आकर कहे कि "क्या बताऊँ, अब की बार मुझ पर बुरी बीती।" "क्या हुआ ?" "मुझे निमोनिया हो गया। खूब सर्दी पड़ी, ओले पड़े, मैं ओलों में पड़ गया था, मेरे कपड़े भीज गये थे, हवा ज़ोरों से चल पड़ी थी। घर पहुँचते-पहुँचते ज़बर्दस्त बुख़ार आया। डॉक्टरों को बुलाया, उन्होंने निमोनिया बताया, दोनों फेफड़े खराब हो गये। अस्पताल में भर्ती कर दिया।" यह सुनने तक तो तुम्हारा चेहरा गम्भीर रहेगा, उसके साथ हमदर्दी भी रहेगी कि बेचारा बड़े कष्ट में पड़ा। कहोगे—"अस्पताल में कितने दिन लगे ?" अब वह कहे कि "बहुत बुरा हुआ, अस्पताल

में नौ दिन रहा और दसवें दिन मर गया। अस्पताल से घर वाले मुझे मुर्दाघाट ले गये।" अब पुराने वाले गम्भीर चेहरे की जगह तुम हँस पड़ोगे ! समझ लोगे कि इसका दिमाग खराब है। उससे कहो कि "क्या बात करते हो ?" कहता है "सच्ची बात कह रहा हूँ, अब तक की यदि मेरी बात मान ली तो यह भी मानो।" कहोगे "बाकी सब तो मान सकते हैं लेकिन 'मैं मर गया' या 'मैं नहीं रहा' यह नहीं मान सकते, यहाँ तुमने घपला कर दिया।"

नियम है कि जितने भी ज्ञान होते हैं उन ज्ञानों के अन्दर धर्म वाले के विषय में भ्रम नहीं हुआ करता है, धर्म के विषय में भ्रम हुआ करता है। धर्म वाला पदार्थ तो मैं हुआ, उसके विषय में "मैं नहीं हूँ" यह नहीं सुन सकते हो। मैं के विषय में यह भ्रम नहीं हो सकता है। बाकी कुछ भी कहो, वे सब धर्म हुए, इन सबमें विपर्यय चलेगा लेकिन "मैं नहीं हूँ", यह नहीं चलेगा। न कभी 'मैं नहीं हूँ' ऐसा किसी को ज्ञान होता है और न कभी किसी को यह संदेह ही होता है कि "मैं हूँ या नहीं हूँ।" डॉक्टर को जाकर कोई यह भी नहीं कहता कि "डॉक्टर साहब ज़रा बता दो कि मैं अभी ज़िंदा हूँ या मर गया ?" कभी-कभी घपला हो जाये वह बात दूसरी है।

एक बार दक्षिण में मोपला विद्रोह हुआ था। मोपला वहाँ के मुसलमान होते हैं। अंग्रेजों के समय की बात है। वहाँ उन्होंने नेपाल की फौज भेज दी और कहा "इन्हें अच्छी तरह ठीक कर देना।" बहुत-से मोपले मारे गये। इसलिये नियम यह कर दिया कि "इन सबको मालगाड़ी में भरकर दूर लेजाकर जहाँ पहाड़ के नीचे जगह-जगह गड्ढे थे वहाँ फेंककर पेट्रोल डालकर जला दिया जाये जिससे

इधर-उधर हल्ला न मचे।" नेपाली फौज अनुशासनपसंद फौज होती है। गाड़ी में भरकर वहाँ ले जाकर डालने लगे। पुराने ज़माने की रेलें थीं, कभी-कभी एक दिन में पहुँचती थीं। वहाँ से लाते समय कुछ लोग मूर्च्छित होते थे जिन्हें चौबीस घंटे में होश आ जाता था। वहाँ से लाशें निकालते समय उन मुर्दों में से कोई एक बोलता था कि "मैं नहीं मरा, मुझे मत डालो।" फौज के अफसर सभी नेपाली हिन्दू थे, वे जवाब दें कि "दो हज़ार रुपया महीना पाने वाला सिविल सर्ज़न लिखता है कि तू मर गया और तू दुअन्नी का आदमी; तेरी मानें या उसकी !" इसलिये उसे भी उठाकर गड्ढे में फैंक देते थे। यद्यपि ऐसा घपला हो सकता है लेकिन वास्तविक स्थिति यह है कि कोई डॉक्टर यह भी नहीं कह सकता कि तुम मर गये यदि तुम कहते हो कि मैं जीवित हूँ।

'मैं हूँ' के विषय में कभी संदेह नहीं होता, "मैं नहीं हूँ" ऐसा कभी विपरीत ज्ञान भी नहीं होता। जैसे यह चाँदी है इसमें 'यह' अंश में कोई भ्रम नहीं है। भ्रम तो चाँदी वाले हिस्से में है। "यह" इस विषय में भ्रम नहीं है। यह *क्या* है—इस विषय में भ्रम है। यह सीप है, तुम उसको 'चाँदी है' यह समझ रहे हो। *यह* यह तो निश्चित है। क्या है—इस विशेष के बारे में भ्रम है—चाँदी है या सीप है। इसी प्रकार 'मैं हूँ' यह तो अभ्रांत ज्ञान है। लेकिन मैं क्या हूँ ? ब्राह्मण हूँ या क्षत्रिय, हिन्दुस्तानी हूँ या पाकिस्तानी, औरत हूँ या आदमी—इस विषय में भ्रम है। जब 'यह क्या है' इसका ठीक ज्ञान हो जाता है तब जितने भ्रम-ज्ञान हैं सब हट जाते हैं। रस्सी में साँप, भूछिद्र, माला आदि कई चीज़ें दीख रही होती हैं लेकिन जैसे ही पता लग गया कि वह क्या है वैसे ही

सारे भ्रम दूर हो जाते हैं। इसी तरह अभी तो अपने में बहुत-से भ्रम दीख रहे हैं, 'मैं क्या हूँ' इस विषय में बहुत से भ्रम हैं, लेकिन जैसे ही दीख जायेगा 'मैं ब्रह्म हूँ', फिर मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, हिन्दुस्तानी हूँ, पाकिस्तानी हूँ या स्त्री हूँ, पुरुष हूँ—ये सब भ्रम दूर हो जायेंगे। 'मैं हूँ' इतना तो धर्मी का ज्ञान होने से अभ्रांत ज्ञान है और 'मैं क्या हूँ' इस अंश में विपरीत ज्ञान है। यह जो परव्योम है इसके अन्दर प्रकाश उसका ही है। वह भी सद्रूप और यह भी सद्रूप है। कभी भी मैं के साथ असत् का अन्वय नहीं हो सकता। यह बिम्ब प्रतिबिम्ब की समानता है। अन्य कौन-सी समानतायें तथा भेद हैं, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन—७

सृष्टि के पूर्व जो अव्यक्त अवस्था थी उस अव्यक्त का निरूपण करते हुए श्रुति ने कहा कि वहाँ न सर्वथा सर्ववस्तु का अभाव था और नाम-रूप से भेद करने वाला भी कुछ नहीं था। सत् अर्थात् भिन्न-भिन्न क्रिया और नाम-रूप वाली चीज़ें, असत् अर्थात् सर्वथा सब वस्तुओं का अभाव, दोनों का निषेध किया। सत् और असत् दोनों से जो विलक्षण है वह अनिर्वाच्य ही वस्तुतः अव्यक्त है। यदि नामरूपकर्मात्मक भेद प्रत्यय वहाँ हैं तो उत्पन्न ही क्या होना है !

प्रत्येक उत्पत्ति में यही बात है। यदि कहते हो कि वह चीज़ पहले से मौजूद है तो उत्पत्ति बनती नहीं, क्योंकि जो है सो पैदा थोड़े ही हो सकती है; और यदि कहो कि कुछ नहीं है, तो 'कुछ नहीं' से 'कुछ नहीं' ही हुआ करता, 'कुछ नहीं' से 'कुछ' नहीं हो सकता, अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। सभी उत्पत्तियों में यह नियम है कि कार्य उत्पन्न होने से पहले कार्यरूप में नहीं था, और किसी रूप में था। इसी प्रकार सृष्टि उत्पन्न होने से पहले जो नामरूपात्मक सृष्टि हमें प्रतीत हो रही है वह ऐसी नहीं थी

लेकिन परम कारण रूप से वहाँ 'कुछ' अर्थात् परब्रह्म परमात्म-तत्त्व था। कार्य और कारण में भेद भी होना चाहिये और कुछ समानता भी होनी चाहिये। कार्य से कारण सर्वथा एक हो तो उसको कार्य नहीं कह सकते जैसे मिट्टी ओर घड़ा सर्वथा एक हो तब तो जमुना जी से जाकर मुफ्त की मिट्टी उठा लेते, एक रुपया खर्च करके घड़ा क्यों लेने जाते हो ? इसलिये मिट्टी से घड़ा सर्वथा एक है यह नहीं कह सकते। सर्वथा अलग है—यह भी नहीं कह सकते क्योंकि सर्वथा अलग हो तो मिट्टी निकाल देने के बाद वहाँ घड़ा नाम की कोई चीज़ बच जाये ! इसलिये सर्वत्र कार्य और कारण में यह नियम है कि दोनों में कुछ समानता होती है और कुछ भिन्नता होती है। ठीक इसी प्रकार समानता और भेद जगत् और उसके कारण परम शिव में भी अवश्य हैं। इस अनिर्वाच्य कारण को सत् और असत् से भिन्न बताया 'सत् न आसीत्, असत् न आसीत्'।

इसी को आगे स्पष्ट करके, घटाकर दिखा रहे हैं। पहले बताया कि ये लोक अर्थात् विषय नहीं थे। विषयों में और उस परम कारण में साम्य क्या है ? विषय भी हमेशा 'है' रूप से प्रतीत होते हैं। घड़े की प्रतीति भी 'घड़ा है' रूप में, कपड़े की प्रतीति भी 'कपड़ा है' रूप में। जितने विषय हैं वे सब है-रूप से प्रतीत होते हैं और ब्रह्म भी है-रूप है। उत्पन्न होकर घड़ा-कपड़ा रूप से पदार्थ नामरूपात्मक होने पर भी 'है', सृष्टि से पहले नाम-रूपात्मक न होने पर भी 'है'। भेद यह है कि पदार्थ स्वयं स्फुरणरूप नहीं है। पदार्थ स्वयं जड होने के कारण कुछ जान नहीं सकते और कुछ कर भी नहीं सकते। यदि पदार्थ कुछ जान सकते होते तो बहुत

कुछ समस्या हमारे पुलिस वालों की सुलझ जाती ! वे दीवालों को बुला लेते कि 'तुम गवाही दे दो क्योंकि तुमने तो देखा ही होगा क्योंकि तुम तो खड़ी ही थीं।' अथवा पेड़ों को बुला लेते कि 'तुम ही बता दो कि क्या हुआ था।' दीवाल के सामने खड़े होकर चाहे सारे ऋग्वेद का पाठ कर जाओ और चाहे उसके सामने खड़े होकर संसार की सभी भाषाओं की गालियाँ बोल जाओ, वह दीवाल कुछ नहीं जानती। पदार्थों में जडरूपता है, स्वतः स्फुरणरूपता नहीं। पदार्थ हमेशा अपेक्षा करते हैं कि कोई उनको जाने।

इसी प्रकार जड पदार्थ कोई क्रिया नहीं करता। जब तक कोई चेतन उसे प्रवृत्त न करे तब तक वह कुछ नहीं कर सकता। बढ़िया-से-बढ़िया घड़ी लेकर चार महीने तक हाथ में पहनते रहो और उसे बड़े प्रेम से रखते रहो। एक दिन हाथ में फुंसी हो जाये; क्योंकि आजकल प्लास्टिक का पट्टा बाँध देते हैं जिससे फुँसी हो जाती है; तब घड़ी खोलकर रख दो तो दूसरे ही दिन बन्द हो जाती है ! आजकल की घड़ियाँ ऐसी होती हैं कि पहने रहो तो चलें, न पहनो तो न चलें। ऐसी घड़ी से कहो 'चार महीने तक तुझे पहना, आज एक दिन फुंसी हो गई, तू बंद क्यों होती है ? ऐसा मत कर', लेकिन वह कुछ नहीं मानती। दूसरी तरफ़ कोई तुम्हारा नौकर हो। चार महीने तक उसे ठीक एक तारीख को वेतन देते रहो, पाँचवे महीने उससे कहो कि 'इस बार बैंक में हड़ताल हो गई है इसलिये तुम्हें पाँच-सात दिन रुपया नहीं दे सकेंगे, सात तारीख तक दे देंगे।' तो क्या वह नौकर काम करना छोड़ देगा? नहीं,क्योंकि वह चेतन है। घड़ी तुम्हारे कहने से एक दिन भी

नहीं चलेगी। किसी भी कमरे के अन्दर तुम दो कुर्सियाँ एक दूसरे के सामने रख दो, पाँच साल तक वैसी ही वहाँ पड़ी रहेंगी, कहीं हिलडुलकर जाने वाली नहीं। ऐसा नहीं कि थोड़ा इधर-उधर हो जायें तो धूल उड़ जाये। कुर्सियाँ चेतन की ही अपेक्षा रखती हैं कि कोई आकर साफ करे। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि जड में स्वप्रवृत्ति का अभाव होता है। चेतन प्रतिक्षण स्फुरित होता रहता है। संसार के पदार्थ जो रजरूप हैं उनके अन्दर और परमकारण में समानता यह है कि दोनों में 'है' एक जैसा है। पदार्थ भी है-रूप और परमशिव भी है-रूप ही प्रतीत होता है।

भेद यह है कि परमशिव चेतन होने के कारण स्वयं स्फुरित होता है जबकि जड पदार्थ स्फुरित नहीं होता। यदि कुछ नहीं होता है तो चेतन अपने आपको ही जानता रहता है। जैसे किसी कमरे के अन्दर यदि तुमने कोई कार्यवाही या मीटिंग रखी तो वहाँ से साठ नम्बर का लट्टू हटाकर ढाई सौ नम्बर का लट्टू लगा दिया ताकि रोशनी तेज़ हो जाये। दो सौ लोग आये तो क्या उसका प्रकाश अधिक हो गया ? और दो सौ लोग चले गये, लोग कम हो गये तो क्या उसका प्रकाश कम हो जायेगा ? अगर पूछो कि लोगों के चले जाने पर यह लट्टू किसको प्रकाशित कर रहा है? तो अपने आपको ही प्रकाशित कर रहा है। सामने कोई प्रकाश करने के योग्य पदार्थ होता तो उसे प्रकाशित करता, नहीं है तब अपने को तो प्रकाशित कर ही रहा है। सामने कुछ नहीं है इस रूप से विषय को भी प्रकाशित कर रहा है। उस दीपक से ही पता लगता है कि इस कमरे में अब कोई नहीं है। स्वयं दीपक अपने को प्रकाशित कर रहा है और वहाँ कोई प्रकाश के योग्य

पदार्थ नहीं है इस बात को भी वह दीपक ही बता रहा है। दीपक बुझ गया होता तो थोड़े ही पता लगता कि यहाँ कोई आदमी नहीं है। इसलिये उस कमरे में जब तक ढाई सौ लोग थे तब तक लट्टू ने लोगों को प्रकाशित किया और जब लोग नहीं रहे तो अपने को प्रकाशित किया। ठीक इसी प्रकार सुषुप्तिकाल में कोई पदार्थ नहीं रह जाता लेकिन वह चेतन होने के कारण वहाँ 'कुछ जानने लायक नहीं है' इस बात को जानता रहता है। उठकर कहता है कि 'वहाँ कुछ नहीं जाना'। वहाँ इस बात को जाना कि कुछ नहीं है। ऐसा नहीं कि कुछ नहीं 'जाना'। उससे पूछो कि 'तुझे पता कैसे लगा कि वहाँ कुछ नहीं था ?' वह कहेगा 'मुझे पता है कि वहाँ कुछ नहीं था।' अर्थात् वहाँ कुछ नहीं है इस बात को जाना। इस बात को जानने के साथ बता दिया कि 'मैं वहाँ था।' कहता है कि 'मैं वहाँ बड़े मज़े से सो रहा था।' यह तो नहीं कहता है कि 'मैं वहाँ था या नहीं मुझे पता नहीं' वरन् मैं वहाँ था, अपने आपको जान रहा था, इसलिये 'मज़े में हूँ' इस बात को भी जान रहा था और वहाँ कोई दूसरी चीज़ नहीं इस बात को भी जान रहा था।

चेतन में और जड में यह फर्क है इसलिये श्रुति ने जानने वाली सृष्टि भी बताई। 'नो व्योमा परो यत्' परव्योम, हार्दाकाश के अन्दर प्रस्फुटित होने वाला जो उसका चेतनस्वरूप, वह जीवस्वरूप अभी वहाँ नहीं था। जीव में और उस शिव में क्या फर्क है ? शिव उपाधि में प्रविष्ट हुआ तब जीव बना। जैसे जड पदार्थ और शिव में कुछ समानता और कुछ भेद है ऐसे ही जीव-रूप से जब वह प्रकट हुआ तो जीव में और उस शिव में कुछ

भेद भी होगा और कुछ समानता भी होगी। इससे पूर्व जैसा बताया कि सद्रूप जैसा वह शिव वैसा ही जीव, इसलिये 'मैं नहीं हूँ' इस रूप से इस मैं की, जीव की प्रतीति कभी हुई नहीं, हमेशा ही 'मैं हूँ' ही प्रतीति है। सद्रूप की दृष्टि से दोनों एक ही हैं। इतने अंश में पदार्थों के अन्दर भी वही बात थी। लेकिन यहाँ स्फुरण, चेतनरूप विशेष आया। घड़े की प्रतीति जब होती है तब 'घड़ा है' रूप से ही होती है लेकिन घड़े को प्रतीति नहीं कि 'मैं हूँ'। 'मैं हूँ' इसकी प्रतीति भी हमेशा है-रूप से होती है। 'हूँ' या 'है' एक ही बात है, केवल व्याकरण की दृष्टि से फरक है। 'मैं हूँ' की दृष्टि से हमेशा वैसी ही प्रतीति है जैसे 'घड़ा है' क्योंकि घड़ा जब प्रतीत होगा तब है-रूप से ही प्रतीत होगा, वैसे ही मैं जब प्रतीत होगा तब है या हूँ रूप से ही होगा। लेकिन फरक दोनों में यह है कि घड़ा इस बात को नहीं जानता कि मैं हूँ, और जीव इस बात को जानता है कि मैं हूँ। इसलिये यह जो चेतन-रूप से स्फुरण है, ज्ञान-रूप से इसकी सता है, अपने आपको जान रहा है, और अपने आपको जानते हुए जो इसके सामने आता है उसको भी जान रहा है, यही इसकी विशेष सृष्टि हुई। इसलिये इस जीवरूप को अलग से कहना पड़ा।

सद्रूप का अनुवर्तन और चिद्रूप का अनुवर्तन दोनों होने से ही किसी भी मनुष्य को अज्ञान अच्छा नहीं लगता। कैसा भी मनुष्य हो वह अज्ञान को सहन नहीं करता। कोई दो आदमी बात कर रहे हों, तुम वहाँ पहुँचो और वे कह दें कि 'अब जाने दो, यह आ गया, इसके सामने बात नहीं करेंगे।' तुमसे कहते हैं कि 'तेरे विषय की बात नहीं थी, तेरी समझ के लायक नहीं थी।'

तुम कहोगे 'बताओ तो सही।' अगर नहीं बताते हैं तो तुम्हारी छाती में कुल-कुल होती है कि क्या बात कर रहे थे ! उसके बाद किसी एक को भी अकेले मिलोगे तो कहोगे 'तू ही बता दे क्या बात थी।' यह सब क्यों होता है ? क्योंकि तुम्हारा स्वरूप ज्ञान है इसलिये किसी भी चीज़ का अज्ञान सहन नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति को कह दो कि 'तू बड़ा अज्ञानी है, महामूर्ख है' तो उसे अच्छा नहीं लगता क्योंकि ज्ञान उसका स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव है उससे विपरीत बात कहने से उसे सहन नहीं होता। अपने आपको इसीलिये कोई भी जड या अज्ञानी नहीं मानता। अज्ञानी से अज्ञानी पुरुष भी यह नहीं मानता कि 'मैं जड हूँ या मैं समझ नहीं सकता।' उसकी प्रतीति होती है कि 'मुझे समझाया नहीं जाता।' यह नहीं कहते हैं कि वह समझ ही लेगा, लेकिन स्वकीय प्रतीति हमेशा क्या कहती है ? अपना हृदय कहता है कि यदि खोलकर समझाकर समझाया जाये तो क्यों नहीं समझ सकता ! इसका प्रत्यक्ष एक दृष्टांत व्यावहारिक है : जितने अंग्रेज़ी जानने वाले और बोलने वाले लोग होते हैं उनका नित्य हमारे ऊपर यह आक्षेप है कि आपकी हिन्दी बड़ी कड़ी हो जाती है। जब उनको लौटकर कहते हैं कि 'तुम्हारी अंग्रेज़ी हमारी उतनी भी समझ में नहीं आ रही है' तो कहते हैं 'मैं तो कान्वेन्ट में पढ़ा हुआ हूँ, इसलिये मेरी अंग्रेज़ी का स्टैण्डर्ड ज़रा ऊँचा है।' वे हिन्दी नहीं जानते तो यह नहीं मानते कि 'मैं मूर्खता से कान्वेन्ट स्कूल में चला गया इसलिये मुझे हिन्दी का ज्ञान नहीं, मैं अज्ञानी हूँ, अब किसी विद्वान् के चरणों में बैठकर अध्ययन करूँ।' उलटा यह उसके मन में आता है कि सामने वाला जबर्दस्ती हिन्दी को कड़ी कह रहा है।

अंग्रेज़ी क्योंकि उसकी पढ़ी हुई है इसलिये वहाँ उसका बोध यह नहीं होता कि 'मैंने कड़े शब्द याद कर रखे हैं।' उसे लगता है कि सामने वाला अच्छी अंग्रेज़ी क्यों नहीं जानता, क्यों नहीं पढ़ता! हमेशा मनुष्य 'मैं अज्ञानी हूँ, मुझे अज्ञान है, मैं जड हूँ' इस बात का सामना नहीं करना चाहता। दूसरे को अज्ञानी, जड, मूर्ख कह देगा।

अभी कुछ दिन पहले की बात है। यहाँ से थोड़ी दूर पर बड़ा भारी अंधड़ आया। अंधड़ में बहुत से लोग मरे। हमारे यहाँ अमरकोष में ऐसे अंधड़ के लिये प्रभंजनवायु शब्द का प्रयोग है 'प्रकर्षेण भंजनं करोति इति प्रभंजनः' अर्थात् भली प्रकार किसी चीज़ को नष्ट करने वाला। ज़्यादा नहीं जानते होंगे तो भी विपद्भंजन हनुमान्जी का नाम तो सुन ही रखा है। प्रभंजन वायु होती है। कोई सुना रहा था कि जबर्दस्त tornado आया है। हमने पूछा 'टार्नेडो' क्या होता है ? कहता है 'यह तो पता नहीं, स्टेट्समैन में छपा था।' हमने कहा कि यह बड़ा कठिन शब्द है। कहने लगे—'नहीं जी, अंग्रेज़ी में चलता है।' थोड़ी देर बाद हमने कहा हमारे यहाँ प्रभंजन शब्द चलता है। उसको टार्नेडो का अर्थ भी पता नहीं, फिर भी उसके लिये वह सरल है। आप में से कइयों ने बाँचा होगा, सोचते रहे होंगे कि यह क्या चीज़ है। हमें एक अंग्रेजी शब्द सुनने पर भी कठिनता का बोध नहीं होता क्योंकि वह हम जानते हैं और हिन्दी शब्द सुनकर लगता है कि न जाने कहाँ-कहाँ से मुश्किल शब्द प्रयोग करने लग जाते हैं ! किसी को भी यह अनुभव नहीं होता कि 'मैं समझ नहीं सकता।' बल्कि यह अनुभव होता है कि 'मुझे समझाया ठीक से जाये तो मैं समझ

सकता हूँ।' यह जीव की ज्ञानरूपता को सुस्पष्ट कर देता है। उल्टा यदि किसी को ज़ोर से कह दो कि 'अरे, तेरी बुद्धि में आयेगा ही नहीं' तो उसको गुस्सा आता है।

एक जज थे जो बाद में संस्कृत के अच्छे विद्वान् बन गये। सर जान बुड्रोफ उनका नाम था। उनको संस्कृत पढ़ने का बड़ा शौक था। वह उन्नीसवीं शताब्दी का समय था। बड़ी मुश्किल से तो उन्हें कोई संस्कृत पढ़ाने को तैयार हुआ। प्राचीन ढंग का पढ़ाना था। उन्हें सूत्र रटाना शुरू किया। वे दिन भर कचहरी के काम में व्यस्त रहते थे। किसी दिन थोड़ी ग़लती हो जाती थी, अथवा बोलते समय कोई सूत्र याद न आये तो पंडित जी कहते थे 'गो-मांस भक्षण करने वाले से कहीं संस्कृत पढ़ी जाती है ! तेरे अन्दर भी कोई बुद्धि है !' वे अपनी छोटी-सी जीवनी में कहते हैं कि 'उस समय हृदय पर मुझे ऐसा लगता था कि किसी ने मुझे बिजली छुआ दी हो। नतीजा यह हुआ कि कुछ दिन बाद मैंने गोमांस खाना छोड़ दिया। लेकिन हमारे पढ़ाने वाले की आदत नहीं छूटी। जब मैंने उनसे कहा कि 'अब तो मैंने खाना छोड़ दिया है' तब कहने लगे कि 'तेरा खून तो उसी का बना है, इसलिये तेरी समझ में नहीं आ सकता।'' इतनी बात साधारणतः सहन नहीं होती और 'तुम्हें नहीं सिखायेंगे'—यह बात भी सहन नहीं होती। इसीलिये 'समझ में नहीं आ सकता' इस बात के साथ ही मन में क्रोध आता है, दुःख होता है। प्रत्येक अपने को द्रष्टा, श्रोता, मंता, विज्ञाता समझता है। मैं देखने वाला, सुनने वाला, समझने वाला, मनन करने वाला हूँ—इस रूप से ही अपना ग्रहण होता है, इससे विपरीत रूप से नहीं। शिव चेतनरूप है, बिम्बरूप

है। प्रतिबिम्बरूप जीव भी चेतनरूप है। यह दोनों की समानता है।

लेकिन दोनों में भेद भी है। सर्वथा एकता हो तो जीवभाव की उत्पत्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। भेद आनंदकल्पक प्रत्यय में है। शिव का बोध है 'मैं आनन्दस्वरूप हूँ', जीव का यह बोध नहीं है। 'मैं आनंद का अभिलाषी हूँ, मैं आनंद को चाहता हूँ, मैं आनंद को ढूँढता हूँ, किसी-किसी क्षण मैं आनन्द को पाता हूँ, साधना करके ऐसी स्थिति में पहुँचूँगा कि मैं नित्य आनन्दी हो जाऊँगा'—इत्यादि तो सब लगेंगे, लेकिन 'मैं स्वयं ही आनन्द हूँ' यह जीव का बोध नहीं। बिम्ब और प्रतिबिम्बरूप शिव और जीव में चित् का अनुवर्तन है लेकिन आनन्द का अनुवर्तन नहीं। जैसे दर्पण में होने वाला जो प्रतिबिम्ब है उसकी आँख हमेशा तुम्हारी आँख को टकटकी लगाकर देखेगी, प्रयोग कर के देखना, चाहे जिधर भी तुम आँख घुमाओगे तुम्हारे प्रतिबिम्ब वाली आँख तुम्हारी ही तरफ देख रही होगी। वैसे विज्ञान के विद्यार्थी जान ही लेंगे कि रश्मियाँ उसी आँख से निकलकर उसी को विषय करेंगी तो आने वाली लौटकर भी वहीं से आयेंगी। जो भी हो, जहाँ कहीं भी प्रतिबिम्ब है, प्रतिबिम्ब की आँख सर्वथा तुम्हारी आँख को ही देखेगी अथवा प्रतिबिम्बरूप जो सूर्य है वह हमेशा सूर्य के सामने ही रहेगा, सूर्य के सामने से हटने पर प्रतिबिम्ब नहीं रहेगा, लेकिन जब तक प्रतिबिम्ब रहेगा तब तक बिम्ब के सामने ही रहेगा। ऐसे ही प्रतिबिम्ब की आँख जब देखेगी तब बिम्ब की आँख को ही देखेगी। इसी प्रकार प्रतिबिम्बरूप जीव जिस काल में भी देखेगा उस काल में शिव को ही देखेगा। शिव आनंदस्वरूप है इसलिये

जीव हमेशा आनंद की तरफ ही टकटकी लगाये हुए है। यह दूसरी बात है कि उसको पता नहीं कि आनंदरूप की प्राप्ति कैसे हो? जो व्यक्ति मयखाने में खराब पी रहा है वह भी शराब से आनंद को ही चाह रहा है। जो व्यक्ति टैक्स की चोरी करके काला धन जमा कर रहा है वह भी आनंद के लिये ही जमा कर रहा है। यहाँ तक कि जो व्यक्ति आत्महत्या कर रहा है वह भी आनंद के लिये ही कर रहा है यह सोचकर कि शरीर में रहते हुए मेरा दुःख नहीं हट सकता इसलिये शरीर से छूटूँगा तो दुःख से छूट जाऊँगा। जो व्यक्ति तपस्या कर रहा है वह भी आनंद के लिये ही कर रहा है—इस जन्म के अन्दर अनेक प्रकार के दुःखों को अनुभव कर रहा हूँ, उन दुःखों के अनुभवों से छूटकर आगे मुझे नित्य सुख की प्राप्ति हो सके, इसीलिये तप कर रहा है। जितने मनुष्य के कार्य हैं यदि उन पर ध्यान देकर देखो तो वह सभी आनंद के लिये ही कर रहा है। आनंद ही शिव का स्वरूप है। इसलिये इसकी टकटकी निरंतर शिव पर लगी हुई है, वहाँ से हटती नहीं है। वह उसे पहचानता नहीं, उसकी प्राप्ति का साधन नहीं जानता, यह बात दूसरी है। सत् और चित् रूप से स्फुरण हार्दाकाश के अन्दर अंतःकरण के प्रतिबिम्ब के अन्दर है, परन्तु आनंदरूप का स्फुरण नहीं।

मध्ययुग में पंद्रहवीं शताब्दी के आसपास शोलापुर के अन्दर मुहम्मदअली नाम का एक नवाब शासन करता था। वस्तुतः उसको शासन पैतृक ढंग से प्राप्त नहीं हुआ था वरन् कोई दूसरा वहाँ नवाब था जो अधिक अय्याश था। यह उसके यहाँ काम करता था। इसने चतुराई के द्वारा मंत्रियों को अपनी तरफ मिलाकर

उसको मारकर कब्ज़ा कर लिया था। स्वाभाविक था कि वह अत्याचार कुछ अधिक करे। यह नियम हुआ करता है। स्वयं अपने युग में हम लोगों ने एक घटना देखी; आपमें से बहुतों को याद होगा कि जिन्ना कभी नमाज नहीं पढ़ता था, उर्दू नहीं जानता था, पारसी औरत से विवाह किया था, खूब शराब पीता था, यहाँ तक कि सूअर का गोश्त, जो मुसलमानों के लिये सर्वथा निषिद्ध है, वह भी खाता था, नूर रखने का तो प्रश्न ही नहीं जो मुसलमानों का नियम है, ठोड़ी की दाढ़ी नहीं काटते—यह उनका धार्मिक नियम है। दूसरी तरफ मौलाना अबुल कलाम आजाद थे जिन्होंने अरब काहिरा में जाकर मुस्लिम धर्म का अध्ययन किया, कुरान पर बड़ा लम्बा-चौड़ा प्रामाणिक भाष्य किया, उर्दू तो क्या अरबी में ही लिखते थे और अरबी मासिक पत्र के सम्पादक भी थे, मौलाना थे, दाढ़ी जन्मभर नहीं कटाई, नमाज पढ़नी ही थी, मौलाना थे इसलिये सूअर का गोश्त खाने का तो प्रश्न ही नहीं। लेकिन मुसलमानों के नाम पर जितना अत्याचार जिन्ना ने किया उतना आजाद साहब नहीं कर पाये। क्या कारण है ? जो व्यक्ति किसी-न-किसी अपराध के द्वारा प्रवृत्त होता है वह उस अपराध को अपने हृदय से हटाने के लिये अत्याचार के द्वारा अपनी धार्मिकता का प्रकटन करना चाहता है क्योंकि उसके हृदय को सालता रहता है कि मैंने बुरा काम किया इसलिये सोचता है कि अत्याचारसे धर्म के लिये बहुत बड़ा काम कर दिया ! इसी प्रकार औरंगजेब का इतना अत्याचार क्यों हुआ ? भाइयों को मारा, बाप को जेल दी, अब उस अपराध की पूर्ति के लिये 'मैं जितना हिन्दुओं पर अत्याचार करूँगा तो मेरे वे सब पाप धुल जायेंगे,' यही वृत्ति

काम करती रही।

मुहम्मद अली में भी यही बात थी। जब वह नवाब बना तो हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगा। एक बार एक विधवा ब्राह्मणी स्नान के लिये तालाब पर गई हुई थी, उसको देखा और देखकर विचार किया कि 'इसे भगा ले जाऊँ।' नवाब ही ठहरा, हुक्म दे दिया, लोग उसे पकड़कर ले आये। वह विधवा ब्राह्मणी बहुत दुःखी होकर बहुत रोई और कहा कि 'जैसा तू चाहता है वह ठीक नहीं' लेकिन वह किसकी माने ! थोड़े दिन में उसके पुत्र उत्पन्न हो गया। वह तो इन्हीं सब चीज़ों को ही अच्छा समझता था। जब उससे एक पुत्र उत्पन्न हो गया तब दूसरी कोई आ गई, अब पहली वाली की तरफ कौन देखे ! इसलिये उसकी दशा दासियों से भी गई गुजरी हो गई। वापिस घर भी नहीं जा सकती थी। वहीं रहकर अपने पुत्र को किसी तरह शिक्षा देती रही। धीरे-धीरे लड़का बड़ा हुआ। चूँकि वह उसको अच्छी शिक्षायें देती रही थी इसलिये वह बड़ा बहादुर निकला और उसकी भी कुछ इज़्जत होने लग गई।

धीरे-धीरे जब मुहम्मद अली ने देखा कि यह युद्ध करने में बड़ा योग्य है तो उसे बड़ा अफसर बना दिया और यह भी सोचने लगा कि 'आगे चलकर मैं इसी को नवाब भी बना दूँगा।' पुत्र तो उसी का था। अब वह अधिकतर पिता के पास रहने लगा। धीरे-धीरे माता की जो शिक्षायें उसे दुष्कर्मों से दूर रखने की थीं वे सब हटती गईं क्योंकि वातावरण बदल गया था। उसे रात-दिन गलत प्रवृत्ति सिखाई जाती थी। अब वह माता को मूर्ख समझने लगा। कुछ समय बीता। एक बार किसी बड़े युद्ध में गया हुआ था। उसने बड़ी बहादुरी से युद्ध लड़ा और जीत लिया लेकिन

तलवार का एक बहुत गहरा घाव उसकी छाती में लगा। वापिस आया तो मुहम्मद अली ने उसकी बहुत प्रशंसा की और अच्छे-से-अच्छे हकीम लगाये कि उसका इलाज हो। लेकिन दो-तीन महीने बाद भी हकीमों ने कह दिया कि 'यह घाव अब पूरी तरह से नहीं भर सकता।' जब यह निश्चय हो गया तब उसे क्या नवाब बनना था और क्या वह युद्ध करता ! संसार के जितने सम्बन्ध होते हैं, सामान्य रूप से सभी स्वार्थप्रयुक्त ही होते हैं। धीरे-धीरे नवाब भी उसमें कम रुचि लेने लग गया, नौकर भी समझ गये कि अब इसके ऊपर नवाब की वह दृष्टि नहीं है इसलिये वे भी उसकी तरफ ध्यान नहीं देने लगे। थोड़े समय के लिये कोई बीमार होता है तब तो कुछ सेवा आदमी कर लेता है लेकिन जब अधिक समय तक होता है तो चाहे घर वाले हों, नौकर हों, कोई हो, दूर होने लगते हैं।

जब कोई उसकी सेवा नहीं करने लगा तब अंत में दुःखी होकर फिर माँ के पास ही गया। माँ का स्नेह हमेशा अटूट ही होता है। माँ धीरे-धीरे उसकी सेवा करती रही। दुःख में पड़े-पड़े उसके भी मन में आया कि 'देखो, मैंने इसकी अच्छे काल में उपेक्षा की।' जितना-जितना उसका दुःखभोग बढ़ता गया, उतना-उतना उसके चित्त की वृत्तियों में परिवर्तन होने लगा लेकिन अन्दर-ही-अन्दर दुःखी भी था कि कितने दिन तक यह ज़िंदगी ऐसे निकलेगी। माँ ने भी देखा कि अब पहले से परिवर्तन हो रहा है। पहले कहता था कि 'शराब पियूँगा, मांस खाऊँगा', अभी माँ के पास रहने से धीरे-धीरे वे वृत्तियाँ हटने लगीं। जब देखा कि इसकी वृत्ति काफी अच्छी हो गई है तब एक दिन माँ कहने लगी कि 'तूने सब उपचार

कर लिये लेकिन कुछ काम नहीं बन रहा है और आशा भी नहीं दीख रही है। मेरी एक बात यदि तू मानता तो काम हो जाता लेकिन तू मानेगा नहीं।' उसने कहा कि 'तुम कहो, मैं जरूर मानूँगा।' उसने कहा 'तू ग्यारह दिन तक निरंतर 'शिव-शिव मृत्युंजय-मृत्युंजय' का जप कर, जल के सिवाय और कुछ ग्रहण मत कर, तेरा यह घाव ठीक हो जायेगा। लेकिन मुझे पता है कि तू यह नहीं करेगा क्योंकि तुझे तो यह शिक्षा मिल गई है कि ये सब देवी-देवता कुछ नहीं हैं।' वह तो दुःख में पड़ा था, कहने लगा 'तेरी बात ज़रूर मानूँगा।'

बचपन में माँ के डाले हुए कुछ संस्कार तो थे ही, अब वे उद्बुद्ध भी हुए। निरंतर जप करता रहा और हृदय से निरंतर भगवान् शंकर का चिंतन करता रहा। दुःख के कारण और कुछ बाह्य क्रियायें न होने के कारण वृत्ति की एकाग्रता भी उसे सिद्ध हो गई। दस दिन बीत गये लेकिन रोग में कुछ फरक नहीं पड़ा तो उसका मन कुछ ढीला होने लगा क्योंकि प्रवृत्ति तो दुःखनिवृत्ति के लिये ही थी। सोचने लगा कि 'अभी तक तो कुछ भी फ़रक नहीं पड़ा, माँ ने कहा था कि ग्यारह दिन में ठीक हो जायेगा।' दसवें दिन की रात्रि बीती, प्रातःकाल चार बजे का समय ग्यारहवें दिन का था। वह कुछ स्वप्न में कुछ जाग्रत् में था, उसी समय देखता है कि भगवान् शंकर आये और उसे विभूति दी और कहा कि 'इसे अपने घाव पर रगड़ लेना, तू ठीक हो जायेगा।' उसने वैसा ही किया। जब वह कर चुका तब तक माँ ने आकर आवाज़ दी कि 'उठने का समय हो गया।' घबरा कर उठा, चारों तरफ देखने लगा क्योंकि अभी-अभी स्वप्न देख रहा था, फिर माँ की

तरफ देखा, माँ ने पूछा—'क्या बात है, बड़ा घबराया हुआ दीख रहा है ?' उसने सुनाया कि 'ऐसा-ऐसा हुआ तब तक तुमने आवाज़ दी।' माँ को तो पूर्ण श्रद्धा थी ही, उसने उसकी कमीज खोलकर देखा तो वहाँ कोई निशान तक नहीं मिला ! उसको और दृढ निश्चय हो गया।

कुछ दिन बीते। अब यह बात मुहम्मद अली को भी पता चल गई कि वह ठीक हो गया। उसे बुलाया और फिर से कहा 'तू मेरा अमुक काम कर।' उसने कहा 'आपकी तरफ से तो मैं मर गया था। आपने तो मुझे मरा समझकर ही छोड़ दिया था। अब तो मैं यह कार्य तभी कर सकता हूँ जब आप भी शंकर का भजन करो।' लेकिन वह बात मुहम्मद अली को कहाँ माननी थी! उसने कहा कि 'यह घाव तो ऐसे ही ठीक हो गया, पहले जो दवाइयाँ खाई थीं उनका असर हो गया।' जिसे आजकल के डॉक्टर after effect कहते हैं अर्थात् जो दवाई पहले खाई हुई थी वह बाद में काम कर गई। उसने कहा 'यह सब तो तेरी माँ ने तुझे बरगला दिया है।' लेकिन लड़के ने कहा कि 'मैं नहीं बरगलाया गया।'

यद्यपि शोलापुर में राज्य नवाब का था तथापि अधिकतर मंत्री इत्यादि हिन्दू ही थे। धीरे-धीरे उन्हें भी दुःख होता ही था इसलिये उन्होंने उससे कहा कि 'हम तुम्हें ही यहाँ का राजा बनाना चाहते हैं।' पहले तो वह मना करता रहा लेकिन अंततोगत्वा सब लोगों ने उससे कहा तो उसने अपने पिता से सीधा ही कह दिया कि 'देखिये, यहाँ प्रजा अधिकतर जिस धर्म को मानती है उस पर आप अत्याचार कर रहे हैं। इसलिये या तो आप अपने अत्याचार

के स्वरूप को छोड़िये अन्यथा कोई विद्रोह हो तो मुझे दोष न देना कि तूने बेटा होकर ऐसा किया।' इसपर मुहम्मद अली ने उसे जेल में बन्द कर दिया यह सोचकर कि यही प्रजा को भड़काता होगा। लेकिन जेल के प्रहरी भी हिन्दू थे, उन्हें भी इस बात का पता लग गया तो उन लोगों ने स्वयं उसे वहाँ से भगवा दिया। बाकी सब लोग तो मदद करने को तैयार थे ही, युद्ध हुआ और वह वहाँ का राजा बन गया। राजा बनने के समय उसने कह दिया कि 'मैं राजगद्दी पर नहीं बैठूँगा।' वहीं एक शिवमन्दिर था, उसने कहा कि 'राजा तो वे ही बने रहेंगे, मैं तो केवल राजकार्य करूँगा।' पिता से कहा कि 'आप यहाँ से चले जाओ क्योंकि आपने जनता पर बहुत अत्याचार किया है।'

मुहम्मद अली यवन है। वस्तुतः मोह और मद रूप अज्ञान ही किसी काल में बुद्धिरूप विधवा ब्राह्मणी को पकड़ता है। बुद्धि का पति तो शिव है लेकिन अज्ञान के कारण वह इस समय उससे अलग है। अज्ञान बुद्धिरूप विधवा ब्राह्मणी के साथ जबर्दस्ती सम्बन्ध करके पुत्र उत्पन्न करता है। अज्ञान और बुद्धि से उत्पन्न होने वाला पुत्र ही जीव कहा जाता है। 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'; कारण मायने अज्ञान और उसका कार्य अंतःकरण या बुद्धि। अज्ञान और जो अज्ञान का कार्य है उस बुद्धि के रहते ही यह जीव पैदा होता है। यह जीव प्रारंभ में तो शुद्ध रहता है, बचपन में प्रायः करके बच्चा शुद्ध होता है। बच्चे को झूठ बोलना सिखाना पड़ता है, बच्चे को पाखण्ड सिखाना पड़ता है। माता-पिता से ही यह सब शुरू होता है। माँ कहती है 'यह छोटे भाई की बहु दूध की मलाई निकालकर खा लेती है इसकी

आदत बड़ी खराब है, आँख चूकते ही निकाल लेती है।' बच्चा वही बात कह देता है 'चाची जी, आप दूध में से मलाई निकाल कर खा जाती हैं ?' वह पूछती है 'तूने कब देखा ?' वह कहता है 'मम्मी कह रही थी।' तब उसको पाखंड सिखाते हैं कि 'बेवकूफ, ऐसी बात बोली थोड़े ही जाती है।' इसी प्रकार झूठ बोलना आदि सिखाया जाता है।

पहले तो बुद्धि के साथ वह बड़ा हुआ लेकिन धीरे-धीरे उस अज्ञान के मोह और मद के चक्कर में आकर उसने वही अज्ञान-प्रधान क्रियायें शुरू कर दीं। जीव निरंतर प्रवृत्ति मार्ग की तरफ चलता रहता है। जब तक जीव प्रवृत्ति करता रहता है तब तक इसका पिता अज्ञान कहता है 'ठीक है', और जब यह जीव कहता है कि 'मुझे दुःख हुआ' तब अज्ञान कहता है 'मैं क्या जानूँ !' कभी भी अपने दुःख का कारण पूछो तो दुःख का कारण अज्ञान ही है। अज्ञान यह नहीं कहता कि 'मेरे कारण ही तुझे दुःख हो रहा है।' तलवार का घाव तो बेचारे को मुहम्मदअली के युद्ध को जीतने के लिये ही लगा था। इसी प्रकार जीव को निरंतर दुःख की प्राप्ति तो अज्ञान के कारण लड़ाई लड़ने से होती है। अज्ञान से प्रवृत्ति मोह-मद के कारण होती है लेकिन बोझ सारा जीव पर डाल दिया जाता है—'जीव ने ही बुराई की, तुमने की तो तुम ही भोगो।'

जब इसको तीव्र दुःख होता है तब यह फिर बुद्धिरूप माता के साथ कुछ सम्बन्ध लगाता है अर्थात् विचार करने लगता है कि 'मैंने जो अविवेक और मद से प्रवृत्ति की इससे क्या हुआ?' जब यह विचार करता है तब धीरे-धीरे इसे पता लगता है 'यह

सब जो मैंने किया बेकार ही किया।' जब उसकी बेकारता को समझ लेता है तब बुद्धि में जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि कौन-सी चीज़ मुझे सुख देगी ? तब बुद्धि बताती है कि सुख का केन्द्र तो शिव है। सुख का केन्द्र बाहर की चीज़ें नहीं हैं वरन् सुख का केन्द्र प्रत्यगात्मरूप शिव ही है। शास्त्रजनित बुद्धि उसे शिवाराधनारूप उपाय भी बताती है। जहाँ उपाय करके उसका दृढ निश्चय बना, कि दुःख मिट जाता है ! फिर दुःख जाते देरी नहीं लगती। विचार किया, साक्षी-रूप में स्थित हुआ और दुःख गया। अब जैसे ही साक्षी-भाव से स्थित होकर मनुष्य का दुःख हटा वैसे ही अज्ञान फिर दुलारने आ जाता है। मान लो कोई आदमी दुःखी है, थोड़े समय तक भगवान् का भजन करता है तो दुःख हट जाता है। दुःख हटते ही फिर पहले वाला काम शुरू कर देता है ! बुद्धिमान् तो फिर मोह-मद में नहीं पड़ता। धीरे-धीरे अपना सारा जीवन भी शिवमय बना देता है। यदि मूर्ख होता है तो फिर उसी चक्कर में फँस जाता है। यह आनंदरूपता किस प्रकार प्राप्त हो, इसपर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन—८

सृष्टि के पूर्व की अव्यक्त अवस्था का प्रतिपादन करते हुए सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वाच्य कारण का प्रतिपादन किया। जितने भी भावरूप पदार्थ सिद्ध हैं सृष्टिकाल में, उन सबका वहाँ कार्यरूप से अभाव बताया। पहले लोकों का अभाव बताया और अब 'नो व्योमा परो यत्'—जीवों का अभाव बता रहे हैं। कार्य और कारण में न अत्यंत भेद और न अभेद होता है, यह बिम्ब-प्रतिबिम्ब के न्याय से बताया। जीव के अन्दर चिद्रूप से, सद्रूप से ब्रह्म के साथ समानता होने पर भी आनंदरूप से असमानता है। 'मैं सुखी' ऐसा अनुभव होने पर भी 'मैं सुख हूँ' ऐसा अनुभव नहीं है। वरन् जिस प्रकार प्रतिबिम्ब निरंतर बिम्ब की तरफ दृष्टि रखता है उस प्रकार जीव निरंतर आनंद की तरफ दृष्टि रखता है। उस आनंद की प्राप्ति कैसे हो ? दृष्टि उसकी आनंद की तरफ है लेकिन जितनी क्रियायें वह करता है उन सब क्रियाओं से उसका दुःख बढ़ता है, आनंद नहीं। वह जिन-जिन चीज़ों को आनंद का केन्द्र मानता है वे सब समय पर धोखा देकर उसके दुःख का ही कारण बनती हैं। इसका कारण क्या है ? वह प्रतिबिम्ब होने

से बिम्ब की तरफ देख तो रहा है लेकिन बिम्ब को अपने से अलग मानकर देख रहा है। यह जो उसकी अलगाव की प्रतीति है यही उसको आनंद प्राप्त नहीं करने देती। इसीलिये वेद उस तत्त्व की तरफ ध्यान दिलाने के लिये प्रवृत्त होता है और यही वेद का चरम तात्पर्य है।

भगवान् वेदव्यास का सूत्र है 'तत्तु समन्वयात्' जितने भी वैदिक मंत्र हैं वे सारे एकमात्र ब्रह्म के प्रतिपादन में ही गतार्थ हैं। साक्षात् या परम्परा से जीव-ईश्वर की एकता का प्रतिपादन ही वेद का एकमात्र प्रयोजन है। इससे अतिरिक्त उसका कोई प्रयोजन नहीं, कोई उद्देश्य नहीं, क्योंकि जीव-ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन को छोड़कर बाकी सब चीज़ें प्रमाणान्तर से जानी जा सकती हैं। जिन बातों को दूसरे प्रमाणों से, दूसरे तरीकों से जाना जा सके उन बातों का प्रतिपादन वेद के द्वारा ही किया जाये यह बनता नहीं। एक ही चीज़ को दो प्रमाणों से जानने में कोई लाभ नहीं। इतना ही नहीं, जिन बातों को प्रमाणांतरों से जाना जा सके उन बातों को भी यदि वेद सीधा बता दे तो मनुष्य की बुद्धि और मनुष्य की उन्नति का कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा। जिस प्रकार लोक में जितना वजन बच्चा उठा सकता है उतना वह उठाये यह प्रवृत्ति रहती है। उससे अधिक वजन होता है जिसको वह नहीं उठा सकता तो उसके लिये बड़ा आदमी उसकी मदद करता है। जिसने अपने बच्चे की यह आदत डाल दी कि स्कूल से काम लेकर आया कि इन अभ्यासों को हल करना है और पिता ने ही उसे सीधा हल करके बता दिया तो वह बच्चा हमेशा मूर्ख रहेगा। आवश्यकता इस बात की है कि बच्चा उस अभ्यास को स्वयं

करे, करते हुए यदि देखने में आता है कि उस प्रश्न में कोई ऐसी क्लिष्टता है जो बच्चा इस उमर में नहीं समझ सकता तो बस उसी का संकेत कर दिया, इतनी मात्र जहाँ बच्चे को मदद मिलेगी वहाँ बच्चा उन्नत होगा; और जहाँ सारा ही सवाल पिता हल कर देगा वहाँ बच्चा मूर्ख रहेगा। पिता समझता तो ज़रूर है कि 'मैं बच्चे को बहुत पढ़ाता हूँ,' लेकिन वह बच्चे का हितकारी नहीं है। आजकल पिता खुद नहीं पढ़ाते तो ट्यूशन रख देते हैं, बात एक ही है। इसी प्रकार दुकान के काम पर बच्चे को बैठा दो और जिन समस्याओं को वह हल नहीं कर सकता, वह आकर पूछे, तुम उसका समाधान दो, तब वह व्यापार में तरक्की करेगा। जिसे सवेरे से शाम तक बाप कहता रहे कि 'अमुक सौदा खरीद, अमुक बेच, तेरा कांट्रेक्ट मैं भर देता हूँ', वह बच्चा व्यापार में वास्तविक उन्नति नहीं कर सकेगा। सर्वत्र यह नियम है कि जितना जो व्यक्ति कर सके उतना जब वह कर चुके और उसके आगे के मार्ग को स्वयं खोलने में असमर्थ हो, केवल उस मार्ग को खोलने की मदद उसे दे दी जाये, तब वह उन्नति करता है।

यदि प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाणों के द्वारा जिसको हम अवगत कर सकते हैं उन बातों को भी वेद में परमेश्वर कह देता तो हमारी उन्नति नहीं होती ! इसलिये प्रत्यक्ष अनुमान की जहाँ गति ही नहीं, जिस समस्या का हम हल कर ही नहीं सकते, उसे बताने में ही वेद गतार्थ है। प्रमा का लक्षण करते हुए सामान्य रूप से कहा जाता है 'अनधिगत-अबाधितार्थ-विषयता जहाँ हो वहीं प्रमाणजन्य प्रमा होती है' अर्थात् दूसरे किसी प्रमाण से पहले जाना न गया हो और आगे किसी प्रमाण से वह कट न जाये।

अबाधितार्थ इसलिये कहना पड़ता है कि तुम जिस ज्ञान को प्राप्त करोगे वह यदि कमज़ोर होगा तो आगे दूसरे ज्ञान से कट जायेगा। वेद जिस ज्ञान को पैदा करता है वही वास्तविक प्रमा है। पहली बात—सिवाय जीव-ईश्वर की एकता के बाकी सब ज्ञान किसी-न-किसी समय प्राप्त भी किये ही हैं, इस जन्म में हों या जन्मांतर में, इस कल्प में अथवा कल्पांतर में हों; अथवा उन ज्ञानों को करने की सम्भावना जीव में है। और दूसरी बात—जितने ज्ञान हम करते हैं वे सब अंत में बाधित हो जाते हैं। केवल एकमात्र यह अखण्ड ज्ञान ही बाधित नहीं होता। इसीलिये जब ब्रह्मज्ञान के अन्दर सब वैदिक वाक्यों का समन्वय स्वीकार करते हैं तब वेद परम प्रमाण सिद्ध होता है क्योंकि सर्वथा अनधिगत और सर्वथा अबाधित केवल यह ज्ञान ही है।

प्रतिबिम्ब हमेशा आनंद का अन्वेषण कर रहा है, आनंद की तरफ दौड़ रहा है लेकिन वह उस आनंदरूप परमात्मा को बाहर समझ कर बाहर दौड़ रहा है। कभी रसगुल्ले में देखता है, कभी सुन्दर साड़ी में, कभी नैकलेस में देखता है और कभी बैंक का खाता छः या सात अंकों का हो जाये उसमें देखता है। किसी-न-किसी चीज़ में दौड़ रहा है। हमेशा अपने से बाहर दौड़ रहा है। वेद उसको ध्यान दिलाता है कि 'बाहर न ढूँढो क्योंकि वह बाहर नहीं वह तो तुम्हारा स्वरूप है।' बाह्य ध्यान को हटा करके ध्यान को अन्दर की तरफ करना है। इसीलिये इसी ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में बताया—

'अंतरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया।
गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्।।'

हम लोग रात-दिन नित्य निरंतर उसको बाहर इच्छा का विषय बनाते हैं, उस आनंदस्वरूप को, उस रुद्र को बाहर ढूँढ रहे हैं। रुद्र शब्द का अर्थ ही है 'रुत् दुःखं आमयं द्रावयति नाशयति इति रुद्रः' दुःख और रोग को जो नष्ट करे उसी को रुद्र कहते हैं। दुःख का नाशक सुख या आनंद ही होता है। हम लोग हमेशा उसको बाहर ढूँढ रहे हैं लेकिन कहाँ ढूँढना है ? वेद कहता है 'अंतः इच्छन्ति' बाह्य विषयों में उसकी उपलब्धि असम्भव है, उसको तो जब अपने अन्दर इच्छा करोगे तभी मिलेगा। किससे इच्छा करेंगे ? जो मन को शासन में रखे ऐसी बुद्धि मनीषा कही जाती है। मन पर नियंत्रण करने वाली, मन के द्वारा नियंत्रित होने वाली नहीं। मन के ऊपर शासन करने में समर्थ, पवित्र, सूक्ष्म, एकाग्र बुद्धि ही मनीषा है क्योंकि यही मन पर शासन करने में समर्थ है। पवित्रता सत्कर्म से आती है, निरंतर जब मनुष्य सत्कर्म में प्रवृत्ति करता है तभी उसकी बुद्धि में पवित्रता आती है। प्रत्येक कर्म अपनी छाप बुद्धि पर छोड़ कर जाता है।

जो भी कर्म करोगे उसकी छाप तुम्हारी बुद्धि पर न पड़े यह नहीं हो सकता। बुद्धि ब्लाटिंग पेपर, सोकता काग़ज़ की तरह है, जिस किसी चीज को लिखकर सुखाओगे उसकी छाप ब्लाटिंग पेपर पर पड़ जायेगी। ब्लाटिंग पेपर पाश्चात्य देश की देन है। हम लोग सुखाने के लिये बालू का प्रयोग करते थे। बढ़िया सुन्दर पीतल की डिब्बी में बालू रहता था उसे छिड़का और स्याही सूख गई। बालू से सुखाना वेदांती समझता है। बाकी सब ब्लाटिंग पेपर से सुखाना समझते हैं। दोनों में फरक यही है कि बालू से जो सुखाते हो उसकी छाप नहीं रहती। वेदांती तो इस बात को

समझता है कि 'असंगोह्ययं पुरुषः', वह तो व्यवहार करते काल में ही उसका बाध करता जाता है इसलिये उसके ऊपर तो कोई छाप नहीं रहती। लेकिन साधारण आदमी तो ब्लाटिंग पेपर ही जानता है। साधारण व्यक्ति जो भी कर्म करेंगे उनकी छाप पड़ेगी। भगवान् भाष्यकार इसीलिये कहते हैं 'चितिबलाद् नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां' असंग पुरुष एक चिन्मात्र है इसके बल से अर्थात् इसके दृढ विचार के द्वारा उत्तर अर्थात् जो भी कर्म कर रहे हो उसकी छाप न पड़ने दो, उससे कोई आश्लेष न होने दो। लेकिन जब तक चितिबल की प्राप्ति नहीं हुई तब तक बुद्धि पर उसकी छाप पड़ेगी। कोई व्यक्ति कर्म ग़लत करता है तो उससे उसकी बुद्धि पर भी प्रभाव ग़लत ही पड़ता है।

आजकल यह विचारधारा काफी लोगों में है कि शरीर से कुछ भी हो, मन शुद्ध होना चाहिये। लेकिन क्रिया तो शरीर से होनी है, शरीर की प्रत्येक क्रिया का तुम्हारी बुद्धि में अवश्य प्रतिबिम्ब रह जायेगा। इसीलिये हम लोग इतना ज़ोर देते हैं कि क्या खाओ, क्या पियो, कब उठो, क्या पहनो, कैसे बैठो। लोग यही कहते हैं कि 'यह सब तो जाने दीजिये, बस मन को शुद्ध करने का तरीका बता दीजिये।' कुछ तो और आगे की बात कहते हैं कि 'हमें समाधि लगाना सिखा दो।' कई बार लोग अखबारों में पढ़कर आते हैं, कहते हैं 'हमें ध्यान करना सिखा दो, हम योगाभ्यास करना चाहते हैं।' हम कहते हैं—बहुत अच्छी बात है, योगाभ्यास ज़रूर सिखायेंगे। योग के आठ अंग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। पहला अंग यम है जिसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह बताये अर्थात्

किसी प्राणी के प्रति अपने मन में द्वेष मत रखो, प्राण छूट जायें तो भी झूठ मत बोलना, किसी दूसरे की चीज़ देखकर 'यह मेरी हो' ऐसी भावना मत करना। तब वे लोग कहते हैं कि 'हमें योग बताइये, यह तो सब हम जानते हैं।' हम कहते हैं कि यही तो योगसूत्र में लिखा है ! यह जो समझ है कि सीधे ही हम ध्यान कर लेंगे, यह ठीक नहीं। ध्यान की प्रथम सीढ़ी यही बताई है, यह करो तब आगे सिखायें। कई बार ऐसा अनुभव होता है : छोटा बच्चा कहता है 'किताब पढ़ना सिखा दो।' उससे कहते हैं 'पहले वर्णमाला सीखो । 'क' मायने कमल।' वह कहता है—'नहीं जी! हमें तो किताब पढ़ना सिखाइये।' उससे कहते हैं कि यदि वर्णमाला नहीं सीखोगे तो किताब बाँचना कैसे सिखायें? और यदि कोई तुमसे कहता है कि 'बिना वर्णमाला सीखे ही पढ़ जाओगे' तो समझना चाहिये कि कहीं धोखाधड़ी का मामला है! ऐसे ही यहाँ भी यम नियम आदि के बाद ध्यान आयेगा। ये सब पहली सीढ़ियाँ हैं। यदि कोई कहे कि यम नियम आदि की ज़रूरत ही नहीं और ध्यान हो जायेगा तो समझ लेना चाहिये कि कुछ-न-कुछ घपला ज़रूर है। क्यों हम लोग इतना ज़ोर सत्कर्म पर देते हैं ? क्योंकि देह से जो क्रिया करोगे बुद्धि पर उसकी छाप न पड़े, यह असम्भव है।

मन के द्वारा जो भावनायें होती हैं उनकी भी बुद्धि पर छाप अवश्य पड़ती है। यहाँ तक महर्षि वशिष्ठ लिखते हैं 'मनसैव कृतं राम न शरीरकृतं कृतं' जितने भी पाप किये जाते हैं वे मन में ही जन्मते हैं। बहुत से लोग उसे मन में रोक भी लेते हैं और यह ठीक भी है। शरीर से करने की अपेक्षा मन में रोकना अच्छा

है। लेकिन जब तक मन में असत् भाव बनने बन्द नहीं होंगे तब तक भी यह मनीषा नहीं बनेगी। बहुत से लोग मन के अन्दर पापों का अनुवर्तन चलाते रहते हैं। एक बार यहीं दिल्ली में ही किसी की मोटर में बैठकर जा रहे थे। सामने से दूसरी मोटर आई, साथ में बैठे हुए व्यक्ति ने अकस्मात् बड़े ज़ोर से आवाज की। हमने चमक कर पीछे देखा कि कहीं कोई दरवाज़ा खुलने से गिरा न हो ! लेकिन उसने कहा 'सामने रोल्स रायस निकल गई, आपने देखा होगा।' हमने कहा—वह तेरे ऊपर तो नहीं आई, फिर तुझे क्या हुआ ? कहने लगे कि 'गाड़ी ऐसी होनी चाहिये।' हम लोग एम्बैसेडर में जा रहे थे, कहा 'यह तो खटारा है।' हमने समझ लिया कि यह चोर है ! चोरी का मतलब चीज़ उठाना ही नहीं है वरन् दूसरे की चीज़ को देखकर यह चाहना कि 'यह मेरी हो' यह भी चोरी है। मन से तो चोरी कर ली, शरीर से नहीं की, यह बात दूसरी है। जब तक मनुष्य के अन्दर सत्कर्म, सद्भाव नहीं होंगे तब तक बुद्धि में मनीषा पैदा नहीं हो सकती।

तीसरा सद्विचार है। शरीर से कर्म, मन से भाव, और बुद्धि से विचार। सद्विचार का मतलब है हमेशा सावधान रहना। बुद्धि के द्वारा निर्णय वह करो जो सत् निर्णय हो। आजकल कुटिल लोगों को बुद्धिमान् कह दिया जाता है। वैसे संस्कृत की दृष्टि से तो वह भी ठीक है : हमारे यहाँ जो कमी हो उसे लेकर भी 'मान्' शब्द का प्रयोग हो जाता है। जैसे हनुमान् जी गिरे, उनकी ठोड़ी टूट गई, इसलिये उनका नाम हनुमान् रख दिया ! कथा सब जानते ही हो। ठीक इस प्रकार यदि मान् का अर्थ अभाव में करो तब तो ठीक है, क्योंकि कुटिल व्यक्ति वह है जिसमें बुद्धि

है ही नहीं। बुद्धि वह होती है जो सद्विचार करे, सत् नतीजे पर पहुँचे। कुटिल व्यक्ति हमेशा असत् चीज़ ढूँढता है, असत्य का अन्वेषण करता है। वकील कानून को पढ़ते हुए यह नहीं देखता कि यह कानून क्या कराना चाह रहा है बल्कि यह ढूँढता है कि यह कानून जो कराना चाह रहा है वह न किया जा सके ऐसा यहाँ कहाँ लिखा हुआ है। वह वकील बढ़िया माना जाता है जो प्रत्येक कानून की आत्मा को मारने में समर्थ हो। कानून जिस दृष्टि से बनाया गया वह दृष्टि पूरी न हो यही असद् विचार है। सद् विचार वाला हमेशा ढूँढेगा कि सामने वाला वस्तुतः क्या कहना चाहता है। उसमें वह एक-आध शब्द भूल गया, उसी को पकड़कर अपना काम सिद्ध करो, यही असद् विचार है। सत् कर्म के द्वारा बुद्धि पर असत् छाप नहीं आयेगी। सद् भाव के द्वारा बुद्धि को असत् प्रेरणा नहीं मिलेगी और सद् विचार के द्वारा बुद्धि स्वतः ग़लत कार्यों में प्रवृत्त नहीं होगी। बुद्धि की प्रेरणा शुद्ध हो भावशुद्धि से, बुद्धि पर पड़ी हुई छाप कर्मशुद्धि से शुद्ध हो और स्वयं बुद्धि के चलने का उद्देश्य भी ठीक हो तब मनीषा बनती है।

यह किससे होगा ? जितना-जितना सत् कर्म, सद् विचार और सद् भावना होगी उतनी ही वृत्ति अंतर्मुखी बनेगी। कई बार लोग पूछते हैं कि 'सर्वथा ऐसा करेंगे तो बाहर का व्यवहार ठीक नहीं होगा।' हम पूछते हैं कि इतने जन्मों से तुमने व्यवहार करके क्या पाया है ? जन्म-जन्मांतर से तुम असत् कर्म, असद् भाव और असद् विचार में रहे तो तुम्हें मिला क्या ? एक जीवन में सत् कर्म, सद् भाव और सद् विचार करके देखो तो सही कि कुछ मिलता है या नहीं ! वृत्ति अंतर्मुखी बनेगी। तुम अब तक ढूँढ रहे हो बाहर

इसलिये तुम्हें लगता है कि वृत्ति अंतर्मुखी बन जायेगी तो सुख नाम की चीज़ कैसे मिलेगी। इसलिये मन-ही-मन सूची बनाते रहते हो कि 'अमुक चीज़ नहीं मिलेगी, अमुक चीज़ नहीं मिलेगी।' अंतर्मुख वृत्ति बनने से बाहरी चीज़ें नहीं मिलेंगी, आदमी यह सोचकर घबरा जाता है और ठीक रास्ता छोड़ देता है। उसका उपाय यह है कि बार-बार यह सोचो कि जो चीज़ें नहीं मिलेंगी वे आज तक मिलने से तुमको कुछ मिल गया क्या ? वह चीज़ अपने चाकचिक्य से अपनी तरफ आकृष्ट कर रही है और दिखा रही है कि उसके मिलने से कुछ मिल जायेगा, लेकिन जैसे-जैसे विचार करोगे कि 'उसके मिलने से कुछ मिला नहीं' तो समझ आयेगी कि उसके जाने से नुक्सान क्या होना है ! जिस मालिक की दस साल तक सेवा की, उसने तुम्हारा वेतन छः सौ से छः सौ ही रखा तो अब उस मालिक की नाराजगी में तुम्हारा क्या नुक्सान होना है !

पहले जमाने में सबसे पहले जब कोई नया फूल या साग खेत में आता था माली उसे किसी राजा के पास ले जाता था या किसी बड़े जमींदार के पास अथवा किसी नगरसेठ के पास वह लेकर जाता था। वह सोचता था कि प्रथम फूल प्रेम से लेकर आया है, चाहे उसी के बगीचे का होता था, फिर भी राजा उसे झट एक मोहर निकालकर दे देता था अथवा नगरसेठ चाँदी का रुपया दे देता था। अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार वे भी उसका ख़्याल रखते थे कि पहली चीज़ प्रेम से लेकर आया, प्रसन्न होकर देते थे। आज लेकर जाओ तो कहते हैं 'रख दो ! क्या एक ही निकला, और ज्यादा नहीं निकले थे ?' पहले ही बहम हो गया कि कहीं

अपने घर में न रख लिया हो ! इसीलिये आजकल कोई ताजी सब्ज़ी किसी राजा या नगरसेठ को खाने को नहीं मिलती क्योंकि वैसी बात सुनने की अपेक्षा तो माली खुद ही खा ले यह अच्छा है, तुम्हें देने से क्या फ़ायदा ? जो व्यक्ति प्रसन्न होकर कुछ दे नहीं सकता उसके रूठने की चिंता करना भी बेकार होता है।

इसी प्रकार इस संसार के विषयों के लिये तुमने अनादि काल से इनकी नौकरी की, इन्होंने क्या तुम्हें कुछ दिया ? तुरंत जवाब मिलेगा कि कुछ नहीं दिया। इसलिये अब यदि ये तुमको नहीं मिलेंगे, तुम से रूठ जायेंगे तो तुम्हारा ले क्या जायेंगे ? जैसे-जैसे यह विचार दृढ होता जायेगा वैसे-वैसे अंतर्मुख वृत्ति से घबराना छूटेगा। अंतर्मुख वृत्ति करने पर ही आनंदरूप शिव की प्राप्ति सम्भव है क्योंकि वह अंदर बैठा हुआ है। तभी वह स्वांत में प्राप्त होता है अर्थात् अपने अन्दर मिलता है। इसलिये कहा कि अन्दर मनीषा के द्वारा इस प्रकार जो बुद्धि शुद्ध हुई है वही बुद्धि इस पवित्रता के कारण धीरे-धीरे सूक्ष्म होने लगती है। जैसे तेज धार वाले चक्कू से यदि तुम लकड़ी काटना शुरू कर दो तो उसकी तेज धार ख़त्म हो जाती है क्योंकि जिस चीज़ पर प्रयोग करोगे वह जैसी होगी तदनुकूल ही औजार भी हो जायेगा। लकड़ी जैसी स्थूल चीज़ के ऊपर यदि पैनी धार वाले चाकू का प्रयोग करोगे तो उसका पैनापन नष्ट होना ही है। इसी प्रकार यदि बुद्धि का प्रयोग तुम निरंतर स्थूल चीजों में ही करते रहोगे तो बुद्धि की सूक्ष्मता नष्ट हो जायेगी। जैसे-जैसे अंतःकरण पवित्र होता जायेगा वैसे-वैसे स्थूल विषयों का विचार नहीं करोगे क्योंकि वे तुम्हें बेकार-से लगेंगे, सोचोगे उसके लिये क्या बुद्धि खर्च करनी है। जितना-

जितना वहाँ बुद्धि का प्रयोग नहीं करोगे उतनी-ही-उतनी बुद्धि की सूक्ष्मता बढ़ेगी और तभी सूक्ष्म चीज़ समझ में आयेगी। किसी भी विषय के जो बड़े-बड़े अन्वेषण करने वाले होते हैं उनके जीवन में तुम कभी भी स्थूलपदार्थों की तरफ प्रवृत्ति को नहीं देखोगे, उनकी प्रवृत्ति उधर होती ही नहीं। परमात्मा तो अतिसूक्ष्म है लेकिन साधारणतः भी जो सूक्ष्म विषय के विचारक हैं वे स्थूल विषयों की तरफ दृष्टि नहीं करते हैं।

एक किताब पढ़ रहे थे। पंडित नेहरू के बारे में लिखा है कि नेहरूजी सन् '४६ तक इतना ज़्यादा टैक्स दे चुके थे जो वापिस मिल सकता था, क्योंकि वे कभी हिसाब नहीं रखते थे। फिर उनकी आर्थिक स्थिति उतनी अच्छी नहीं रही। लेकिन कहाँ से कितना आया, क्या रायल्टी आई, नहीं आई, चूँकि इसका वे कभी हिसाब नहीं रखते थे इसलिये उन्हें स्वयं भी अपनी सही आय का पता नहीं था। जब उन्होंने हिसाब कुछ नियमित किया तब पता लगा कि कई हज़ार रुपये वापिस मिल सकते हैं। पहले तो उन्होंने सोचा जाने दें। फिर एक व्यक्ति ने उनसे कहा कि 'आपको पैसा नहीं चाहिये, यह ठीक है, लेकिन यह बताइये कि आपके पिताजी के काल के जो नौकर हैं जिनको आप किसी महीने वेतन दे पाये हो, किसी महीने नहीं फिर भी वे एकाग्रवृत्ति से आपकी सेवा करते रहे हैं, उनको यह पैसा मिल जाये तो आपको क्या हर्जा है ?' तब उन्होंने पैसे लिये। कई हज़ार रुपये उन्हें मिल गये। प्रश्न होता है कि जो सारे भारत की स्थिति का विचार करता था, क्या वह इतना हिसाब नहीं रख सकता था ? लेकिन नियम है कि सूक्ष्म बुद्धि वाला स्थूल की तरफ ध्यान नहीं देता।

जब लौकिक सूक्ष्म व्यवहार करने पर भी स्थूल की तरफ दृष्टि नहीं जाती है तब अतिसूक्ष्म परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति करने वाला उधर कैसे प्रवृत्ति करेगा ? इसलिये जितनी-जितनी पवित्रता आयेगी उतनी-ही-उतनी बुद्धि में सूक्ष्मता आयेगी। सूक्ष्मता आने पर ही उधर बुद्धि बनेगी और सूक्ष्मता आने पर ही एकाग्रता आयेगी। 'एक' नाम ब्रह्म का है 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयं' एक ब्रह्म को ही अपने सामने रखो तब एकाग्रता। यह एकाग्रता तभी आ सकती है जब पहले बुद्धि सूक्ष्म हो। लोक में भी देखते हैं कि सूक्ष्म कपड़े को सीने के लिये तुम्हें तेज़ सुई चाहिये और बोरे को सीने के लिये तुम्हारी मोटी भुथरी सुई काम दे जाती है। सुल्मा-सितारे की सुई में जब धागा डालना पड़ता है तो बट कर उसे एकाग्र करना पड़ता है, लेकिन सुतली को सुई में डालने के लिये एकाग्र नहीं करना पड़ता है। इसी प्रकार ब्रह्म तत्त्व में प्रवेश कराने के लिये बुद्धि को एकाग्र करना पड़ता है। जब तक सूक्ष्मता नहीं होगी तब तक यह एकाग्रता इसमें नहीं आयेगी। इसीलिये एकाग्रता की आवश्यकता है। जब ये तीनों चीज़ें होती हैं--पवित्रता, सूक्ष्मता और एकाग्रता तभी बुद्धि मन के ऊपर नियंत्रण करने वाली बनती है। उसके बिना मन के ऊपर नियंत्रण करने की इसकी सामर्थ्य नहीं रहती।

ऐसी बुद्धि के द्वारा जब प्रवृत्ति करते हैं तब कहते हैं 'गृभ्णन्ति जिह्वया समम्' 'जीभ से उसके रस को ग्रहण करते हैं' अर्थात् परमात्मा के नाम का उच्चारण जीभ से करने मात्र से ही उसके हृदय में रस का आप्लावन हो जाता है, रस भर जाता है। परमेश्वर का नाम तो सब लेते हैं, एक दूसरे से मिलने पर राम-राम कर

लेते हैं। कोई मरता है तो उसके पीछे भी जाते हुए राम-राम कर लेते हैं। अनेक जगह परमेश्वर का नाम तो लोग लेते ही रहते हैं, पैर फिसल जायें तो राम कहते हैं, दूध के गिलास में मक्खी पड़ जाये तो राम-राम कर लेते हैं ! भगवान् का नाम तो अनेक स्थलों में लेते हैं लेकिन क्या उस नाम को लेने से अंतर में रस भर जाता है ? वैसा का वैसा सूखा का सूखा ही रहता है क्योंकि यह सारी तैयारी नहीं है। शास्त्र तो यहाँ तक कह देता है कि यदि एक बार परमात्मा का नाम लिया तो जितने पाप तुमने किये हैं उन सबसे ज्यादा पापों को वह नष्ट करने में समर्थ है ! कहा तो यह गया है, और अनुभव यह होता है कि कोई पाप नष्ट होता हुआ दिखाई नहीं देता। क्या कारण है ? इसलिये कहा कि जब तक जीभ से नामस्मरण होते ही अन्दर हृदय आनंद से न भर जाये तब तक सफलता नहीं हुई। जैसे किसी से यदि पूछें 'काग़ज़ी नीबू का अचार खाओगे ? गला हुआ है, लूणिया नीबू है', तो यह बात कहते-कहते ही जीभ में पानी आने लग जाता है ! देर नहीं लगती। और यदि कहीं उस नमकीन नीबू के अचार की सुगंधि नाक में चली जाये तो फिर रोकने पर भी जीभ का पानी नहीं रुकता। और कहीं जीभ पर पहुँच जाये, तो कहना ही क्या! ठीक इस प्रकर परमात्मा के नाम का श्रवण करने मात्र से हृदय में आनंद भर जाना चाहिये। यदि कहीं परमात्मा के नाम को तुम्हारी जीभ ने ले लिया तब तो इतना आनंद आ जाना चाहिये कि सहन न हो सके। तब तो स्मरण सफल हुआ। अन्यथा बावन अक्षरों से शब्द सभी बने हुए हैं, कोई भी शब्द बोलते रहो ! ऐसा नहीं होने देने में कारण है कि मनीषा नहीं है।

यहाँ जीभ से उपलक्षणा बाकी सभी इन्द्रियों की कर लेना। केवल जीभ से ही परमात्मा का नाम लिया जाता हो ऐसा नहीं है। निरंतर परमात्मा के स्पर्श का भी अनुभव होता है। वैदिक ऋषि कहते हैं 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि'। हे वायु ! तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। वायु वह है जो हमको जीवित रखता है, प्राणरूप से प्रत्यक्ष दीख रहा है। थोड़ी देर वायु अन्दर न जाये तो क्या हाल होता है ? विवेकी के लिये व्यष्टि-समष्टि की एकता वायु में स्पष्ट है। बाकी सब चीज़ों में तो 'यह हमारा है' की छाप लगा देते हैं। भूमि का पट्टा लेकर बड़े खुश होते हैं कि हमारी हो गई। आगे यह कोई नहीं सोचता कि देने वाले की यह जमीन थी जो तुम्हें दे दी ! जल पर भी अधिकार कर रखा है। नीचे के तल्ले वाला अपना नल खोल देता है, ऊपर के तल्ले वाला कहता है 'मुझे लेने दो' तो वह कहता है 'मेरा पानी पूरा हो जायेगा तब आपको मिलेगा, आपकी चिन्ता हम क्यों करें, आप अपना इंतजाम करो।' हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में पानी को लेकर बड़े विवाद हो रहे हैं। गंगा का कितना पानी बांग्लादेश को और कितना हमें मिले यह फरक्का का विवाद हो रहा है। कोई यह नहीं पूछता कि जल आया कहाँ से जो तुम्हारी मिल्कियत हो गई ? अग्नि के ऊपर भी लोगों ने भेद लगा रखा है। अगर श्मशान की अग्नि पर कोई भात पकाये तो उसे मसानिया कहते हैं। कोई नहीं सोचता कि अग्नि तो अग्नि है, क्या फ़र्क पड़ता है ? लेकिन वायु के विषय में आज तक किसी का झगड़ा नहीं हुआ कि पाकिस्तान की वायु बढकर हिन्दुस्तान में क्यों आई या क्यों ज़्यादा वायु उधर चली

गई। और न वायु के विषय में आज तक किसी ने यह झगड़ा किया कि 'यह चाण्डाल के मुँह से निकली हुई वायु मैं ब्राह्मण नहीं लूँगा।' व्यष्टि और समष्टि की एकता वायु में नित्य सिद्ध होने से ही वेद कहता है 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।'

जब वायु हमारे अंग-प्रत्यंग को स्पर्श करती है उस समय 'साक्षात् परमात्मा हमारा आलिंगन कर रहा है' यह बोध होना चाहिये, सिहरन हो जायेगी इस बात को सोचने के साथ ही। इस प्रकार जब मनीषा आ जाती है तो जितनी भी इंन्द्रियाँ हैं वे सारी रस देने वाली हो जाती हैं। जैसे-जैसे इस दिव्य रस की तरफ दृष्टि जाती है वैसे-ही-वैसे मनुष्य को हर्षातिरेक होने लगता है। अभी तक तो यह पता नहीं था कि आनंद कहाँ मिलेगा और जैसे-जैसे यह मनीषा उत्पन्न होती है वैसे-वैसे हर तरफ से इतने आनंद की प्रतीति होती है कि वह अतिरिक्त हो जाती है, सहन कर सकें उससे ज़्यादा हो जाती है और वह हर्ष निरंकुश होता है। उस आनंद के प्रति कोई अंकुश या रुकावट नहीं है क्योंकि वह अपने स्वस्वरूप के ज्ञान से हो रहा है। वायु इत्यादि के अन्दर स्थित जो शिव तत्त्व है वह बिम्ब रूप से मेरा अंतर्यामी स्वरूप है, वही बाहर से आकर के मुझे स्पर्श कर रहा है इस ज्ञान से यह हर्षातिरेक हो रहा है। इसीलिये इसपर कोई अंकुश नहीं है, यह निरंकुश है। जब तक अपने हर्ष को, आनंद को बाह्य विषयाधीन देखोगे तब तक 'सांकुशा विषये तृप्तिः इयं तृप्तिर्निरंकुशा'; सप्तशतीकार कहते हैं विषयों से जो तृप्ति होगी वह विषयों की सीमा से बँधी हुई होगी और शिवदृष्टि से होने वाली तृप्ति निरंकुश है। जिस आनंद को ढूँढ रहे थे वह आनंद अतिरिक्त अवस्था में मिलता

है, हमको जितना चाहिये उससे बहुत ज़्यादा मिलता है और निरंकुश मिलता है। यह नहीं कि इतनी देर मिलेगा और फिर ख़त्म हो जायेगा। रसगुल्ला खाने की तुम्हारी निरंकुशता होगी तो वह बीस-पच्चीस रसगुल्ले तक जाकर बन्द हो जायेगी लेकिन इस अंतर्यामी शिवरूपता की जो अनुभूति है उसमें ऐसी कोई अंकुशता नहीं है।

और इसमें किसी से हिस्सा बाँटने में डरना भी नहीं है। विषयों की तृप्ति में तो यह कठिनाई है कि एक विषय हमारे पास है तो तुम्हारे पास नहीं, जितना हमारे पास ज़्यादा उतना तुम्हारे पास कम और इसीलिये हर-एक व्यक्ति जो विषय से सुख चाहता है वह दूसरे पर झपट्टा ही मारता रहेगा। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि एक कौर अन्न भी तुम खाते हो तो उसके ऊपर भी अनेक प्राणियों की दृष्टि लगी हुई है। वहीं पर बैठी हुई गिलहरी सोच रही होती है कि 'गिर जाये तो मुझे मिल जाये', थाली पर बैठी हुई मक्खी सोच रही है कि 'यह मुँह में न डाले तो मुझे मिल जाये', सूंघकर आने वाली चींटी सोच रही है कि 'जल्दी पहुँचूं तो मुझे मिल जाये।' एक कौर अन्न पर कितने प्राणियों की दृष्टि है, कोई ठिकाना है ! लेकिन यह जो शिवतत्त्व का अपने अन्दर आत्मा की एकता से होने वाला सुख है यह ऐसा नहीं कि जितना हमको होगा उतना तुम्हारा कम हो जायेगा। यह तो जैसा हमको वैसा तुमको। सर्वत्र परिपूर्णता एक जैसी है। इसीलिये यह निरंकुशा तृप्ति है।

जैसे-जैसे यह तृप्ति पूर्ण होती जाती है वैसे-वैसे फिर स्वतः वह आनंद बाहर फूट पड़ता है। जितने भी बड़े-बड़े महापुरुष हुए

वे उस आनंद को अपने अंदर रख नहीं पाते क्योंकि इतना ज़्यादा वह आनंद होता है इसलिये वह फूट कर बाहर निकलता है। जब तक भोजन करो और पेट में कुछ जगह हो तब तक डकार नहीं आता, जब पेट भर जाये तब डकार को रोक नहीं सकते। पहले पहल हमने जब विदेशियों को देखा तो पाया कि वे डकार नहीं लेते। हमने सोचा ऐसा क्यों होता है ? जब उनकी भोजन-प्रक्रिया पर ध्यान दिया तब पता चला कि उनके यहाँ सीमित भोजन आता है। एक बार सूप मिलता है दुबारा माँग नहीं सकते और माँगोगे भी तो मिलेगा नहीं ! उसके बाद दूसरी सामग्री आयेगी, अच्छी लग सकती है। फिर तीसरी आयेगी। उसका स्वाद अच्छा नहीं है तो दूसरी वाली को पुनः माँगने पर भी नहीं परोसेंगे। नतीजा यह होता है कि किसी का पेट ठस भर ही नहीं सकता। अपने यहाँ यदि सबसे बढ़िया गुलाबजामुन बना है तो उसपर टिक जाते हैं। यह वहाँ नहीं होता। इसीलिये उन बेचारों को बार-बार खाना पड़ता है, सवेरे, दोपहर, शाम, रात्रि इस प्रकार चार-पाँच बार खाते हैं। इतना सब खाने के बाद सवेरे उठते ही उन्हें भूख लग जाती है कि बिछौने से उतरने से पहले ही खाने को मँगाते हैं। अपने यहाँ एक बार खा लिया तो चौबीस घंटे की छुट्टी। यदि भोजन पूरे पेट में भर जायेगा तो ज़रूर डकार आयेगा। वह डकार भी जो खाया है उसी का आयेगा। हींग खाई है तो उसकी, मूली खाई है तो उसकी बास वाला ही डकार आयेगा। इसी प्रकार जब शिव को आत्मरूप से जान लेते हैं तब उस आनंद का डकार आता है। इसलिये उसकी सन्निधि में जाने-मात्र से दूसरों को भी आनंद होता है। वह उन्हें आनंद देने के लिये कुछ करता हो ऐसा नहीं,

वरन् उसे निरंतर डकार ही आनंद का आ रहा है, अतः उसकी सन्निधि में जाने से आनंद का अनुभव होना ही है।

जीव का परव्योमरूप अपने अंतःकरण में है। जब अंतःकरण की अखण्ड वृत्ति बनती है, जब यह मनीषा होती है, तभी उस पूर्ण रूप की प्राप्ति होती है। जो आनंदरूप अभी बाहर दिखाई दे रहा है उसके पूरे विकास को जब अपने अंदर देखते हो तब वह प्राप्त हो जाता है। बाहर ढूँढकर तो अब तक मिला नहीं, जैसे ही अंदर जाते हो, वह मिल जाता है। मिलने के साधन पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन—९

सृष्टि की प्रागवस्था का निरूपण करते हुए वहाँ अनिर्वाच्य अविद्या की स्थिति को बताया। उस अनिर्वाच्य अविद्या से प्रसूत उसकी क्रियाओं का अभाव बताते हुए पहले लोकों का अभाव बताया और अब जीव का अभाव बता रहे हैं। जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब मायने कुछ गुण उसमें बिम्ब के जैसे हों और कुछ गुण बिम्ब से भिन्न हों। 'बिम्बवत्' का मतलब ही होता है कि कुछ समानता और कुछ विषमता। सर्वथा समानता हो तो वह बिम्ब ही कहा जायेगा बिम्बवत् क्यों कहा जायेगा ? सर्वथा विपरीत धर्म वाला हो तो भी बिम्ब की तरह नहीं कहा जायेगा। प्रतिबिम्ब अर्थात् बिम्ब की तरह, सत् और चिद् रूप से वह बिम्ब ब्रह्म की तरह है परन्तु आनंद रूप से उसमें 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा स्फुरण नहीं। इसलिये वह आनंद को खोजता है। वह आनंद उसमें प्रकट हो इसी के साधनों पर थोड़ा विचार करते हैं।

जब तक जीव परमात्मा को बाहर ढूँढता है, आनंद को बाहर ढूँढता है तब तक आनंद की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि 'परमात्मा बाहर है' यही भ्रम है। वस्तुतः परमात्मा अंदर है, बाहर समझ

कर उसे बाहर ढूँढता है। जहाँ जो चीज़ नहीं है वहाँ ढूँढने से वह चीज़ मिलती नहीं। इसलिये सर्वप्रथम आवश्यक यह बताया कि परमात्मा बाह्य है इससे हट कर 'अंतरिच्छन्ति रुद्रं' अंदर की तरफ दृष्टि करनी है।

जब उसको अपने अन्दर ढूँढते हैं, अंदर अन्वेषण करते समय क्या स्वरूप प्रकट होता है कि जिससे पता लगे कि अन्वेषण अंदर हो रहा है, वह कौन-सा साधन है ? उसकी प्रथम सीढ़ी बताते हुए आठ चिह्न बताये गये हैं :

'मद्भक्तजनवात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम्।
स्वयमभ्यर्चनं चैव, मदर्थे चाङ्गचेष्टितम्।।
'मत्कथाश्रवणे भक्तिः स्वरनेत्राङ्गविक्रियाः।
ममाऽनुस्मरणं नित्यं, यश्च मामुपजीवति।'

ये आठ चिह्न हृदय में प्रकट होने से पता लगता है कि जीव की दृष्टि अंतर्मुखी बन रही है। एक बार यदि दृष्टि अंतर्मुखी बन गई तो शास्त्र कहता है—

'एवम् अष्टविधं चिह्नं यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्तते।
स विप्रेन्द्रो मुनिः श्रीमान् स यतिः स च पण्डितः।।'

इस प्रकार के उपर्युक्त आठ चिह्न जिसके हृदय में प्रकट हों तो चाहे वह व्यक्ति म्लेच्छ कुल में भी उत्पन्न हुआ हो, यदि यह अंतर्मुखता उसमें व्यक्त होने लग गई तो वह ब्राह्मणों में भी श्रेष्ठ ब्राह्मण माना जाता है। वही वस्तुतः मनन करने वाला मननशील है। वस्तुतः उसी को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। वह यत्न करने वाला संन्यासी है और वही आत्माकार वृत्ति को प्राप्त करने वाला

पंडित है। अर्थात् वृत्ति की बहिर्मुखता जब तक है तब तक मनुष्य के शरीर आदि जो बहिः धर्म हैं उनकी प्रधानता रहती है और जब वृत्ति अंतर्मुखी हो गई तब बाहर की प्रधानता हटकर अंदर की प्रधानता आ जाती है। वृत्ति के भेद से ही यह भेद बनता है।

आधुनिक युग के अन्दर जो एक विचित्र विचारधारा चली है वह यह है कि अंतर्मुखी वृत्ति का नतीजा बहिर्मुखी वृत्ति में घटाना चाहते हैं। ये दोनों अलग चीज़ें हैं। अंतर्मुखी वृत्ति का जहाँ विचार हो रहा हो वहाँ बहिर्मुखी समाज के अन्दर कैसे क्या होता है—इसका विचार अप्राप्त है क्योंकि अंतर्मुखी वृत्ति वाला कभी भी समाज में अपने सम्मान इत्यादि को ढूँढने नहीं जायेगा। यदि जाता है तो वह व्यक्ति बहिर्मुखी है और जब तक बहिर्मुखता है तब तक बहिर्मुखता के नियम भी लागू होंगे। लोग यह ग़लती करते हैं कि अंतर्मुखता के नियमों को बहिर्मुखता में लागू करना चाहते हैं। मनुष्य की आंतरिक योग्यता अंतर्मुखता को लेकर है, बाह्य योग्यता शरीर आदि को लेकर है। बाह्य आचार व्यवहार, भोजन, विवाह इत्यादि तो सब शरीरनिमित्तक हैं, इनमें शरीर की प्रधानता रहेगी। यम, नियम आत्मज्ञान इत्यादि सब अंतर् से सम्बन्धित हैं, इनमें बाह्य चीज़ों की प्रधानता नहीं रहेगी।

अंतर्मुखता प्रारंभ होने पर प्रथम लक्षण बताया 'मद्भक्तजनवात्सल्यं' परमेश्वर के भक्तों के प्रति हृदय में स्वाभाविक वत्सलभाव या प्रेमभाव रहना। वस्तुतः परमात्मा का स्थान ही जीव का हृदय बताया। गीता के अंदर भी 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति' ईश्वर सब प्राणियों के हृदय-देश

में रहता है—यों हृदय देश में रहने वाले परमात्मा को बताया। वेदों में भी इसीलिये 'गुहां प्रविष्टः' हृदयगुहा में उसे प्रविष्ट बताया। 'गुहायां परमे व्योमन्' हृदयगुहा के आकाश में रहने वाला बताया। इसलिये परमेश्वर का निवास प्राणियों के हृदय में होने से प्राणिमात्र के हृदय में परमात्मा है। इतने पर भी कहीं वह व्यक्तभाव से, कहीं अव्यक्तभाव से है। जो लोग परमात्मा के चिंतन-स्मरण में लगते हुए अपने अंतःकरण को शुद्ध करते हैं उनके हृदय में परमात्मा व्यक्त भाव से, प्रकट भाव से रहता है। जो लोग इससे विपरीत अंतःकरण को अशुद्ध रखते हैं या और ज़्यादा अशुद्ध करते हैं, परमात्मध्यान से विमुख हैं, है तो परमात्मा वहाँ भी लेकिन अव्यक्त, अप्रकटभाव से है।

जैसे एक व्यक्ति अपने भायंत्र (कैमरा) के शीशे को भी साफ करता है। उसको साफ करने के लिये जो द्रव पदार्थ आता है उस द्रव पदार्थ को डालकर पोंछने के लिये जो विशिष्ट कपड़ा आता है उससे पोंछता है। जहाँ चित्र खींचता है वहाँ भी वह ठीक प्रकार से देखता है कि रोशनी अधिक न हो, कम भी न हो, दूरी ठीक हो, कोण भी ठीक हो। जितनी देर तक उसका छिद्र खुला रहना चाहिये उतनी देर ही उसे खुला रखता है। वह व्यक्ति भी चित्र खींचता है। दूसरा एक व्यक्ति भी खींचता है जिसने पिता के पैसे से उस यंत्र को खरीद रखा है। बाप के पैसे से चीज़ खरीदने और अपने पैसे से खरीदने मे फरक समझ गये होंगे। बाप के पैसे से खरीदे हुए चार यंत्र घर पड़े रहते हैं। किसी में धूल जम रही है, किसी को कभी किसी बच्चे ने ऊपर से गिरा दिया है जिससे वह टेढ़ा भी हो गया है। साफ करे कौन! दो हज़ार के

कैमरे को चालीस रुपया महीना पाने वाला नौकर तो साफ करना जानेगा नहीं। यदि उसे साफ करने को कहोगे तो वह एक झाड़न लेगा और उसे पोंछ देगा जिससे पहले से ज़्यादा उसपर उसी तौलिये के छोटे-छोटे कण आ जायेंगे। यदि इससे चित्र खींचोगे तो चित्र में भी उस कैमरे के शीशे पर पड़े हुए झाड़न या धूल के दाग आ जायेंगे। सुन्दर-से-सुन्दर व्यक्ति के मुँह पर माता के दाग जैसे आ जायेंगे। एक लड़की का ब्याह होने वाला था, उसका चित्र भेजा गया। आजकल ब्याह के समय फोटो भी भेजते हैं। वह चित्र देखकर लड़के ने उसे ब्याह करने को ना कर दिया। फिर घर वालों ने समझाया कि "इतनी बात हो गई, चित्र आ गया अब मना नहीं किया जा सकता।" किसी दूसरे ने भी कहा कि "फोटो गाँव का खिंचा हुआ है लेकिन लड़की अच्छी है।" ब्याह हो गया। कुछ दिन बाद उस लड़के ने लड़की से कहा कि 'तेरा फोटो देखकर तो मैंने मना कर दिया था लेकिन उस फोटो के जैसे दाग तो तेरे मुँह पर नहीं हैं।' उस चित्र के ऊपर आने वाले दाग उस काँच की कृपा से थे। यदि कैमरा भी नया है, धूल भी उसपर नहीं पड़ी है लेकिन जहाँ अत्यधिक प्रकाश है, वहाँ चित्र खींचोगे तो उस अतिप्रकाश के अंदर चित्र की सीमायें ढक जायेंगी, सीमाओं में स्पष्टता नहीं आयेगी। इसलिये अतिप्रकाशगत चित्र भी ठीक नहीं आता। अथवा जहाँ रोशनी बहुत कम है, वहाँ यदि चित्र खींचोगे तो वस्तु की सीमायें छिप जायेंगी, अल्प प्रकाश के अंदर लिया हुआ चित्र काला हो जायेगा। दोनों चित्र ठीक नहीं आयेंगे। यदि जितनी देर तक उस कैमरे के छिद्र को खोलना है उससे ज़्यादा देर तक उसे खुला रखोगे तो बिल्कुल हिलने वाला

चित्र आ जायेगा। बहुत से लोग चित्र खींचते समय आदेश ही देते हैं कि साँस रोको। काशी में एक ऐसा ही फोटो खींचने वाला आया था जो आधे घंटे तक तो तैयारी कराता रहा और जब फोटो खींचकर लाया तो सब हिले हुए आये। यदि छिद्र ठीक नहीं खुला होगा, अधिक देर तक खुला होगा तो चित्र के कोने बदले हुए आयेंगे, उसके अन्दर जल की लहरों की तरह चित्र बन जायेगा और यदि छिद्र कम खुला तो उसके अन्दर चित्र का पूर्ण रूप ही नहीं आयेगा। इन सब चीज़ों को देखकर जब चित्र खींचेंगे तब जो चित्र आयेगा वह बिल्कुल ठीक आयेगा। रोशनी भी ठीक, न कम न ज़्यादा, छिद्र खोलना भी ठीक, काँच भी साफ जिस पर कोई दाग नहीं। लेकिन याद रखना कि इन सब ग़लतियों से लिया हुआ चित्र भी तुम्हारा ही है। इतना ही नहीं जब तुम देखते हो या तुम्हारा कोई नज़दीकी व्यक्ति भी देखता है तो उसे प्रत्यभिज्ञा, पहचान भी हो जाती है कि 'यह गोपीनाथ' है, परन्तु साथ ही कहता है कि 'चित्र मज़ेदार या साफ नहीं आया।' लेकिन जिस व्यक्ति ने तुमें अच्छी तरह देखा ही नहीं, वह तुम्हारा वैसा चित्र देखकर पहचान भी नहीं पायेगा कि यह गोपीनाथ है। एक-आध बार देखा हुआ हो तो नहीं पहचान में आयेगा और यदि कहीं ऐसा हुआ कि पहले कभी उसे देखा नहीं और चित्र के द्वारा उस व्यक्ति को पहचानना चाहोगे तो उस आदमी की तरह भ्रम हो जायेगा कि सुन्दर को असुन्दर और असुन्दर को सुन्दर मान बैठोगे।

ठीक इसी प्रकार प्रत्येक अंतःकरण के अन्दर वह अंतर्यामी परमात्मा प्रतिबिम्ब रूप से स्थित है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

उसी में उसका चित्र, प्रतिबिम्ब आ रहा है लेकिन यदि उसके ऊपर मलदोष आ गया है, अंतःकरण के अन्दर पाप आदि दोष हैं तो वह भी वहाँ नज़र आ जायेंगे। कई बार लोग आकर पूछते हैं कि परमात्मा अन्दर से हमको या किसी को भी पाप की प्रेरणा क्यों देता है ? प्रश्न पूछने वाले का प्रश्न गलत नहीं है। दुर्योधन तक की यही समस्या थी 'जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्तिः' मैं जानता हूँ कि क्या करना चाहिये लेकिन अंदर से प्रवृत्ति होती है उन कर्मों को करने की जो नहीं करने चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में अनुभव करता है कि मानो अंतर्यामी प्रेरणा करके उससे ग़लत काम करवा रहा है। उसका अनुभव ग़लत नहीं है, अनुभव तो उसका ठीक है कि अन्तर्यामी अन्दर से प्रेरणा कर रहा है। भूल केवल इस अंश में है कि उसको जिस अंतर्यामी की प्रतीति हो रही है वह उसके अंतःकरण के पाप-संस्कारों में से जाकर लिया हुआ चित्र है। इसलिये उसको जो अंदर से प्रेरणा करने वाला परमात्मा दीख रहा है वह पहले ही उसके पाप कर्मों के द्वारा वहाँ खिंचा हुआ है इसलिये तत्तत् पाप संस्कार से विशिष्ट हुआ वह चेतन उसको उन पापों में प्रवृत्ति करा रहा है ऐसी प्रतीति होती है। प्रवृत्ति तो उसे वे पाप कर्म करा रहे हैं लेकिन उसके अंतर्यामी के चित्र में ही वे आ चुके हैं इसलिये उसको प्रतीति ऐसी होती है। जैसे चित्र के ऊपर आये हुए मुख के दाग बिम्ब में नहीं हैं, चित्र में उसी के मुख पर हैं, लेकिन ऐसा होने पर भी जो बिम्ब-रूप है उसके मुँह पर तो वे दाग नहीं हैं। इसी प्रकार परमात्मा किसी प्रकार के पाप की प्रवृत्ति नहीं कराता, स्वयं परमात्मा में वे दाग न होने पर भी अपने अंतःकरण के अन्दर वे दाग होने के कारण

हम लोगों को लगता है 'केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि' कि वह देव ही हमको प्रेरणा करता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार ब्रह्मसूत्र भाष्य में स्पष्ट करते हैं : शास्त्र ने तो कह दिया कि 'जिसे ऊपर ले जाना चाहता है उससे वह शुभ कर्म कराता है।' लेकिन वास्तव में वह करवाता नहीं है; चूँकि वह पाप आगे प्रकट होना है इसलिये उन पापों की तरफ वह प्रवृत्ति करा रहा है ऐसी प्रतीति होती है। यदि अंतःकरण साफ है तो ऐसी प्रतीति नहीं होगी।

अंतःकरण के अंदर यदि पाप के संस्कार किसी काल में नहीं भी हैं तो दूसरा दोष बताया कि यदि अत्यधिक रोशनी है तो सीमायें धुँधली हो जाती हैं। यदि हम प्रवृत्ति करने जाते हैं और उसके अन्दर क्रियाकाल में अत्यधिक विचार करते हैं तो कुछ कर नहीं पाते ! संसार में बहुत से लोग ऐसे हैं कि प्रत्येक कार्य के विषय में बड़ा दीर्घ विचार करेंगे। उन्हें लगता है कि परमात्मा हमें बता तो ज़रूर रहा है लेकिन हर चीज़ में दोष ही बता रहा है, सीमायें स्पष्ट नहीं होती। यदि किसी को वह दान देने में प्रवृत्ति करे तो उसकी सात पुश्त आगे की और सात पुश्त पीछे की जानना चाहता है। किसी संस्कृत के कवि ने लिखा है कि कोई सेठ एक पंडित के पास गया, उससे पूछा—"तुम्हारा क्या गोत्र है, वेद कितने पढ़े हो, कुछ सूत्र याद हों तो सुनाओ, उनका अर्थ भी सुनाओ अथवा इनका विनियोग किन-किन कर्मों में होता है यह बताओ।" पंडित जी को बहुत आशा बँधी कि इतनी परीक्षा करके यह सेठ कुछ ढंग की चीज़ देगा। सारी परीक्षा पास होने के बाद उसने एक कौड़ी ब्राह्मण को दी और कहा कि 'तुम बहुत अच्छे ब्राह्मण हो!'

बहुत से लोग दान देते समय इतनी असम्भावनाओं की कल्पना करेंगे कि उनसे दान देते ही कभी नहीं बनेगा। मान लो कि कोई रोगी व्यक्ति आया और पहले ही तुम्हारे मन में यह संदेह हो कि इसको हमने दवाई के पैसे दिये और उस दवाई ने फायदा नहीं किया तो हमारे पैसे भी गये और इसका रोग भी ठीक नहीं हुआ तो यह पैसों की बरबादी हुई। इसलिये पहले इस बात की गारंटी दो कि तुम्हारा रोग ज़रूर ठीक हो जायेगा। ऐसा डॉक्टर कभी मिलना ही नहीं। इसी प्रकार किसी तप में प्रवृत्ति करेंगे तो उसके ऊपर भी इतना विचार करेंगे कि वह तप भी उनसे नहीं होना है। यह अतिप्रकाश की दृष्टि है—जहाँ विचार तो बहुत है लेकिन उस विचार के कारण ही सीमाएँ धुंधली हो जाती हैं। जितने भी कर्म होते हैं उन सब कर्मों का आधार है कि कुछ सीमाओं में होते हैं। कर्म असीम नहीं हैं—यह बात वेद बार-बार कहता है। यदि ऐसा न होता तो कर्म से ही मुक्ति हो जाती। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'। जितने भी कर्म हैं उन सब में सीमाएँ हैं। कोई भी कर्म सर्वथा शुद्ध हो ही नहीं सकता चूँकि उसका स्वरूप ही यह नहीं है। इसलिये जैसे औषधि लेने के लिये अच्छे प्रामाणिक व्यक्ति को ढूँढ लेते हो कि यह वैद्य अच्छा है, या यह डॉक्टर अच्छे सर्टिफिकेट वाला है। ऐसे ही यह मान लेते हो कि अमुक बड़ी-बड़ी दवाई की कम्पनियाँ हैं जो ठीक दवाई बनायेंगी। इत्यादि दो तीन कोटि की जिज्ञासा करके तुम इलाज प्रारंभ कर देते हो तब तो काम बन जाता है। और यदि यह कहो कि पहले यह निर्णीत और निश्चित हो जाये कि यही दवाई ठीक है, इसी डॉक्टर का निदान ठीक है तो फिर कभी दवाई नहीं ले पाओगे। लड़के को

स्कूल में भर्ती कराने जाते हो तो देखते हो कि अमुक स्कूल के लड़के काफी संख्या में प्रथम श्रेणी में आते हैं, आगे भी इस स्कूल के लड़कों ने अच्छे-अच्छे पदों पर पहुँचकर उन्नति की है, यह मानकर बच्चे को भर्ती करा देते हो। यदि प्रत्येक अध्यापक की योग्यता, उसका प्रत्येक विषय का ज्ञान, उसके पढ़ाने का तरीका इत्यादि सारी चीज़ों की जिज्ञासा करने जाओगे तब तक लड़का तीस साल का हो जायेगा, भर्ती नहीं करा पाओगे ! कर्म का स्वरूप ही ऐसा है।

एक राजा था। उसको किसी ने समझाया कि जब तक मनुष्य किसी-न-किसी धर्म का अवलम्बन करके नहीं चलता तब तक उसकी उन्नति नहीं होती। किसी-न-किसी रास्ते को पकड़कर चलना चाहिये। जब किसी रास्ते को पकड़कर नहीं चलोगे तब जो नतीजा होता है वह आप लोग भारतवर्ष में देख ही रहे हैं क्योंकि हम सब लोग धर्मनिरपेक्ष हैं अर्थात् किसी भी एक धर्म में रहना नीची बात मानते हैं। नतीजा क्या है ? चारों तरफ देख ही रहे हो कि सब प्रकार की अव्यवस्था फैल रही है। वह राजा बड़ा विचारशील था। उसने कहा कि किसी धर्म को मानकर चलूँ इसके लिये पहले निर्णय करना चाहिये। उसने घोषणा कर दी कि "जो व्यक्ति आकर यह सिद्ध कर देगा कि उसके मार्ग में कोई दोष नहीं, किसी विषय में संदेह नहीं, बस उसी रास्ते को मैं अपनाऊँगा।" बहुत से विद्वान् लोग आये, बड़ी भारी सभा हुई, आपस में शास्त्रार्थ हुआ। वह शास्त्रार्थ आज से नहीं सृष्टि के आदि काल से आज तक हो रहा है। इसलिये प्रत्येक व्यवस्था वाले ने दूसरे की व्यवस्था में कुछ-न-कुछ दोष निकाला ही।

अंततोगत्वा राजा ने निर्णय किया कि यहाँ जितने भी विद्वान् आये इनमें से कोई भी व्यक्ति ठीक रास्ते को सिद्ध नहीं कर सका। उसने आगे घोषणा कर दी कि यह आपस का विचार तो असफल रहा, इस मीटिंग का कोई नतीजा नहीं निकला, इस परिषद् ने कोई निर्णय नहीं किया, इसलिये और कोई हो तो आकर मुझे कुछ रास्ता बताये तो मैं उसी पर चलूँगा। तब अनेक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के लोगों ने समय-समय पर आकर उसे बताया। वह एक की बात दूसरे आचार्यों को बताये तो वे पहले वालों का दोष निकाल दें। दो तीन साल ऐसा चलने पर पंडितों ने भी सोच लिया कि राजा के पास जाना बेकार है। राजा की भी आशा बहुत कुछ निराश हो गई। सोचा—कोई ठीक धर्म होता तो मैं चलता लेकिन ऐसा कोई मिल ही नहीं रहा है।

कुछ वर्ष बीतने के बाद उधर से एक वेदांती महात्मा निकला और कुछ दिन उसी शहर में रहा तो लोगों ने जिक्र किया कि यहाँ का राजा धर्म को मानना तो चाहता है लेकिन निर्दुष्ट धर्म मानना चाहता है। महात्मा ने सारी बात सुनकर समझ लिया। वेदांती होने के कारण उनको इस बात का पता था कि निर्दुष्ट तो सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है। जितने रास्ते हैं उन सब में दोष तो होना ही हुआ 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा सत्यम् अर्थं प्रबोधयेत्' शास्त्र की आज्ञा है कि रास्ते जितने हैं सारे झूठे हैं। इसलिये जब मार्गदर्शन करायेंगे तब तो झूठ में ही कराना पड़ेगा, लेकिन जो मार्ग सत्य अर्थ अर्थात् परमात्मा का ज्ञान करा दे, वह ठीक है, रास्ते चाहे जितने ग़लत हों। जैसे मोटी दृष्टि से एक चार पैर वाला प्राणी होता है जो म्याऊँ-म्याऊँ करता है और चूहे को

खाता है। वह प्राणी तो एक ही है, कुछ लोग उसका नाम बिडाल कहते हैं, कुछ बिल्ली कहते हैं, कुछ उसे cat कहते हैं। अनेक नाम हैं। अब यदि यह निर्णय करो कि इसका सच्चा नाम कौन-सा है–तो कुछ नहीं बता सकते। नाम तो सब झूठे हैं, उन नामों का उस बिल्ली से कोई सम्बन्ध थोड़े ही है ! लेकिन जिस किसी नाम से उसको लोग समझ लें, वही नाम सच्चा है। अगर तुमने शुद्ध-से-शुद्ध संस्कृत का नाम बोला और सामने वाला नहीं समझा तो बेकार है और यदि जिसको तुम अपभ्रंश या अपशब्द कहते हो उसे भी किसी ने समझ लिया तो काम हो गया। छोटा बच्चा उनमें से कुछ नहीं समझता, उसे केवल कह दो 'मौसी' तो वह समझ जाता है। शब्द जितने हैं वे इस दृष्टि से असत्य हैं कि पदार्थों से वास्तविक संबंध वाले नहीं हैं लेकिन यदि किसी भी झूठे शब्द का प्रयोग करके सामने वाला उस चार पैर वाले प्राणी को समझ गया तो वह शब्द ठीक है।

वे महात्मा वेदांती होने से इस बात को जानते थे। उन्होंने विचार किया कि मैं राजा को मार्गदर्शन दूँगा। राजा के पास गये। राजा ने उन्हें बड़े आदर से बैठाया। राजा ने पूछा 'क्या आप मुझे वह मार्ग दिखा सकते हैं जिसमें कोई दोष न हो ?' महात्मा ने कहा 'मैं दिखा सकता हूँ लेकिन मेरा एक नियम है कि नदी के बीच में *अच्छी* नाव पर बैठकर ही उपदेश देता हूँ क्योंकि भूमि सारी अशुद्ध होती है, जल नारायणस्वरूप है। इसलिये मैं नारायणस्वरूप जल में *अच्छी* नाव पर बैठकर उपदेश करूँगा, यहाँ नहीं कर सकता।' राजा ने कहा 'कल ही इसकी व्यवस्था करा दूँगा।' समय निर्धारित हो गया। और सबसे भी राजा ने

कह दिया कि 'तैयार रहना।'

दूसरे दिन महात्मा, राजा तथा अन्य सब लोग समय पर नदी-किनारे पहुँच गये। नाव खड़ी थी, राजा ने महात्मा से चढ़ने का अनुरोध किया। महात्मा ने कहा 'इस नाव के सामने वाला रंग उड़ा हुआ है इसलिये नाव *अच्छी* नहीं है, बेकार है।' राजा ने तुरंत हुक्म देकर दूसरी नाव मँगाई। उस नाव को देखकर महात्मा ने कहा 'इस नाव की पतवार बीच से थोड़ी फूटी हुई है, इससे भी काम नहीं चलेगा, मैं इसमें नहीं बैठूँगा।' फिर तीसरी नाव आ गई। महात्मा ने कहा 'इसका तो रंग ही काला है, इसमें कौन बैठे !' अंत में कुछ देर के बाद राजा ने तंग आकर कहा 'महात्मन् ! उपदेश करना जानते हो तो करो, नहीं करना जानते हो तो न करो। इस नाव का रंग उतरा हुआ, इसकी पतवार ठीक नहीं इन सबसे क्या मतलब ? इनमें से किसी नाव में पानी तो आ नहीं रहा है, नाव का गुण तो इतना ही है कि अंदर पानी न आये। बाकी रंग इत्यादि से क्या होना है ? नावें सभी ठीक हैं, आपको उपदेश करना नहीं आता हो तो सीधा 'न' करो।'

महात्मा ने कहा 'राजन् ! मैं तो उपदेश दे चुका । बुद्धिमान् व्यक्ति वह होता है जो शिष्य के मुँह से ही उपदेश करा दे। इसलिये मैं तो उपदेश कर चुका।' राजा ने पूछा 'उपदेश कहाँ हुआ ?' महात्मा ने कहा कि जैसे कोई नाव ऐसी नहीं जिसमें कुछ-न-कुछ दोष निकाला न जा सके लेकिन जिस नाव में भी पानी नहीं आता है वह नाव नदी में जाने के लिये पर्याप्त है, बाकी विशेषताओं में कोई दोष दीखे तो भी कोई फरक नहीं पड़ता। इसी प्रकार जिस किसी मार्ग से चलकर परमात्मा की प्राप्ति हो जाये, जगत्रूप

पानी के अन्दर चलते हुए जगत् के शोक-मोह आदि पानी के पदार्थ अपनी नाव में न आयें, वही मार्ग अनुसरणीय है। शोक-मोह की प्राप्ति न होते हुए परमात्मभाव में स्थित रख सके वह रास्ता ठीक है। बाकी, किसी के अन्दर कहीं अतिव्यप्ति किसी के अन्दर कहीं अव्याप्ति—इससे कुछ नहीं होना है। जितनों ने तुम्हें मार्ग बताया वे सब आत्मवेत्ता थे। उन्होंने रास्ता ठीक बताया। उनमें से किसी भी रास्ते को लेकर चलते तो न जाने अब तक कहाँ पहुँच गये होते।' राजा समझ गया।

जो व्यक्ति अत्यधिक विचार में प्रवृत्ति करता है उसको बार-बार यह विचार आता रहता है कि अमुक कर्म को करूँगा तो इसकी सीमायें साफ नहीं, अमुक करूँगा तो इसकी भी साफ नहीं; इस प्रकार निरंतर संदेह करने से वह किसी भी योग्य कर्म में प्रवृत्ति नहीं कर पाता। इसलिये अतिप्रकाश से भी काम नहीं होता, यह भी नहीं होना चाहिये।

दूसरी तरफ यदि सर्वथा रोशनी नहीं है, अंधकार है, विचार है ही नहीं तो वहाँ सब कुछ काला-काला-सा आ जाता है। उससे भी काम नहीं चलता। मनु इसीलिये कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति स्वयं प्रज्ञा से हीन है तो वह शास्त्र से लाभ नहीं ले सकता। जैसे जो व्यक्ति दोनों आँखों से अंधा है वह व्यक्ति रोशनी से कोई लाभ नहीं उठा सकता इसी प्रकार जो चीज़ को समझ करके विचार करने में सर्वथा असमर्थ है, शास्त्र उसके लिये कोई रोशनी नहीं दे पाता। शास्त्र को समझने के लिये विचारशक्ति या प्रज्ञा चाहिये। जैसे प्रकाश के बिना आँख नहीं देख सकती परन्तु फिर भी बिना आँख वाले के लिये प्रकाश बेकार है। इसी प्रकार बिना शास्त्र

के अपनी बुद्धि सूक्ष्म अर्थों को नहीं समझ सकती, लेकिन जिसमें अपनी बुद्धि है ही नहीं, वह शास्त्र को क्या समझेगा ! वह भी नहीं समझ सकता। इसीलिये मनु कहते हैं कि इस प्रकार विचार-रहित व्यक्ति का जो शास्त्रज्ञान है वह शास्त्र का, धर्म का नुक्सान कर देता है। आजकल यह भी बहुत ज़्यादा है क्योंकि धर्म के विषय में लोग कहते हैं कि बिल्कुल आँख बन्द करके चलो। सामने साफ अधर्म की बात हो रही हो और कहो कि 'यह अधर्म है' तो लोग कहते हैं कि 'यह तो अपनी-अपनी मान्यता है, किसी की निंदा क्यों करनी !' कोई कहता है कि 'भोग से सत्य की प्राप्ति होगी' तो लोग कहते हैं कि बात अच्छी कहते हैं, बड़ी युक्ति वाली बात कहते हैं। कोई कहता है कि 'शराब मांस आदि से क्या हर्ज़ा होता है, दुनिया में सारे खाते हैं, क्या वे सब के सब नरक जायेंगे ?' उनसे कहें कि विचार करो; तो कहते हैं कि विचार तो हमें करना नहीं है। जैसे अत्यधिक प्रकाश में चित्र गड़बड़ा जाता है वैसे ही अप्रकाश में भी गड़बड़ा जाता है। इसी प्रकार प्रेरणा करने वाले अंतर्यामी का जो चित्र जाता है, वह चित्र उसी का है किंतु जैसा चित्र है वैसी प्रेरणा होगी।

इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि ठीक विचार और आचार दोनों को संयुक्त करके चलना पड़ता है 'विचाराचारसंयोगः सदाचारःप्रकीर्तितः' जो विचार आचार का रोधक हो जाये, किसी कर्म को करने में विचार रुकावट ही डाल दे, वह विचार सदाचार नहीं है। जो आचार तुम्हें विचार करने में रुकावट करने लग जाये वह भी सदाचार नहीं है। विचार तुम्हें कुछ-न-कुछ करने में प्रवृत्त करे और जो भी तुम करो उससे तुम में कोई-न-कोई नया विचार

आये तभी प्रगति सम्भव है। सारे विज्ञान का भी यही आधार है। एक सिद्धांत बनाते हैं; उस सिद्धान्त के अनुसार अमुक फल होना चाहिये। उस फल को घटाकर देखते हैं। जब इस प्रकार उसे घटाकर देखते हैं तब उस प्रक्रिया में ही सिद्धान्त में कोई नवीनता लाने की जरूरत होती है तो ले आते हैं। जैसे यह विचार और आचार का संयोग सभी विज्ञानों में, वैसे ही धर्मविज्ञान में भी दोनों को संयुक्त करके चलना ज़रूरी है।

चौथा दोष बताया कि भायंत्रका छिद्र खुला ही रहे। छिद्र बिल्कुल न खुले—अर्थात् अंतर्यामी की प्रेरणा जहाँ सत्‌रूप में प्रतीत नहीं हो। छिद्र के अत्यधिक खुलने का मतलब है कि हर चीज़ को अंदर लेते चले जाना। बहुत से लोगों को ज्ञान का भी अजीर्ण होता है ! भोजन करते हैं तो यदि उसे पचाकर तुमने खून बना लिया तब वह भोजन किया हुआ सफल हो जायेगा। केवल मुँह में डालने से ताकत नहीं आती। किसी आदमी को केवल खिचड़ी खिलाकर तुम तगड़ा बना सकते हो, घी पिलाकर नहीं भी बना सकते। यह नियम नहीं कि घी से तगड़ा ही हो। जिसके संग्रहणी का रोग हो, यकृत बढ़कर साइरोसिस हो गया हो उसे घी पिलाओ तो 'हरि ओं तत्सत्' का मामला होगा ! यदि उसे खिचड़ी खिलाओगे तो धीरे-धीरे ताकत वाला होकर यकृत का दोष दूर हो जायेगा। दूसरी तरफ जिसकी क्षुधाग्नि तीव्र हो, दो हजार दण्ड करने वाला जवान लड़का हो, उससे कहो कि खिचड़ी खाओ तो थोड़े दिन में उसे टी.बी. हो जायेगी। उसको तो खूब घी के अन्दर बादाम घोटकर अच्छी तरह सीरा खिलाओगे तब उसे ताकत आनी है। इसी प्रकार जिस ज्ञान को तुम प्राप्त करते हो यदि उस ज्ञान

को तुमने अपने अंतःकरण में पचा लिया, वह तुम्हारे अंतःकरण का स्वरूप बन गया और उसके अनुसार तुम्हारी प्रवृत्ति हो रही है, तब वह ज्ञान पच गया, तुम्हारे काम का हो गया; यदि उस ज्ञान को तुम अपने जीवन में नहीं ला पाये, आत्मसात् नहीं कर पाये तो वह बदहज़मी का कारण हो जायेगा, तुम्हारी पुष्टि नहीं कर पायेगा। दूसरी तरफ, यदि तुम्हारी बुद्धि की अग्नि प्रज्वलित है, तुम्हारी समझबूझ स्पष्ट है, फिर भी कहें कि 'इतना ही समझो, आगे की बात फिर धीरे- धीरे बतायेंगे' तो थोड़े दिनों में तुम्हारे अन्दर कुंठा पैदा हो जायेगी, लगेगा कि इनके पास तो ज्ञान कुछ है ही नहीं। जितना बताया वह तो आत्मसात् हो गया। ऐसा व्यक्ति भी नास्तिक हो जाता है ! यदि ठीक प्रकार मनुष्य को अपेक्षित ज्ञान नहीं मिलता तो उसे अश्रद्धा होती है। जिसने ज्ञान सुना लेकिन उसे जीवन में आत्मसात् नहीं कर पाया, उसे भी अश्रद्धा हो जाती है। सोचता है कि जैसे मुझे आत्मसात् नहीं हुआ ऐसे किसी को नहीं होता होगा। इसलिए छिद्र इतना खुला नहीं होना चाहिये कि इतनी सामग्री अपने अंदर कर ले कि वह पचे ही नहीं; तब भी रोग होगा, तुम्हारा अन्तर्यामी तुम्हें यही प्रेरणा देता प्रतीत होगा कि यह तो असम्भव है। बहुत से लोगों को पहला कदम ही लेना चाहिये जो भगवान् ने कहा 'अभ्यासेप्यसमर्थोसि मत्कर्मपरमो भव' (१२-१०)। अन्य कुछ न कर सके तो कम-से-कम जो वेद, स्मृतियों में आज्ञाएँ दी हैं उन्हीं का पालन करे। उनको यही नहीं पच पाता अर्थात् 'परमेश्वर के बताये हुए कर्मों को करूँ' यही उन्हें नहीं जँचता। कहते हैं 'आगे की बात बताइये !' जीवन में कुछ आत्मसात् नहीं किया लेकिन वे सब

बातें जानना चाहते हैं, जीवन में कुछ नहीं लाना चाहते। जहाँ व्यक्ति की जिज्ञासा उत्कट है लेकिन योग्य गुरु और योग्य शास्त्र के अभाव में उसको मार्ग नहीं मिलता वह भी मार्ग पर नहीं चल सकता। लेकिन ऐसे व्यक्ति के ऊपर चाहे जितनी कठिनाई हो, चूँकि वह शुभ कर्मों में लगा हुआ है इसलिये कुछ समय के बाद उसके शुद्ध कर्म ही उसको गुरुप्राप्ति करा देंगे।

हर हालत में यहाँ बता रहे हैं कि अंतर्यामी का चित्र हर-एक हृदय में है, इसमें कोई संदेह नहीं। जो परमेश्वर का भक्त है उसके अंतःकरण में चूँकि पाप भी नहीं, मलदोष से भी वह रहित है अतः उस अंतःकरण के अन्दर न वह अतिप्रकाश वाली बात है अर्थात् न इतना ज़्यादा विचार में प्रवृत्त होता है कि कर्म अवरुद्ध हो जाये और न सर्वथा अविचार है। न आँख मीचकर कर्म करने वाला है; तथा न वह ज्ञान का अपच होने देता है और न अपर्याप्त ज्ञान ही प्राप्त करता है। उसे वह अंतर्यामी पहचान में आ जाता है। जैसे किसी को अच्छी तरह जानने वाला उसके अच्छे-बुरे सब तरह के चित्रों में उसे पहचान लेता है ऐसे ही जो दोषों से ग्रस्त हैं उनके अन्दर भी अंतर्यामी वही है, इसमें संदेह नहीं। परमात्मा को समझने वाले ब्रह्मनिष्ठ लोग तो उसे भी परमात्मा का ही फोटो देखते हैं। चाहे अतिप्रकाश वाला धुँधली सीमाओं वाला हो या दाग वाला हो, है परमात्मा का ही चित्र। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' महात्माओं को तो सब चीज़ों में परमात्मा स्पष्ट पहचान में आता है। लेकिन शुरू का साधक परमात्मा से परिचित नहीं है इसलिये सदोष चित्त का अंतर्यामी उसे परमात्मरूप नहीं दीखता, जो परमेश्वर का भक्त है उस भक्त के अन्दर तो उन्हें अवश्यमेव

परमात्मा की अंतर्यामिता की प्रतीति हो जाती है। उसमें उनका जो प्रेम होता है वह वस्तुतः शिव में ही प्रेम होता है। इसलिये यहाँ बताया कि पहली प्रतीति 'मद्भक्तजनवत्सल' में होती है। अन्य प्रतीतियों पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन—१०

सृष्टि से पहले या उत्पत्ति से पहले क्या रहता है—इसका विचार करते हुए बताया कि उत्पन्न होने वाली चीज़ जैसी उत्पद्यमान है वैसी वहाँ नहीं हो सकती। उत्पन्न होने के बाद जो होगा वह वहाँ हो यह सम्भव नहीं क्योंकि यदि उत्पन्न होने के बाद जो रूप होगा वह पहले ही था तो उत्पत्ति की आवश्यकता ही नहीं। जो घड़ा मौजूद है उस घड़े को उत्पन्न थोड़े ही किया जायेगा। उत्पद्यमान अर्थात् जिसको उत्पन्न होना है वह चीज़—वह रूप नाम कर्म—उत्पत्ति के पहले उपस्थित नहीं हो सकता। यदि कहा जाये कि उत्पत्ति के पहले वह सर्वथा नहीं है तो जो चीज़ सर्वथा नहीं है वह भी उत्पन्न नहीं हो सकती। जैसे बालू में तेल नहीं है तो बालू से तेल उत्पन्न नहीं हो सकता। जल में घी नहीं है तो जल से घी उत्पन्न नहीं हो सकता। नियम यह हुआ कि जो चीज़ उत्पन्न होने वाली है वह उस नाम रूप में पहले मौजूद नहीं है। परन्तु उत्पन्न होने से पहले की और उत्पन्न होने के बाद की जो स्थितियाँ हैं उन दोनों में रहने वाली कोई सामान्य चीज़ अवश्य है। कुछ ऐसा अवश्य है कि जो उत्पन्न होने के पहले

एक नाम-रूप में था और उत्पन्न होने के बाद दूसरे नाम-रूप में हुआ। जैसे तिल में तेल खली के कणों के बीच में था, स्वतंत्र नहीं था। तेल सर्वथा नहीं था ऐसा नहीं, लेकिन खली के कणों के बीच में मौजूद जो तेल वह हाथों को चिकना करने में अथवा पूड़ी को तलने में समर्थ नहीं था। जब तिलों को पेरकर खली और तेल के परमाणुओं को अलग कर दिया गया तब वह तेल शरीर को चिकना करने अथवा पूड़ी को तलने के काम में लिया जा सकता है। तिलों के अन्दर तेल मौजूद था लेकिन तेल से जो व्यवहार हो सकता है ऐसी व्यवहार्य स्थिति में नहीं था, तेल-व्यवहार करने की योग्यता वाला वह नहीं था। एक रूप में था और दूसरे रूप में नहीं था। अथवा जब सोने से गले में पहनने की कण्ठी बनाते हो तो वह कण्ठी और उसके पहले होने वाला सोने का पासा—उन दोनों में स्वर्णरूप तो एक जैसा है। पासा बाजार में लेन-देन का साधन था लेकिन गले में पहनने की व्यवहारयोग्यता उसमें नहीं थी। जब उसकी जंजीर बन गई तब गले में पहनने की व्यवहारयोग्यता उसमें आ गई। सोने के रूप में पहले था परन्तु गले में पहनने की व्यवहार की योग्यता उसमें नहीं थी। ठीक इसी प्रकार सृष्टि के पहले जो तत्त्व था वह व्यवहार्य नहीं था परन्तु चूँकि सारी सृष्टि उसमें से निकली है इसलिये सृष्टि रूप में बनने की योग्यता उसमें अवश्य थी। जैसे गले की जंजीर बनने की योग्यता पासे में है उसी प्रकार इस समग्र सृष्टि के बनने की योग्यता उस तत्त्व में थी परन्तु वह योग्यता अभी प्रकट नहीं हुई थी, व्यवहार-योग्य नहीं हुआ था। यही उसकी अनिर्वाच्यावस्था है।

उसको स्पष्ट करते हुए आगे बताया 'नासीद्रजः' न वह बाह्य

पदार्थों के रूप में और 'नो व्योमा परो यत्' न देखने वाले प्रमाता के रूप में था; दोनों ही रूपों का वहाँ अभाव था। प्रमाता के स्वरूप पर विचार करते हुए देखा कि यह किस रूप में प्रकट होता है। प्रतिबिम्ब रूप में प्रकट होने से बिम्ब के सत् और चित् धर्म तो इसमें व्यक्त हैं परन्तु आनंदरूपता व्यक्त नहीं। 'मैं आनंद हूँ' इस प्रकार जीव को अपना ग्रहण नहीं होता। जीव को ज्ञान या उपलब्धि नहीं होती अथवा प्रतीति नहीं होती। 'मैं सुखी हूँ' यह प्रतीति तो हो जाती है लेकिन 'मैं सुख हूँ' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। जैसे 'मैं हूँ' यह प्रतीति तो सत् रूप को प्रकट करती है। 'मैं चेतन हूँ', 'मैं जड नहीं हूँ' इस रूप से चिद्रूप की भी प्रतीति है। परन्तु 'मैं आनंद हूँ' इस रूप से प्रतीति नहीं। इस प्रतीति को कैसे किया जाये ? इसके साधनों पर विचार करते हुए पहले साधन के रूप में 'मद्भक्तजनवात्सल्य' को बताया। यद्यपि परमात्मा प्राणिमात्र के हृदय में है तथापि जिनका अंतःकरण शुद्ध है, दोष से रहित है, स्थिर है, एकाग्र है, अचंचल है उनके अन्दर परमात्मा के अंतर्यामी रूप में जो दर्शन होता है वह सामान्य पुरुष को भी परमात्मरूप से समझ आ जाता है। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्रों में दीखने वाले व्यक्ति को उस व्यक्ति से अतिपरिचय रखने वाला साथी तो पहचान लेता है तथापि नया आदमी नहीं पहचान सकता। परन्तु स्पष्ट आये हुए चित्र को देखकर नया व्यक्ति भी पहचान लेता है। इतना ही नहीं, उस चित्र को देखकर समय आने पर जिसने उस व्यक्ति को कभी नहीं देखा वह भी प्रत्यभिज्ञा कर लेगा कि 'यह वही आदमी है जिसका चित्र मैंने देखा था।' इसी प्रकार अशुद्धान्तःकरण में जो

परमेश्वर का प्रतिबिम्ब है उसको भी जो उस आत्मस्वरूप को अच्छी तरह से पहचान चुका है वह पहचान लेगा लेकिन सामान्य पुरुष उसे वहाँ नहीं पहचान सकेगा। परमेश्वर का जो नित्य निरंतर चिंतन करने वाला, अंतःकरण को परम शुद्ध रखने वाला जो परमेश्वर का भक्त है, उसके हृदय में परमेश्वर सबके द्वारा पहचाना जा सकेगा। इसलिये सर्वप्रथम 'मद्भक्तजनवात्सल्य' को बताया।

आगे कहते हैं 'पूजायां चानुमोदनं' परमेश्वर की पूजा को देखकर हृदय में प्रसन्नता होना। पूजा का मतलब क्या है ? जिन गुणों को हम प्राप्त करने के योग्य समझते हैं उन गुणों को देखने पर हृदय में जो एक बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है उसी को पूज्य-भाव कहते हैं। जैसे किसी दुकान करने वाले व्यापारी को कोई परिचय करा देता है कि 'बिरला जी आये हैं' तो बिना किसी के कहे-सुने ससंभ्रम तुरंत खड़ा हो जाता है क्योंकि व्यापारी धन को प्राप्त करने के योग्य चीज़ मानता है और बिरला जी में धन प्राप्त करने की योग्यता अधिक है। इसलिये उन्हें देखकर उसमें जो बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है वही पूज्य-भाव है। दूसरा व्यक्ति इस बात का अनुभव करता है कि धन आने में अनर्थ करना पड़ता है, बचाकर रखने में अनर्थ करना पड़ता है और धन के खर्च से भी अनर्थ ही उत्पन्न होता है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' नित्यं का दोनों तरफ अन्वय है—अर्थात् नित्यं भावय और अर्थमनर्थम् इति नित्यम्। धनप्राप्ति करने के साधनों में भी मनुष्य को अनर्थकारी कार्य करना पड़ता है।

भगवान् वेदव्यास लिखते हैं—

'नाछित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव भवंति महतीश्रियः।।'

लगातार दूसरों को मर्मान्तक कष्ट दिये बिना अर्थात् जो सहन नहीं हो सकता ऐसा कष्ट दिये बिना अधिक धनप्राप्ति नहीं हो सकती। किसी बड़ी लोहे की फैक्ट्री में चले जाओ। वहाँ के मज़दूर की स्थिति देखो ! रेल में चढ़कर जाते हो तो कभी रेल के इंजन में पहुँच जाओ। मर्मांतक कष्ट उस व्यक्ति को होता है तभी धनप्राप्ति होती है। अपने लड़के को कभी जुखाम हो जाये तो आदमी कहता है कि 'आराम कर, नहीं तो ज़्यादा दिन तकलीफ होगी;' और यदि अपना फोरमैन किसी दिन न आये, चिट्ठी भेज दे, तो कहते हो 'देखो, जुखाम के पीछे चिट्ठी भेज दी !' उससे कह देते हो 'नौकरी करनी हो करो नहीं तो जवाब दो, और बीस आदमी मिलते हैं।' और भी जो काम नहीं करने चाहिये वे सब काम करने पड़ते हैं, जैसे झूठ बोलना, खुशामद करना इत्यादि, सारे व्यापारी लोग जानते ही हो। सौदा खरीदने आया हुआ व्यक्ति महाबुद्धू है यह जानते हो, जब दुकान से चला जायेगा तो कहोगे भी कि 'कैसे-कैसों से माथा-फोड़ी करनी पड़ती है !' लेकिन उसके सामने कहते हो 'आओ सेठ जी'। यह सब करना पड़ता है।

जैसे मछलीमार अनेक मछलियों को मारता है तब उसका काम चलता है ऐसे ही यदि तुम्हारे सौ नौकर हैं, वे जितने का काम करते हैं उतना उनको दो तो तुम्हारा नफा कहाँ से बनेगा ? धन तो तुमने बैंक से लिया या बाजार वालों से लिया, उसका ब्याज दे दिया। धन का रिटर्न तो उसके पास चला गया जिससे तुमने पैसा लिया, और काम का रिटर्न उस मज़दूर के पास जाये

जिसने काम किया तो तुम्हारे पास भगवान् का नाम ही बचेगा! केवल ब्याज चुकाने के लिये तो कोई काम करता नहीं है। जिन सौ आदमियों ने काम किया उनमें से हरेक ने पाँच रुपये का काम किया और तुमने उनको तीन रुपये दिये तब तुम्हें दो सौ का फ़ायदा हुआ। यदि चार रुपये प्रतिव्यक्ति दिया तो तुम्हारा फ़ायदा सौ ही रुपया रह गया। यदि उसे कसकर दो रुपये निकाल लोगे तो मूछों पर ताव दोगे कि 'मैंने दो सौ रुपये का फायदा ज्यादा कर लिया।' इसीलिये अर्थोपार्जन काल में और प्राप्ति काल में भी मनुष्य को अनर्थ ही करना पड़ता है।

बचाकर रखने में भी अनर्थ है। संसार में चारों तरफ प्राणियों को पदार्थों की उपलब्धि है नहीं, आवश्यकता है। यदि आवश्यकता वाले को पदार्थ की उपलब्धि कराई जाये तभी उचित माना जायेगा और उपलब्धि करा दो, तो तुम्हारे पास क्या बचेगा? रोज़ जब रात्रि में आठ बजे दुकान बन्द करके आते हो तो रास्ते में सैंकड़ों लोग फुटपाथ पर कुकुड़-मुकुड़ हुए सोते मिलते हैं। यदि यह स्मरण करके कि 'मेरी दुकान में पाँच सौ कम्बल पड़े हैं, उनमें से तीन सौ इन्हें ओढ़ा दूँ', पदार्थ तो उपलब्ध हैं, उन्हें उपलब्ध कराओगे तो कितने दिन तुम्हारा व्यापार चलना है ? पदार्थ तुम्हारे पास, प्राप्त करने के योग्य व्यक्ति तुम्हारे सामने और फिर उसे नहीं देना—यह अनर्थ ही तो है या और कुछ है? लोग तो ऐसे हुए हैं जैसे रंतिदेव जिन्होंने अपने खाने में से स्वयं न खा कर भूखों को खिला दिया ! और हम हैं कि अपने पास खुद ओढ़ने से ज़्यादा कम्बल होते हुए भी जिनको आवश्यकता है उनको नहीं देते हैं। ये सब अनर्थकारी कार्य हैं। रोज़ सुनने

को मिलता है कि देश में इतना अनाज है कि उसे रखने के लिये जगह नहीं मिल रही है। रेल के स्टेशनों पर वह इकट्ठा किया गया है, अनाज में कीड़ा लग रहा है, सड़ रहा है, बड़ी समस्या है; पाँच करोड़ रुपये लगाकर गोदाम बनाये जायेंगे जिसमें अनाज का सड़ना कम हो। वहीं अखबार में यह भी लिखा मिलता है कि देश में अभी भी भुखमरी मिटी नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व तक लोग कहा करते थे कि बड़े आदमी सामान दबा लेते हैं जिससे भुखमरी बढ़ रही है, लोगों को बँट नहीं पाता है। लेकिन उन पर दोष देने वाले भी वही कर रहे हैं ! व्यापारी के पास माल रहता था, जिसको आवश्यकता है उसको नहीं देता था—यही दोष था। वही काम सरकार करती है कि हमारे पास अनाज है, भुखमरी भी है लेकिन उनको दे नहीं सकते। तो फरक क्या रहा ? दोनों एक जैसा ही अनर्थ कर रहे हैं। 'अर्थम्-अनर्थम्'—न सरकार का कसूर है और न धनी का कसूर है; कसूर तो धन का है, वह जिसके पास जायेगा उसको अनर्थकारी बुद्धि देगा।

जब धन खर्च होता है तब भी अनर्थ ही उत्पन्न होता है। जितने पैंतालीस वर्ष से बड़ी उम्र के लोग हैं उनमें से अधिकतर हमसे यहीं शिकायत करते हैं कि आजकल लड़कों को पैसे के प्रति कुछ सद्भाव नहीं है, पैसा पानी की तरह खर्च करते हैं। बाजार में जाते हैं, किसी ने कह दिया 'पाँच रुपये किलो सेव' तो कहते हैं कि 'दो किलो दे दो।' यह नहीं कि चार दुकानों में देखकर चार रुपये के भाव लायें। हम सुन लेते हैं। वह बच्चा ऐसा खर्च करने का अनर्थ क्यों सीखा ? तुम्हारे पास पाँच रुपये होते नहीं थे तब तुम चार दुकानों पर पूछने जाते थे। अब उसको

आवश्यकता पाँच रुपये की और मिल रहे हैं पंद्रह रुपये तो उसे खर्च करने की आदत पड़ गई। बहुत से लोग हमसे कहते हैं कि 'हमने अपना लड़का दून स्कूल या मेओ स्कूल में भेज रखा है, चार सौ रुपया मासिक उसका खर्चा लगता है।' हमने कई बार पूछा कि उस चार सौ रुपये महीने में, तीन महीने की छुट्टी पर घर आकर उसकी रोटी, कपड़े पर जो खर्च होता है, वह भी जोड़ लिया है या नहीं। कहते हैं वह तो अलग ही है। जब वह लड़का आगे जाकर सरकार में सबसे बड़ा अफसर का पद पायेगा—जो प्रथम आई.ए.एस. को मिलता है, जिसमें शुरू में वह सबडिविज़नल मैजिस्ट्रेट बनता है—तब उसको साढ़े चार सौ रुपया महीना मिलेगा। जब बच्चे-काल में तुमने उससे चार सौ रुपया खर्च करवाया, तो अब कितना खर्च करेगा ? अब तो वह बड़ा हो गया, उसका विवाह भी हो गया, पत्नी वाला हो गया। सारे खर्चे उसे खुद करने हैं। दो जनों के लिये आठ सौ तो सीधे ही हो गये। बाकी खर्चे जोड़ दो तो एक हजार रुपये का खर्च सीधा ही हुआ। जब लोग कहते हैं कि 'अफसर घूस लेते हैं' तो हम कहते हैं कि आप लोग अपने लड़कों को घूसखोर बना रहे हो। पहले ही बता दिया, कि जितने अनर्थ आते हैं सब धन से ही आते हैं। आज जगह-जगह लोग कहते हैं कि शराब से अनर्थ होता है लेकिन शराब आती कहाँ से है, कहीं मुफ्त की नदी तो बह नहीं रही है। शराब का बीज धन ही तो है, तभी पीने जायेंगे। सभी बुराइयों का बीज अंततोगत्वा देखोगे तो यही निकलता है। उसकी उपलब्धि कराकर फिर कहना कि 'यह खर्च करके बिगड़ते हैं', बेकार की बात है। उन्हें बिगाड़ा जाता है। अर्थोपार्जन काल में

अनर्थ, रक्षणकाल में अनर्थ, व्यय काल में अनर्थ; धन सब जगह अनर्थ उत्पन्न करने वाला है।

इस प्रकार का जो अविवेकी है वह बिरला जी का परिचय पाते ही ससंभ्रम खड़ा होता है क्योंकि उसे उसमें पूज्य बुद्धि है। विवेकी को कहो कि 'बिरला जी आये हैं' तो उसके मन में, आँख में पहले ही विकार आ जाता है कि आज किसका मुँह देखना पड़ा जो अनर्थ करने वालों का शिरोमणि है ! इसलिये आज तो कम-से-कम पाँच हजार गायत्री का जप करूँगा तब इस दोष का प्रक्षालन होगा ! यह दृष्टिभेद है, उसे उसमें पूज्य-दृष्टि नहीं हो सकती है। वह समझता है 'कौपीनवंतः खलु भाग्यवंतः'। कोई आदमी जंगल में एकान्त में केवल फल और पत्र खाकर अपना समय निकाल देता है। निरंतर वेदांत-चिंतन, आत्मचिंतन के सिवाय उसकी कोई वृत्ति क्षणमात्र को नहीं होती। तब उसे उसमें पूज्य-बुद्धि होती है। व्यक्ति जिन गुणों को गुण समझता है, प्राप्त करने के योग्य समझता है उन गुणों को जिसमें देखता है वहीं पूज्य-दृष्टि होती है। पूज्य दृष्टि कहाँ बनाई जाये--यह नियम कोई नहीं कर सकता। यह तो स्वसाक्षी-संवेद्य है। अपना हृदय ही गवाही देता है कि कौन-सा गुण मैं ठीक समझता हूँ और किन चीज़ों को मैं गुण नहीं मानता। इसमें कोई नियम नहीं हो सकता। यह दूसरी बात है कि अनादि काल से जैसा कार्य करता आया है तदनुकूल संस्कारों का निर्माण होता रहा है और उन से संस्कारों के निर्माण के अनुकूल ही उसमें किसी गुण में पूज्य-बुद्धि होती है। कैसे कहाँ पूज्य-बुद्धि होती है--यह तो उसे बता देते हैं; लेकिन पूज्य-बुद्धि किसी के ऊपर जबर्दस्ती लादी नहीं जा सकती,

आरोपित नहीं की जा सकती क्योंकि यह तो अनुभव के आधार पर होती है।

समग्र गुणगणों का आधार परमात्मा ही है। बाकी जहाँ कहीं भी कुछ देखा जाता है वहाँ गुणों की पूर्णता नहीं होती। इसलिये पूर्ण गुणों की निष्पत्ति केवल परमात्मा में होती है। उसमें अत्यंत विरुद्ध गुण एक साथ रहते हैं, यह परमात्मा की विशेषता है। भगवान् का लक्षण करते हुए ही कहा गया है—

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य् धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्यमित्येषां षण्णां भग इतीरणाः।।'

जिसमें भग हो वह भगवान् है। छः गुणों के समुदाय का नाम भग है—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। ये छः जहाँ संपूर्ण हों वहाँ माना जायेगा कि यह भगवान् है। इन छः धर्मों के विचार करने पर पता लगता है कि इनमें परस्पर विरोध है। ये छः भी समग्र रूप से उसमें हैं, ऐसा नहीं कि थोड़े-थोड़े उसमें हों। ऐश्वर्य और धर्म का विरोध है। ऐश्वर्य का मतलब है कि तुम्हारा बड़प्पन चारों तरफ फैलेगा। इसीलिये लोग तिजोड़ी में रुपया रखकर थोड़े ही उसे ऐश्वर्य मान लेते हैं। जब अपने घर में ब्याह होता है तब दस हजार रुपये की बिजली की रोशनी करते हैं, तब कहते हैं कि इनका ऐश्वर्य है। धर्म इससे ठीक दूसरी तरह का है। जहाँ ऐश्वर्य की कामना होगी वहाँ धर्म नहीं रहेगा और जहाँ धर्म की कामना होगी वहाँ ऐश्वर्य नहीं रहेगा। दोनों का साथ नहीं बनता।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती वृंदावन में रहते थे। उनको भगवान् कृष्ण का साक्षात्कार हुआ। उनके पास भगवान् हमेशा

किशोरावस्था के बनकर रहते थे। कलियुग के अंदर मनुष्य का शरीर भगवान् के संग को दीर्घ काल तक धारण नहीं कर सकता। भगवान् कृष्ण सोच रहे थे कि इससे आगे धर्मप्रचार, वेदांतप्रणयन इत्यादि का काफी काम लेना है, अधिक काल तक यदि शारीरिक संग रह गया तो इसका शरीर नहीं रह जायेगा और वह काम भी रह जायेगा। अन्न आदि में इतनी शुद्धि नहीं होती है कि भगवत्संग दीर्घकाल सहा जा सके। आचार्य मधुसूदन संन्यासी थे, भिक्षा से ही जीवन चलता था। जाकर सूखा आटा मांग लाते थे, उसके मोटे टिक्कड़ बनाकर भगवान् को भी खिला देते और स्वयं भी खा लेते थे। भगवान् को लीला दिखानी थी इसलिये एक दिन कहने लगे कि 'ऐसे सूखा टिक्कड़ नहीं खाया जाता, थोड़ा नमक माँग लाया करो।' दूसरे ही दिन भिक्षा मांगने गये तो नमक भी ले आये। सभी गाँव वाले जानते थे कि सिद्ध महात्मा हैं, दे दिया। महीना-बीस दिन हो गये। एक दिन फिर भगवान् कहने लगे कि 'बिल्कुल सूखा नमक के साथ खाता हूँ तो मेरे मुँह में से खून निकलता है। इसलिये साथ में थोड़ा-सा दाल का पानी भी आ जाये तो ठीक हो जाये।' अब की बार मधुसूदन ने कहा—'सुन लो, तुम संन्यासी के भगवान् बने हो। जो मिलता है वह चुपचाप खाओ। आज कहते हो दाल का पानी, कल कहोगे साग भी ले आओ, फिर कहोगे थोड़ा घी ले आओ। क्या सारी दुनिया में हमारी नाक कटाओगे ? संन्यासी को तो जो मिले उसमें संतोष करना चाहिये, आगे यह कहना कि मुझे 'यह दो, वह दो' इससे तो मेरी नाक कटेगी। अगर तुमसे ऐसे नहीं रहा जाता तो अपना इंतजाम खुद कर लो, हमें तो इसी में शरम आती है।'

बस, भगवान् को तो निमित्त मिल गया। थोड़े दिनों के बाद एक बहुत बड़े व्यापारी का जहाज उधर से होकर जा रहा था। उस समय दिल्ली तक जमुना में बड़े-बड़े पोत और जहाज आया करते थे और व्यापार प्रायः जहाजों से होता था। पुराणों में कहा है कि घोर कलियुग में जाकर गंगा-यमुना भारत भूमि को छोड़ देंगी वह इन पाँच सौ साल में प्रत्यक्ष नजर आ रहा है। कहाँ तो बड़े-बड़े जहाज दिल्ली तक आया करते थे और अब नावों के आने का भी ठिकाना नहीं चूँकि पानी बहुत कम रह गया है। वह व्यापारी बहुत माल लेकर जहाज से आ रहा था। वहीं जहाज बालू में धंस गया, बड़ा प्रयत्न किया गया लेकिन जहाज वहाँ से नहीं निकला। उन लोगों को भय यह लग रहा था कि जब तक हम इसमें से निकलेंगे तब तक कहीं से डकैत इत्यादि आकर हमारा माल न लूट कर ले जायें। पास ही गाँव में जाकर सबको कह रहे थे कि 'तुम लोग चाहे जितना रुपया लो, किसी तरह से जहाज निकलवा दो।' किसी ने कहा कि 'इस समय हमारा खेती का मौसम है हम नहीं जा सकते लेकिन यहाँ एक सिद्ध महात्मा रहता है वह तुम्हें आशीर्वाद दे तो तुम्हारा जहाज निकल जायेगा।'

वे लोग मधुसूदन के पास पहुँच गये, कहने लगे—'महात्मन्! आप आशीर्वाद दो तो हमारा काम हो जाये।' उन्होंने कहा 'मेरे पास कोई ऐसी सिद्धि नहीं है। और कोई सिद्ध होगा, उसके पास जाओ।' वे कहने लगे कि 'हमने आप ही के बारे में ऐसा सुना है इसलिये इस व्यापार में से हमें जितना फ़ायदा होगा उसका पचास प्रतिशत हम आपको दे देंगे।' उन्होंने फिर कहा कि 'मैंने कह दिया कि मेरे पास कोई सिद्धि आदि नहीं है, किसी और के

पास जाओ।' भगवान् वहाँ खड़े ही थे, कहने लगे कि 'मैं तुम्हारा जहाज निकलवा दूँ।' भगवान् वहाँ गये और एक ही हाथ का धक्का दिया, वह जहाज निकल गया। दिल्ली आकर उन्होंने जब माल बेचा तो जितने फायदे की उन्हें आशा थी उससे भी कई गुना ज़्यादा फायदा हुआ। वापिस जाकर उन्होंने मधुसूदन स्वामी के सामने धन रख दिया। उन्होंने कहा कि 'इसका हमें क्या काम! ले जाओ।' उन्होंने कहा कि 'आपके आशीर्वाद से ही हमारा काम हुआ।' मधुसूदन स्वामी ने कहा 'मैंने कुछ नहीं किया।' उन्होंने कहा 'आपके पास एक बच्चा था उसी ने तो यह काम किया था।' मधुसूदन ने कहा—'फिर जिसने किया उसी को दो, हमारे सिर काहे को डाल रहे हो !' बच्चे के सामने धन रखा तो उसने ले लिया।

जब वे लोग चले गये, आचार्य मधुसूदन ने कहा कि 'यह क्या माया रची है। मैं इसका क्या करूँगा ?' भगवान् ने कहा 'तुमने कहा था कि अपना इंतजाम खुद कर लो तो मैंने कर दिया। अब इससे तुम मेरे लिये मन्दिर बनवा दो और वहाँ सारे भोग-राग की व्यवस्था भी हो जाये, मक्खन इत्यादि माल उड़े।' आचार्य समझ गये कि भगवान् निरंतर हमारे पास नहीं रहना चाहते। मन्दिर का निर्माण हो गया। उस धन से भोजन आदि की सारी व्यवस्था हो गई। सब व्यवस्था और प्रतिष्ठा करके जब भगवान् वहाँ से चलने लगे तो मधुसूदन के हृदय में कुछ दुःख हुआ, आँखों में पानी भर आया, कहने लगे 'आपने मुझे केवल रोटी के पीछे छोड़ दिया !' भगवान् का भी उनसे बहुत प्रेम था, इसलिये कहने लगे 'ऐसा नहीं, रोज पहले तुम्हारे टिक्कड़ का भोग जब यहाँ आ

जायेगा उसके बाद बाकी सब भोग लगेगा।' वही परम्परा आज भी वहाँ निभाई जाती है।

इस प्रकार परमात्मा में तो ऐश्वर्य और धर्म दोनों विरुद्ध चीज़ें एक साथ रह सकती हैं। उनमें ऐश्वर्य भी पूरा और धर्म भी पूरा है। इसके द्वारा ऐश्वर्य भी दिखा दिया और साथ में धर्म भी कि 'पहले टिक्कड़ खाऊँगा तब दूसरी चीज़ ग्रहण करूँगा।' इसी प्रकार यश और श्री भी विरोधी हैं। लोक में लक्ष्मी खर्च करने से यश होता है और यश की चिंता न करने वाले के पास ही लक्ष्मी बढ़ती है। यश की चिंता वाला सोचेगा कि बड़ी से बड़ी धर्मशाला, प्याऊ इत्यादि बनायें, यश तो इन सबसे होना है, और उनमें श्री का खर्च है। जो व्यक्ति श्री को बचाकर रखना चाहेगा वह सारी दुनिया में अव्वल दर्जे का कंजूस मक्खीचूस कहा जायेगा। ये दोनों भगवान् में एक साथ रह सकते हैं, अन्यत्र नहीं।

इसी प्रकार श्री का वैराग्य से विरोध है जैसे श्री का यश से विरोध है। वैराग्यवान् धन के प्रति निरपेक्ष रहेगा और जब तक लक्ष्मी के प्रति अत्यधिक आदर प्रदर्शित न किया जाये तब तक लक्ष्मी रहती नहीं। अत्यंत आदर से जो लक्ष्मी को रखता है उसी के पास लक्ष्मी रहती है। थोड़ा भी उसके प्रति अनादर दिखाया तो वह नहीं रहती। इसीलिये ब्राह्मणों को अधिक धन की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उनका श्री के प्रति आदर नहीं है। सरस्वती के प्रति तो उनका आदर होता है, धन के प्रति नहीं होता। एक हमारे सज्जन कहते हैं कि उनके पास एक पंडित आते हैं जो कहते हैं कि 'आज तो पचास रुपये की मजदूरी हो गई, अब चलें और घोटें-छानें।' इसी प्रकार एक जगह कोई दलाल था। हमने उससे

कहा कि तुम कमाते क्या हो ? कहने लगा 'मिल ही जाता है जो मिलना होता है। मैं तो एक बजे तक पूजापाठ से निपटता हूँ। सवेरे ही सवेरे कौन व्यापार का टंटा करे। पहले गंगा जी गये, वहाँ कुछ कसरत की, स्नान किया तब पूजा पाठ किया। एक बजे घर जाता हूँ; भोजन आदि करके कुछ आराम कर लेता हूँ। तब उठकर बाजार जाता हूँ।' फिर थोड़े साल के बाद उन्हें देखा तो उनका शरीर कुछ कमजोर लगा। पूछा, क्या बात है, कुछ बीमार तो नहीं पड़ गये ? कहने लगे—'नहीं, मैंने एक दुकान कर ली है, सवेरे नौ बजे जाना पड़ता है।' हमने समझ लिया कि आदर बदल गया। पहले किसी चीज़ के प्रति आदर था और अब किसी और चीज़ को आदर देने लग गये। वैराग्यवान् धन को अनादर का पदार्थ मानेगा तो उसके पास धन कहाँ से आयेगा ! इसलिये इसमें भी विरोध है।

इसी प्रकार से ऐश्वर्य और ज्ञान का भी विरोध है। जहाँ ज्ञान रहेगा वहाँ ऐश्वर्य नहीं रहेगा। वह किसको ऐश्वर्य दिखाये, उसका ज्ञान होता है कि मेरे अंदर बैठा हुआ अंतर्यामी परब्रह्म परमात्मा है जिसका ऐश्वर्य तो हर फूल पर खिल रहा है, सूर्य चंद्रमा नक्षत्र तारों पर खिल रहा है, क्या वह कभी किसी तुच्छ ऐश्वर्य और उसको दिखाने की कामना वाला हो सकता है ? इसलिये ऐश्वर्य और ज्ञान दोनों साथ नहीं रहा करते। भगवान् में इन विरुद्ध धर्मों की साहचर्यता, इकट्ठा मिलना सम्भव है। ऐसे विरुद्ध धर्मों वाला, समग्रगुणसम्पन्न जो हो वह भगवान् हुआ। इसीलिये परमेश्वर में सबको पूज्य-बुद्धि होती है। बाकी सर्वत्र पूज्य दृष्टि तो कमबेशी हो सकती है, लेकिन परमेश्वर में पूज्यबुद्धि एक जैसी

होती है।

परमेश्वर के रूपों में भी कुछ भिन्न दृष्टियाँ बनती हैं : वैराग्य वाला चिंतन करता है परमेश्वर के उस रूप का जो भस्म लगाकर कैलास के एकांत में समाधि का अभ्यास कर रहा है। ऐसे भगवान् शंकर पर उसका मन जमता है। ऐश्वर्य की दृष्टि वाले का मन वहाँ थोड़े ही जमता है। वह तो देखता है—वैकुण्ठ धाम में बहुत बड़े सोने के सिंहासन पर बैठे हुए हैं, सिर पर बड़े-बड़े हीरों से जटित मुकुट है, गले में कौस्तुभ मणि की माला पड़ी हुई है, चारों तरफ सोना चाँदी चमक रहा है, ऐसे विष्णु भगवान् की मूर्ति पर उसका मन टिकेगा। उसको शंकर का वह रूप कैसे अच्छा लगेगा जिन्होंने गहनों के लिये साँप लपेट रखे हैं, पहनने के लिये हाथी का चमड़ा, चिताभस्म शरीरभर में लगा रखी है! उस रूप की महत्ता उसकी समझ में कहाँ आयेगी ? इसी प्रकार जिसमें राज्य आदि की दृष्टि होती है, शक्ति प्राप्त करने की इच्छा होती है उसे दुर्गा की मूर्ति जमेगी जो अपनी दस भुजाओं के अन्दर दस प्रकार के अस्त्र धारण करके असुरों को मार रही है। उससे कहो कि 'बाल गोपाल की मूर्ति का ध्यान करो' तो उसे लगेगा—यह मेरी क्या रक्षा करेगा! इसे तो ज़रूरत पड़ने पर शायद मुझे ही बचाना पड़े! परमेश्वर के विग्रहों में भी विभिन्न रूपों के प्रति जो दृष्टि बनती है उसका कारण यही है। लेकिन हर हालत में 'सर्वैः परमेश्वर एक एव हूयते' सब भिन्न रूप धारण करने वाला परमेश्वर तो एक ही है। इस प्रकार परमात्मा में जो पूज्यदृष्टि है वह स्वानुभूति की दृष्टि ही पूजा है।

प्रवचन—११

सृष्टि व्यक्त होने से पूर्व की अवस्था को बताते हुए वहाँ प्रमेय, ज्ञेय, दृश्य का अभाव बताया और प्रमाता, ज्ञाता, द्रष्टा का अभाव भी बताया। जिस द्रष्टा का अभाव बता रहे हैं वह साक्षिरूप द्रष्टा नहीं, प्रमातारूप द्रष्टा है। प्रमाता अर्थात् अंतःकरण उपाधि वाला। इस उपाधि से जीवभाव और अंतःकरण की उपाधि के निवृत्त हो जाने से ब्रह्मभाव है। अंतःकरण की निवृत्ति का साधन क्या है—इस पर विचार करते हुए पहला साधन बताया 'मद्भक्तजनवात्सल्यम्' जिस शुद्ध अंतःकरण में परमात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रतीत होता है, उसके प्रति प्रेम का होना। दूसरा साधन बताया 'पूजायां च अनुमोदनम्' परमात्मा में पूज्य-दृष्टि। परमात्मा के पूज्य गुणों को देखकर उसमें जो भावविशेष होता है उसी को पूज्य-दृष्टि कहा।

अगला चिह्न है 'स्वयम् अभ्यर्चनं चैव।' तीसरा साधन बताया कि न केवल परमेश्वर में पूज्य दृष्टि का अनुमोदन बल्कि स्वयं परमेश्वर की पूजा या अर्चना भी अपेक्षित है। पूजा करना मायने क्या? यद्यपि अर्चन कई प्रकार का होता है तथापि अर्चन की सबसे

उत्तम प्रक्रिया बताते हुए महाभारत के विष्णुसहस्रनाम में कहा

'एष मे सर्वधर्माणां धर्मोधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा।'

भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि सभी प्रकार के धर्मों में, सभी प्रकार की अर्चनाओं में, पूजाओं में अधिकतम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ क्या है ? स्तुति के द्वारा परमेश्वर की अर्चना अर्थात् पूजा। कई तरह से भक्ति के स्वरूप बताये गये हैं। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'भक्तिः भजनं तात्पर्यम्' भक्ति मायने भजन और भजन के मायने तात्पर्य अर्थात् तत्परता है। सभी चीजों का तात्पर्य परब्रह्म परमात्मा में है, यही भजन है। ब्रह्मसूत्र का जो चतुर्थ सूत्र 'तत्तु समन्वयात्' है यही भजन है। यदि भक्ति का अर्थ और कोई बाह्य क्रिया करते हो तो कभी नहीं कह सकते कि भक्ति परमेश्वर की है या संसार के किसी पदार्थ की है ! मन्दिर में पूजा जैसे मुकदमा जीतने की इच्छा वाला करेगा वैसे ही भक्ति वाला करेगा। जैसा जप किसी का वशीकरण करने के लिये किया जायेगा वैसा ही जप भक्ति से भी किया जायेगा। जितने कर्म हैं वे सारे बाह्य दृष्टि से वैसे ही किये जायेंगे जैसे लौकिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये। फर्क तात्पर्य में पड़ता है। एक का तात्पर्य परमात्मा से है और दूसरे का तात्पर्य संसार के पदार्थों से है। जो क्रियायें परमात्मसम्बन्धिनी हो जाती हैं वे क्रियायें वास्तविक पूजा हो जाती हैं। मन्दिर में पुजारी पूजा करते हुए यदि यह देखता है कि 'किसी सेठ ने क्या चढ़ाया' तो अब वह भक्ति नहीं रह गई क्योंकि दृष्टि परमेश्वर में तात्पर्य की नहीं रह गई, किसी और तात्पर्य की हो गई। भगवान् का शृंगार करते हैं कि देखकर *लोग* प्रसन्न होंगे,

यहाँ तात्पर्य लोकरंजन में हो गया, परमात्मा में नहीं रहा। शास्त्र का अध्ययन करते हैं, वेदांत को घोटते हैं कि 'मैं जब इस बात को कहूँगा तो लोगों को बड़ा अच्छा लगेगा, बड़ी युक्तिसंगत लगेगी, दूसरे को शास्त्रार्थ में हरा दूँगा।' पढ़ वह वेदांत रहा है लेकिन तात्पर्य उसमें नहीं है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

'वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यान-कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये।।'

यदि वाणी को ऐसा अभ्यस्त कर लिया है कि कभी अशुद्ध बात निकले ही नहीं। शब्द एक के बाद दूसरा ऐसा निकलता रहे जैसे फुलझड़ी झड़ रही हो। शास्त्र का अर्थ प्रतिपादन करने की कई प्रकार की शैलियाँ हैं, उसे मनोरंजक बनाने की शैली है, इसका नाम विद्वत्ता है। यह सब भोग की दृष्टि के लिये है, मुक्ति के लिये नहीं। अध्ययन, स्वाध्याय करते समय यदि यह ध्यान रह गया कि दूसरे को समझाना है तो सामने तात्पर्य परमात्मा नहीं रहा। चाहे मन्दिर में पूजा कर रहे हो, चाहे वेदांतशास्त्र का अध्ययन कर रहे हो, सभी क्रियायें वैसे ही की जा सकती हैं जैसे मोक्ष के लिये या परमात्मा के लिये की जाती हैं। फर्क तात्पर्य में है। वेदांत की यदि कुछ विशेषता है तो यही कि वह समग्र वेदों का तात्पर्य ब्रह्म में स्वीकार करता है जिसे व्यास जी ने 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र से कहा। जब हम बार-बार तात्पर्यनिर्णय ब्रह्म में करते हैं तब यही भक्ति है। तात्पर्येण परमात्मा के गुणगणों की स्तुति करने का मतलब ही हो गया कि वे गुण अपने में प्रतिफलित होंगे। जैसे-जैसे उनके स्तवों का विचार करते जाओगे वैसे ही वैसे वे गुणगण धीरे-धीरे तुम में जज़्ब होते जायेंगे।

वस्तुतः परमात्मा के स्तव का मतलब क्या है? स्तुति का तात्पर्य होता है कि कोई हो तो थानेदार और तुम उसे कह दो इंस्पैक्टर जनरल आफ पुलिस, अथवा कोई हो तो कबाड़ी की दुकान करने वाला और उससे कह दो कि यह तो आश्चर्यजनक चीजों को एकत्रित करके बेचने वाला है; यही उसकी स्तुति हो गई। ऐसे परमात्मा से श्रेष्ठ कौन सी चीज़ है जो तुम उसकी स्तुति करो ? यदि उससे श्रेष्ठ कुछ होता तो उसकी स्तुति की जा सकती थी। वेद कहता है 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' जब उसके जैसा ही नहीं है तो उससे बड़ा कहाँ देखने को मिलेगा ? फिर उसकी स्तुति कैसे की जा सकती है ? यह ठीक है कि परमात्मा अपने स्वस्वरूप में सबसे श्रेष्ठ है इसलिये उसकी स्तुति नहीं हो सकती, उससे श्रेष्ठ कुछ है ही नहीं तो उसकी स्तुति कैसे हो, परन्तु उसका एक ऐसा भी रूप है कि जो श्रेष्ठ नहीं है। परमात्मा का वह रूप है जीवरूप, जो अशुद्धांतःकरण में प्रतिबिम्बित होने वाला रूप है। उस प्रतिबिम्बरूप में वह सबसे श्रेष्ठ नहीं है। जीवरूप वाला है तो वही क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' वेद कहता है कि सृष्टि करके उसमें जीवरूप में वही प्रविष्ट होता है, जीवरूप से उसी ने प्रवेश किया। 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति' पुराण भी यही बात कह रहा है। यह जो उसका जीवरूप है इसके अन्दर वह शुद्धि और वह पूर्णता नहीं है। इस रूप के अन्दर आई हुई अशुद्धि को हटाना ही उसकी स्तुति है। जीवरूप से उसके ऊपर जो लांछन लग रहे हैं उनको हटाकर उसकी ब्रह्मरूपता का तात्पर्य रूप से प्रतिपादन करना ही परमेश्वर की स्तुति है। ब्रह्मरूप की स्तुति नहीं कर सकते क्योंकि वह वाणी का विषय ही नहीं है।

लेकिन जीव के रूप में आये हुए ब्रह्म पर जो दोषारोपण हुए हैं, राग-द्वेष-काम-क्रोध आदि, उन सबको हटाते चले जाना, इसके द्वारा उसका शुद्ध रूप प्रकट करते चले जाना—यही उसकी स्तुति है।

यह स्तुति नर कर सकेगा। 'न रमते विषयेषु इति नरः' जो विषयों में नहीं खेलता है उसे नर कहते हैं। विषयों की तरफ रमणीयता-दृष्टि न करने वाला नर है। ईशावास्योपनिषद् भी यही बताती है 'न कर्म लिप्यते नरे' मनुष्य वह है जो कर्म से लिप्त नहीं होता। अलिप्त होने का उपाय है कि फल की इच्छा नहीं करता। 'कुर्वन् एव इह कर्माणि' कर्म करते हुए ही रहता है अर्थात् बिना फलाभिलाषा के कर्म करता है। 'ही' का मतलब किसी को हटाना होता है, अन्यव्यावर्त्तन होता है। जैसे 'इस पंक्ति में ब्राह्मण *ही* बैठें' अर्थात् आये हुए क्षत्रिय-वैश्य न बैठें। अथवा 'आप ही शादी में आना' अर्थात् अपने बीवी-बच्चों को लेकर मत आना इत्यादि। किसी न किसी की व्यावृत्ति ही 'ही'-शब्द करता है। वेद कहता है 'कुर्वन् एव'—'कर्म करते हुए ही', कर्म और कर्म का फल दो चीजें साथ ही प्राप्त हैं। इसलिये 'कर्म करते हुए ही' अर्थात् उसके फल ही इच्छा को न करते हुए। सभी कर्मों का फल किसी न किसी विषय की प्राप्ति है, वह विषयप्राप्ति चाहे यहाँ स्त्री, पुत्र, धन आदि रूप से हो अथवा आगे चलकर स्वर्ग, वैकुण्ठ, गोलोक आदि रूप हो, हैं तो सभी विषय ही। जो विषय की अभिलाषा को छोड़ देते हैं, कर्मफल की इच्छा को छोड़ देते हैं उनकी नर-संज्ञा होती है। कौन इस स्तुति को कर सकेगा ? कर्मफलाभिलाषा से रहित अंतःकरण वाला नर अर्थात् मन को शुद्ध करने वाला ही

स्तव कर पायेगा।

यह स्तुति किस समय करे ? यह सबसे बड़ा धर्म है तो सवेरे, दोपहर, प्रदोषकाल में, कब करे ? 'सदा' हर समय, हर क्षण कर सकते हो। अंतःकरण के दोषों के द्वारा परमात्मा पर दोषों का आरोपण हुआ है, तात्पर्य से यह निर्णय करना कि परमात्मा में, चिन्मात्र में ये दोष प्रतीत होते हुए भी नहीं हैं, यही उसकी स्तुति है। इसी को सबसे बड़ी अर्चा बताया। क्यों यह श्रेष्ठ अर्चा है? भगवान् भाष्यकार इसकी विशेषता बताते हैं 'हिंसादिपुरुषांतर-द्रव्यांतर-देशकालादि-निरपेक्षत्वम्' इन कारणों से इसकी विशेषता है। बाकी जितने कर्म हैं उनमें कुछ न कुछ हिंसा होती है। हिंसा केवल पशु की ही होती हो ऐसा नहीं है। पौधे पर बढ़िया सुन्दर पुष्प लगा हुआ है, अभी चार दिन वहाँ रहेगा और भ्रमर आकर उसके रसका पान करेगा। उसको तुमने वहाँ से नोच लिया। सूक्ष्म दृष्टि वाले के लिये यह भी हिंसा है। गृहस्थ को इसलिये पाँच यज्ञों का विधान किया गया। जहाँ चूल्हा जलाओगे अथवा दिया जलाओगे, झाडू निकालोगे, जहाँ पानी रखते हो वहाँ सर्वत्र हिंसा होती है। आटा पीसने में भी हिंसा होती है। इन सब जगहों पर प्राणियों की हिंसा सम्भव है और प्राणियों के सिवाय उन पदार्थों की हिंसा तो है ही। लेकिन यहाँ जो अंतःकरण से राग-द्वेष को हटाने वाली स्तुति है, परमात्मा के गुणों के स्मरण का कार्य है, इसके अंदर हिंसा की निरपेक्षा है। परमेश्वर के गुणों का निरंतर अंतःकरण में स्मरण करना है जिससे आरोपित राग-द्वेष आदि निवृत्त होते चले जायें।

इसी प्रकार यहाँ द्रव्यान्तर की अपेक्षा नहीं है। द्रव्य नाम-

रूपात्मक हैं। जहाँ-जहाँ नाम-रूपात्मक पदार्थ लाओगे वहाँ-वहाँ अर्थरूपता आयेगी और जैसा पहले बता ही दिया कि अर्थ के बीच में अनर्थ पड़ा हुआ है। अर्थ का कारण अनर्थ ही होता है। यदि चाहते हो कि 'एक बहुत बड़े मन्दिर का निर्माण करूँ' तो उसके पेट में कहीं न कहीं अनर्थ पड़ा ही हुआ है, नहीं तो उसके लिये जो द्रव्यांतर अपेक्षित हैं वे कहाँ से आयेंगे ! इसलिये द्रव्यपूजा अर्थात् द्रव्य को निमित्त बनाकर जहाँ पूजा होगी वहाँ असूया, ईर्ष्या की सम्भावना है। तुम सोने का हार चढ़ाओगे तो चाँदी का हार चढ़ाने वाला तुम्हें चोर समझेगा, कहेगा कि 'इनका चोरी का या स्मगलिंग का माल है तभी चढ़ाते हैं।' आगे उससे पूछो कि 'तुम चाँदी कहाँ से लाये हो, क्या गड्ढा खोदकर बनाई है?' यह दोष-दृष्टि असूया है। ईर्ष्या भी होती है कि 'इन्होंने सोने का हार चढ़ाया तो मैं भी कोई ऐसा प्रयत्न करूँ कि सोना कहीं से आये, मैं भी चढ़ाऊँ बल्कि मैं उसमें हीरे के नग लगाकर चढ़ाऊँ'। इसलिये जहाँ द्रव्यपूजा होगी वहाँ असूया, ईर्ष्या की सम्भावना हमेशा बनी रहेगी।

इस स्तुति में पुरुषांतर की अपेक्षा भी नहीं। बाह्य अर्चना में पुरुषांतर की भी अपेक्षा होगी जैसे मंत्र जानने वाला तथा उसकी विधि को जानने वाला कोई और चाहिये। देश की भी अपेक्षा होगी, सब देशों में तो नहीं कर सकते। बस में चलते हुए शंकर जी का पूजन थोड़े ही कर सकते हैं। काल की भी अपेक्षा है, रात्रि को बारह बजे भगवान् विष्णु का पूजन थोड़े ही कर सकते हो। इसलिये अन्य जितनी अर्चनाये हैं उन सबमें सापेक्षता है और यह निरपेक्ष है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि वह हमेशा सबको स्वभाव से उपलब्ध है। उसकी मूर्ति को लेकर चलना नहीं पड़ता। कल ही कहीं गये हुए थे जहाँ वे लोग महाराष्ट्र से खड़ाऊँ लेकर यहाँ आये हुए हैं और आगे कहीं जाना है। उसी के लिये उन्हें बड़ा भारी इंतजाम करना पड़ा। खड़ाऊँ रखने के लिये एक सिंहासन बनाया,काफी झंझट थी। यहाँ तो 'देहो देवालयः प्रोक्तो देही देवो निरंजनः' यह शरीर ही देवालय है, मन्दिर है। कोई और सिंहासन बनाने की जरूरत नहीं है और जब तक जीवन है तब तक जहाँ जाओगे वहाँ शरीर को अलग से उठाकर नहीं ले जाना पड़ेगा ! यह चाहे नब्बे किलो का, चाहे सवा सौ किलो का हो जाये, जितना भारी हो, अपने आप चलता है। इसके लिये कोई अलग से इंतजाम नहीं करना है। नहीं तो, छोटी से पेटी में ठाकुर जी साथ रखते हो; कभी कदाचित् हवाई जहाज में जाना पड़े तो आजकल वे लोग नंगाझाड़ी लेते हैं। कहते हैं 'इस थैले में क्या है ?' तुमने कहा 'ठाकुर जी है।' तो कहते हैं 'दिखाओ।' उससे यदि पूछें कि 'तेरी जाति क्या है ?' तो कहता है कि 'यह कानून के खिलाफ है।' ठाकुर जी को तो छोटे से थैले में ले जाओ तो भी सुरक्षित नहीं और यह बिना प्रयत्न के चलता है। शरीर को चलाने वाला शरीर के अंतःकरण में बैठा हुआ जो परमात्म-तत्त्व है वही पूज्य है, वही देव निरंजन है। 'अर्चितः सर्वभावेन स्वानुभूत्या विराजते' उसकी अर्चना, पूजन, स्तवन सब प्रकार से होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में 'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति' इत्यादि से कहा कि यह जो तुम्हारा आत्मतत्त्व है यही पुत्र है इसलिये इसके

साथ वात्सल्यभाव करो। यही पति और यही पत्नी है इसलिये इसके साथ माधुर्य-भाव करो। यही नौकर है, इसके साथ दास्यभाव करो, यही तुम्हारा मालिक है इसके साथ स्वामिभाव करो। यही मित्र है इसलिये इसके साथ सख्यभाव करो। किसी भाव को करने में कभी कोई रुकावट नहीं है। बाकी सब जगह कुछ न कुछ रुकावट महसूस होती है। बाकी देवताओं की अर्चना करते हैं तो कभी वे प्रसन्न होंगे तब दर्शन देंगे और कब प्रसन्न होंगे ? यह कोई नहीं कह सकता। लोग यही कहकर छोड़ देंगे कि अनेक जन्मों में कभी सिद्धि हो जायेगी। लोग गाते भी हैं 'कबहुँ तो दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान।' अपना तो गला बैठा जा रहा है, उनके अभी भनक ही नहीं पड़ रही है !

यह तो इस क्षण ही तुम्हारे अनुभव में आ रहा है, अगले किसी समय में अनुभव में आयेगा ऐसा नहीं है। तुम जिस काल में देख रहे हो उस काल में देखने की शक्ति वाला वही निरंजन देव है। तुम्हारी दृष्टि का विषय बुरा हो सकता है, तुम गंदी चीज़ देख रहे हो, लेकिन देखने वाला तो उस काल में भी निरंजन है। तुमने मन के द्वारा कोई राग-द्वेष किया तो तुम्हारा मन ही तो ग़लती कर रहा है, मन से राग-द्वेष को देखने वाला क्या कर रहा है ? वह तो वैसा का वैसा निरंजन है। यदि मन में कोई वैराग्य होता है तो वह निरंजन उस वैराग्य को देखता है और तुम्हारे मन में राग होता है तो वह उस राग को देखता है। यदि तुमने इस क्षण राग किया और अगले ही क्षण वैराग्य कर दिया तो क्या वह कहता है कि 'अभी दो मिनट बाद मैं तुम्हारे वैराग्य को जानूँगा, अभी तो तुम्हारे राग का संस्पर्श लगा हुआ है !' रास्ते चलते हुए किसी

को देखा, मन में राग उत्पन्न हो गया कि 'इसके गले की कण्ठी बहुत अच्छी है, अपने पास भी ऐसी होती तो अच्छा था।'–यह रागाकार वृत्ति बनी; अगले ही क्षण विचार आया कि दूसरे की चीज़ पर दृष्टि करना ही तो चोरी है, हाथ से चीज़ को उठाना तो महा-बेवकूफी का काम है, मन से उठा लिया तो चोरी हो गई। जैसे ही यह विचार आया वैसे ही तुमने कहा कि 'ग़लती हो गई, नहीं करना चाहिये था।' क्या वापिस ठीक होने में कुछ क्षण लगते हैं? यदि वह निरंजन न होता तो धोने में कुछ समय लगता। यह उस निरंजन देव की, असंग पुरुष की स्वानुभूति है। यह अपनी अनुभूति से विराज रहा है, उसको किसी दूसरे की ज़रूरत नहीं है कि दूसरे को देखे। इस प्रकार के गुणों का अपने में आधान किया जाये यह उसकी अर्चना है।

इन गुणों को संक्षेप में इकट्ठा करके एक जगह भगवान् भाष्यकार कहते हैं–

'त्रयीवेद्यं हृद्यं त्रिपुरहरमाद्यं त्रिनयनं
जटाभारोदारं चलदुरगहारं मृगधरम्।
महादेवं देवं मयि सदयभावं पशुपतिं
चिदालम्बं साम्बं शिवमतिविडम्बं हृदि भजे।।'

चित् ही जिसका स्वरूप है, आश्रय है, महिमा है उस चिदालम्ब का पहला विशेषण बताया कि वेदों के द्वारा वह जाना जाता है। हृदय को अतिप्रिय लगने वाला है। तीन पुरों को नष्ट करने वाला है। तीन नेत्र वाला है, सबका कारण है, बहुत बड़े जटाभार को धारण करने वाला हें। साँप का शृंगार हार रूप में पहनने वाला है। हाथ में मृगमुद्रा को धारण किये हुए है। ऐसा जो वह महादेव

देव है वही पशुपति है उसका भजन करते हैं। यह उसका स्तवन हुआ।

सबसे पहली बात बताई कि वह त्रयीवेद्य है। यह जो तत्त्व है इसको वेद बार-बार कहता है। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' जिसने वेद के रहस्य को नहीं समझा वह कभी इस तत्त्व को नहीं समझ सकता। महर्षि याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को प्रश्न ही यह किया था कि मैं तुझ से एक ही बात पूछता हूँ 'तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' जिस देवता का वर्णन उपनिषदों ने किया है उसको तू जानता है या नहीं ? शाकल्य ने उनसे अनेक प्रश्न किये, पूर्व पश्चिम इत्यादि दिशाओं का देवता कौन है, ऊपर का देवता कौन है, तेंतीस देवता कौन हैं, तेंतीस हजार देवता कैसे बने इत्यादि तमाम देवताविषयक प्रश्न वह पूछता चला गया और महर्षि याज्ञवल्क्य ने उन सबका जवाब दिया। तब उन्होंने कहा कि 'तूने दुनिया भर के प्रश्न पूछे, मैं तो एक ही प्रश्न पूछता हूँ कि समग्र उपनिषदों में प्रतिपादित जो एकदेव है उसको बता।' वह सारे अंगदेवताओं को जानता था लेकिन अंगी से बेखबर था। जैसे मान लो शिवरात्रि को पूजा शुरू कराने से पहले गणेश जी की पूजा करा दी, इसी प्रकार कार्तिक स्वामी, देवी और नन्दी की पूजा भी करा दी। ये सब अंग देवता हुए, इन सबका पूजन करने के बाद शंकर जी के पूजन के समय कहा कि यहाँ से आगे पता नहीं। बाकी करा दिया तो भी सारी पूजा बेकार हो गई क्योंकि इन सबकी पूजा तो शिवपूजन के लिये थी। यदि वही नहीं आती तो बाकी पूजा से क्या होना है? इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'तूने एक-एक अंगरूप सारे देवताओं को जाना और पूछा,

मैं तो उस देवता को पूछता हूँ जो सारी उपनिषदों का प्रतिपाद्य है।' बस वही उसे पता नहीं था।

समग्र वेदों के द्वारा जिसका प्रतिपादन किया जाता है वह परब्रह्म परमात्मा सकल जगत् का कारण, स्थिति और संहार करने वाला एकमात्र देव है। वह उन वेदों के द्वारा ही समधिगम्य है और किसी से नहीं और यही उसकी अपूर्वता है। और किसी के द्वारा उसको जाना नहीं जा सकता। त्रयीवेद्य के द्वारा बताया कि वेद जब तुम्हें कह रहा है कि तुम साक्षी ब्रह्मरूप हो तो फिर दूसरे किसी प्रयत्न से जानने का प्रयत्न मत करो। लोग समझते हैं कि यह अनुभव कुछ ऐसा होगा कि आँख से दीख जायेगा, वह उसका प्रत्यक्ष होगा। कुछ लोग सोचते हैं कि युक्ति से विचार करेंगे तब इसका निर्णय होगा। ऐसा कुछ नहीं है। जैसे मेरा पिता कौन ? इसमें एकमात्र प्रमाण माता है। वह कहती है कि यह तेरा पिता है। प्रत्यक्ष से तुम जान नहीं सकते, अनुमान से तुम जान नहीं सकते, अर्थापत्ति से तुम जान नहीं सकते। एकमात्र माता का वचन ही परम प्रमाण है, उसमें आगे संदेह बेकार है। कई बार लोग पूछते हैं कि इसकी नाक किसके साथ मिलती है, होठ किसके साथ मिलते हैं इत्यादि; औरतें बैठी-बैठी यह करती रहती हैं। कुछ आदमी भी औरतों की तरह होते हैं।

आस्ट्रेलिया के अन्दर एक योरोपियन सफेद चमड़ी वाले के यहाँ एक-दम काले रंग का, मोटे-मोटे होठों वाला, घुंघराले बालों वाला बच्चा पैदा हुआ। उन लोगों के बाल सीधे भूरे होते हैं, होठ पतले होते हैं। उसके पति को शक हो गया कि यह तो मेरा पुत्र नहीं है। उसकी घरवाली ने कहा भी कि यह तुम्हारा ही पुत्र है

लेकिन बहम तो बहम ही रहा। उसने घर वाली पर तरह-तरह के दोष लगाये और तलाक दे दिया। अब तो तुम लोग भी तलाक जानने लग गये, पहले तो तलाक मुसलमान ही जानते थे। लेकिन उस औरत के मन में बहुत दुःख हुआ। वह इस बात के पीछे पड़ी कि मेरा लड़का ऐसा कैसे हुआ ? तरह-तरह के वैज्ञानिकों से उसने सम्पर्क किया। चार-पाँच सालों के बाद जाकर इसका रहस्य खुला कि उसके घर के अंदर जहाँ वह बैठती थी उस बैठक के कमरे में एक हब्शी की छोटी-सी मूर्ति रखी रहती थी । कइयों को इसका शौक होता है, यह भी कई घरों में देखा है। वह बराबर उस मूर्ति को देखती रहती थी। उस मानसिक प्रभाव से बच्चे के सभी अंग वैसे थे। कई प्रकार के प्रयोगों के द्वारा अंत में इस बात का पता लगा। इसलिये कोई कुछ नहीं कह सकता कि कैसी संतति पैदा हो जायेगी।

जैसे मेरा पिता कौन ?—इसके अन्दर सिवाय माता के और कोई प्रमाण नहीं; और किसी प्रमाणांतर से उसको ढूँढने जाओगे तो कभी सफलता नहीं मिलने वाली है; इसी प्रकार 'मैं कौन' इस विषय में प्रमाण केवल वेद है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति कोई प्रमाण काम नहीं आयेगा। उसको दूसरे प्रमाणों से देखने का प्रयत्न करो तो पाओगे कि कुछ नहीं होता। वेद कहता है 'तू ब्रह्म है', बस और कोई प्रमाण मत ढूँढो। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी प्रमाण की वहाँ गति नहीं क्योंकि जब यह जीव पैदा हुआ तब ये प्रमाण कोई थे नहीं ! जैसे गर्भाधान काल को केवल माता ही जानती है, वही प्रमाण है, वैसे ही इस सृष्टि के होने के पहले कोई प्रमाण तो था नहीं इसलिये ईश्वर का संकल्प कि 'मैं ही

जीवरूप से प्रवेश करूँ' इस संकल्प को देखने वाला वहाँ ईश्वर से अतिरिक्त कौन था ? इसलिये उस संकल्प को तो वही जान सकता है, दूसरा कोई प्रमाण कैसे जान सकता है ? वे ही श्रुति के द्वारा कह रहे हैं 'अनेन जीवेनात्मना' मैं तुम्हारे में आकर बैठा हुआ हूँ। मन के अन्दर जो उस देव के स्वरूप को अन्य प्रमाणों से जानने की खुटखुट लगी है उसे हटाना और केवल वेद के द्वारा ही ब्रह्मरूपता के प्रतिपाद्य में स्थिरता होना ही त्रयीवेद्यता है।

परमात्मा का रूप हृदय को अत्यंत रमणीय लगता है। रमणीयता क्या होती है ? 'क्षणे क्षणे यन्नवताम् उपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' जो क्षण-क्षण में नई बनती चली जाये उसी का नाम रमणीयता है। सौन्दर्य का वैशिष्ट्य है प्रतिक्षण नया बनते चले जाना । एक-जैसी चीज़ ही थोड़े काल के बाद अपनी सुन्दरता को खो देती है। इस बात को आज के कपड़े, गहने, घड़ी बनाने वाले व्यापारी खूब समझे बैठे हैं। इसलिये उनसे हर छठे महीने नई से नई डिज़ाईन ले लो। कोई घड़ी मोटी, कोई बहुत छोटी, फिर कभी बिचली डिज़ाईन की निकल आती है। पायजामा कभी चौड़ा, कभी सकरा और कभी फिर चौड़ा हो जाता है। इन सबके द्वारा उनकी सुन्दरता को बनाये रखने का प्रयत्न किया जा रहा है क्योंकि एक ही चीज जैसे पहले अच्छी लगी थी वैसी थोड़ी देर बाद अच्छी नहीं लगती है। जो जिसका व्यापारी है वह अपनी बात को नहीं बतायेगा, दूसरे की बात बतायेगा । कपड़े का व्यापारी यह तो कहेगा कि 'आजकल के बच्चे कभी चौड़ी घड़ी खरीदते हैं और कभी पतली, फालतू पैसा खोते हैं।' उससे कहो कि 'तुम भी तो कपड़े की डिज़ाइन बदल देते हो, तुम काहे के लिये ऐसा

करते हो ?' तो कहता है कि 'नहीं जी, कुछ तो बदलना चाहिये।' दर्जी कहेगा कि यह डिज़ाइन जरूर बदलती रहनी चाहिये, नहीं तो उसका काम कैसे चले? कपड़े वाला गहने वालों को कहेगा कि ये जल्दी-जल्दी डिज़ाइन बदल देते हैं और गहने वाला कपड़े वालों को कहेगा। लेकिन सब यह जानते हैं कि हमारे काम में तो नवीनता निकलती रहे, नहीं तो आगे सौदा कहाँ से होगा?

परमात्मा प्रतिक्षण नया हो रहा है। प्रयत्न करके देखो : एक मिनट भी बहुत लम्बा समय है, एक सैकिंड ही अंतःकरण की वृत्ति न बदले इसका प्रयत्न करके देखो, घण्टों लगेंगे। एक मिनट वृत्ति न बदलने दो–यह तो टेढ़ा मामला है, एक सैकिंड स्थिर रखना ही कठिन है। दीपक जलाकर ज्योति पर त्राटक करो तो किसी काल में उसमें नीचे का नीला हिस्सा, किसी काल में ऊपर की लपट और किसी काल में अगल-बगल दीखेगी। उसमें भी वृत्ति एक करके नहीं बैठ सकते, वहाँ भी चंचलता है। भगवान् के रूप को देखो तो कभी आँखें दीखेंगी, कभी मुकट और फिर कभी पैर दीखने लगेंगे, कभी पीताम्बर दीखने लगेगा। यह ठीक है कि ध्यान का मतलब ही यह है, लेकिन अभी तो वृत्ति की बात कर रहे हैं। हो वह ध्यान ही रहा है लेकिन वृत्ति तो बदल रही है और इन वृत्तियों के बदलने से वृत्ति में प्रतिबिंब बदल रहा है, यही तो उसकी उपाधि है। उसकी सुन्दरता का क्या ठिकाना जो एक क्षण स्थिर रहना नहीं चाहता ? अभी तक तुम लोग इस चिंता में पड़े रहते हो कि 'मन को स्थिर कैसे करें' और एक बार इस तत्त्व को समझ लिया कि–'यही तो उसकी सुन्दरता है; जैसे तुम अपने कपड़े और गहने बदलते हो वैसे ही वह मन की वृत्ति

बदल रहा है, क्योंकि वही उसका गहना है। और क्या है उसके पास?' —तो सौंदर्य पर मुग्ध रहोगे।

वह परमात्मतत्त्व त्रिपुरहर है, तीन पुरों को हरने वाला है। भगवान् शंकर ने त्रिपुरासुर को मारा था, कथा सभी जानते हो। वैसे स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीर ही तीन पुर हैं। जो इन तीन पुरों को हरण करता रहता है, वही देही निरंजन देव है। अभी जाग्रत् में बैठे हुए हो, आँखें खुली रहती हैं। बैठे ही रहते हो और यहाँ स्थूल शरीर में नहीं रह जाते, स्वप्न में पहुँच जाते हो। स्वप्न केवल लेटकर नींद लेना नहीं है, 'साढ़े आठ बज गये, आज पौने नौ बजे मुनीम नहीं आ रहा है, इसलिये हम नहीं पहुँचेंगे तो दुकान नहीं खुलेगी'—स्थूल शरीर छोड़ गये और पहुँच गये सूक्ष्म शरीर में, स्थूल गायब । जिस क्षण यह वृत्ति बन रही है उस क्षण यही देख रहे हो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति केवल तीन अवस्थायें लम्बे समय में ही नहीं समझ लेना। भगवान् गौडपादाचार्य लिखते हैं 'अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः'। हर वृत्ति के बाद स्थिति आती है जिसमें कोई विषयभान नहीं, तभी दूसरी वृत्ति बनेगी। उस काल में तुम्हारा न जाग्रत् का और न स्वप्न का देह रह जाता है। उस समय अज्ञान रहता है, वह सुषुप्ति हो गयी। उसके बाद फिर वही जाग्रत् पैदा हो जाती है। इन तीन पुरों का हरण चलता रहता है, जीव एक दूसरे में जाता रहता है। यों इस त्रिपुरासुर का संहार होता रहता है। वह त्रिपुरहर निरंजन देव है लेकिन उसके त्रिपुरहर्त्ता रूप को नहीं समझ पाते हो, इसलिये सोचते हो कि यहाँ बैठे ही वहाँ पहुँच गये, यही तुम्हारी भूल है। तुम वहाँ पहुँच गये तो यहाँ कौन बैठा रहा ? जैसे कोई कहे कि

'मैं तो यहाँ बैठा-बैठा ही मर गया क्योंकि शरीर यहाँ रह गया।' तो यही कहोगे 'मरने वाला तो गया, जो पड़ा रह गया वह शरीर है।' इसी प्रकार जिस क्षण दुकान की चाबी लेकर दुकान खोलने पहुँच गये तो यह नहीं कह सकते कि बैठे-बैठे ही पहुँचे, तुम तो गये, पीछे जो यहाँ बचा रहा वह शरीर ही है! इस निश्चय को करने पर मनुष्य भूत और भविष्य के चक्र का स्मरण नहीं करता। जिस काल में जहाँ है उस काल में केवल उतना ही, वर्तमान को ग्रहण करता है। यही त्रिपुरहरता है।

प्रवचन—१२

सृष्टि व्यक्त होने से पहले अनिर्वाच्य, अव्यक्त अवस्था में थी। व्यक्तीभवन का मतलब दृश्य और द्रष्टा रूप की उत्पत्ति है। द्रष्टा में सद्- और चिद्- रूपता व्यक्त होती है परन्तु आनंद- और अनंत-रूपता फिर भी अनभिव्यक्त रहती है। यह क्यों अनभिव्यक्त रहती है और कैसे इसका अभिव्यंजन हो सकता है? इस पर विचार करते हुए देखा कि जितना-जितना परमात्मा के गुणों का चित्त में प्रवाह चलेगा उतना ही उतना उस चित्त में आये हुए जो परमेश्वरविरोधी भाव हैं वे निवृत्त होंगे। उनकी निवृत्ति होने से ही अंतर में पहले ही बैठा हुआ ब्रह्मतत्त्व व्यक्त हो जायेगा। उनमें कुछ गुणों का विचार किया कि ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति सिर्फ वेद से समधिगम्य है, श्रुतिप्रमाण से ही उसे जाना जा सकता है, इसमें किसी दूसरे प्रमाण की गति नहीं। वेदानुसार ही उसका ठीक-ठीक ज्ञान अर्थात् निश्चय करना है। वह परमात्मतत्त्व हृदयग्राही है हृद्य है और वही त्रिपुरहर है अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों पुरों के अन्दर एक पुर से दूसरे पुर में जाते हुए एक-एक पुर का हरण करता है और अधिष्ठान दृष्टि में पहुँचने

पर तीनों पुरों का अभाव है। उसी को तुरीय कहते हैं।

जिस तत्त्व के अन्दर जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति प्रकट होते हैं वही तुरीय कहा जाता है। तुरीय कोई चतुर्थ नया अनुभव नहीं है। जाग्रत् जिसको होता है स्वप्न उसी को होता है, सुषुप्ति भी उसी की है। यदि जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति उस एक की नहीं होती तो कभी भी यह अनुसंधान या स्मृति नहीं बनती कि 'जो मैं अब जग रहा हूँ वही मैं तब सो रहा था।' यह अनुभव सिद्ध कर रहा है कि कोई है जो जाग्रत् में जैसा, स्वप्न सुषुप्ति में भी वैसा। जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति बदलने वाली स्थितियाँ हैं। उनका अनुसंधान करने वाला, उनको स्मरण करने वाला, उन सब में एक जैसा रहने वाला ही तुरीय है। तुरीय कहते ही कई बार मनुष्य समझता है कि वह इन तीन से अतिरिक्त कुछ होता होगा। जिसमें जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति प्रकट होते हैं वही तुरीय है। वह है तो जाग्रत्, वह है तो स्वप्न, वह है तो सुषुप्ति, वह नहीं तो न जाग्रत्, न स्वप्न और न सुषुप्ति।

इसी को न्याय की भाषा में अन्वय व्यतिरेक कहते हैं, शब्दों से नहीं घबराना। घड़ा है तो मिट्टी, सिकोरा है तो मिट्टी, खिलौना है तो मिट्टी—इसको अन्वय कहते हैं। मिट्टी नहीं तो घड़ा नहीं, मिट्टी नहीं तो सिकोरा भी नहीं, मिट्टी नहीं तो खिलौना भी नहीं—इसको व्यतिरेक कहते हैं। मिट्टी है तो ये तीनों और मिट्टी नहीं तो ये तीनों नहीं—इससे सिद्ध होता है कि इन तीनों का कारण मिट्टी है। किसी चीज की कारणता का पता लगाने का तरीका यह अन्वय-व्यतिरेक है। धागा है तो कपड़ा और धागा नहीं तो कपड़ा नहीं इसलिये धागा कपड़े का कारण है। सोना है तो कड़ा,

सोना है तो करधनी, सोना है तो नेकलेस। सोना नहीं तो कड़ा नहीं, सोना नहीं तो करधनी नहीं, सोना नहीं तो नेकलेस नहीं, सोना है तो ये तीनों और सोना नहीं तो ये तीनों नहीं—इस अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध होता है कि सोना ही इन तीनों का कारण है। इसी से कारणता निर्णीत होती है।

इसी प्रकार मैं हूँ तब जाग्रत्, मैं हूँ तब स्वप्न, मैं हूँ तब सुषुप्ति—यह अन्वय है। मैं नहीं तो जाग्रत् नहीं। शरीर पड़ा रहता है और स्वप्नावस्था में पहुँच जाते हैं। शरीर थोड़े ही पहुँचता है, मैं पहुँच जाता हूँ। मैं स्वप्न में पहुँच गया तो जाग्रत् कहाँ रहा? शरीर तो जग नहीं रहा है । इसलिये मैं नहीं तो जाग्रत् नहीं। मैं नहीं तो स्वप्न नहीं; स्वप्न में लाख रुपये तिजोरी में बंद करके आ गये तो स्वप्न की तिजोरी जाग्रत् में नहीं आई। मैं जाग्रत् में आ गया। सारा स्वप्न कहाँ गया ? नहीं है। मैं हूँ तो जाग्रत्, मैं हूँ तो स्वप्न और मैं हूँ तो सुषुप्ति है—यह अन्वय है। मैं नहीं तो जाग्रत् नहीं, मैं नहीं तो स्वप्न नहीं, मैं नहीं तो सुषुप्ति नहीं—यह व्यतिरेक है। मैं हूँ तो ये तीनों हैं, मैं नहीं तो ये तीनों नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति का कारण मैं। ठीक इसी प्रकार घड़ा कब तक? मिट्टी जब तक। सिकोरा कब तक? मिट्टी जब तक। खिलौना कब तक ? मिट्टी जब तक । मिट्टी को ढीला करते जाओ तो घड़ा कमजोर होता जायेगा, मिट्टी को ढीला करते जाओ तो सिकोरा कमजोर होता जायेगा, मिट्टी को ढीला करते जाओ तो खिलौना कमजोर होता जायेगा।

एक बार कानपुर में बहुत साल पहले बड़ा भारी बर्तनों का कारखाना देखने गये जहाँ बढ़िया सुन्दर कलश बनते हैं। अनुभव

हमने यह कर रखा था कि कलश ऊपर से ठीक रहता है लेकिन तला कमजोर हो जाता है। हमने उनके कलश देखे तो उनसे कहा कि 'ऊपर का हिस्सा कुछ पतला करके तला कुछ ज़्यादा मोटा करो क्योंकि ऊपर का हिस्सा जल्दी नहीं घिसता नीचे का जल्दी घिसता है। इससे कलश ज़्यादा दिन चलेगा।' यह बात सुनकर वे हँस पड़े, कहने लगे कि 'अट्ठारह सौ कलश रोज बनते हैं, आपकी बात मानें तो फैक्ट्री बंद हो जायेगी।' तला इसीलिये कमजोर रखते हैं कि दुबारा जल्दी खरीदो। उस युग में तो कम से कम पीतल था जो पुराना होने पर भी बिक जाता है, केवल बनाई का ही नुकसान होता था। आजकल तो स्टेनलैस स्टील का जमाना है जो वापिस बिकने वाला भी नहीं। जैसे पीतल का परिमाण कम है तो पीतल का हिस्सा निकलते ही कलश भी नहीं। ऐसे ही जितनी मिट्टी की मजबूती उतनी ही घड़े की, सिकोरे की, खिलौने की मजबूती होगी। जितनी मिट्टी की कमजोरी या भुरभुरी मिट्टी होगी उतना ही घड़ा, सिकोरा या खिलौना जल्दी ख़तम होगा । जितना धागा मजबूत होगा उतना धोती, चदर, तकिये की खोली सब मजबूत होंगी । जितना धागा कमज़ोर होगा उतनी ही ये सब चीज़ें कमज़ोर होंगी। जितना सोना ज़्यादा कैरट का होगा उतनी ही कड़ा, कर्धनी और नेकलेस की कीमत ज़्यादा होगी और जितना सोना कम कैरट का होगा उतना ही इन चीज़ों की कीमत कम होती जायेगी।

ठीक इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में जितना मैं मज़बूत, उतनी ये मज़बूत और जितना मैं कमज़ोर होगा उतनी ही ये कमज़ोर होंगी। मैं यदि चंचल है तो जाग्रत् के सभी कार्य

चंचल, मैं यदि शांत तो जाग्रत् के सब काम शांत । मैं अगर धैर्य वाला है तो जाग्रत् का सब कार्य धैर्य वाला और मैं यदि अधीर है तो जाग्रत् की सब चीज़े अधीर होंगी। मैं यदि शांत धीर इत्यादि गुणों से युक्त है तो स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ भी वैसी ही शांत और धीर होंगी। मैं यदि चंचल और अधीर है तो स्वप्न और सुषुप्ति भी वैसी ही होंगी। जैसा मैं वैसे ही जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति हैं। इसलिये जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति का पोषण करने वाला, रक्षण करने वाला मैं है। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति का कारण भी मैं, उनको उत्पन्न करने वाला भी मैं और उनका पोषण करने वाला भी मैं। अंततोगत्वा सुषुप्ति किसमें लीन होती है? मैं में ही लीन होती है, कहीं उड़कर जाकर पेड़ पर थोड़े ही बैठी होती है ! स्वप्न कहाँ गया? मुझ में; स्वप्न की तिजोरी कहीं जमीन में गड़ी थोड़े ही पड़ी है ! मुझ में ही लीन होती है। इसी प्रकार जब स्वप्न और सुषुप्ति में जाते हैं तब जाग्रत् के जितने अनुभव हैं वे सारे मुझ में ही चले जाते हैं और अंततोगत्वा जब इस शरीर को छोड़कर हम चले जाते हैं तब जितने भी जाग्रत् के अनुभव इस शरीर के साथ किये हैं वे क्या कुछ पीछे छूट जाते हैं? सारी तमन्नायें, कामनायें, इस शरीर में किये हुए शुभाशुभ कर्मों का नतीजा भी जब हम यहाँ से जाते हैं तब इन सबकी पोटली बाँधकर साथ ले जाते हैं। कोई पुण्य पाप इस शरीर में पीछे छोड़कर नहीं जाते। इसलिये ये सब भी मुझ में लीन होते हैं। स्वप्न सुषुप्ति अवस्था में जाते समय में भी और मरने के समय में भी मैं से ही ये सब उत्पन्न, मैं जब तक है और जैसा है वैसी ही ये अवस्थायें, और अंत में लीन भी मैं में तीनों होती हैं। इसलिये आत्मा त्रिपुरहर

है। समग्र सृष्टि, स्थिति और लय जिस प्रकार परमात्मा का त्रिपुरसंहार है वैसे ही मेरे अन्दर भी वही त्रिपुरहरता है।

'त्रयीवेद्यं हृद्यं त्रिपुरहरमाद्यं त्रिनयनम्'; आगे कहा 'त्रिनयनं', भगवान् शंकर तीन नेत्र वाले हैं ही। सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूपी तीन नेत्र हैं। दाहिनी आँख सूर्य, बाईं आँख चन्द्रमा, और भालदेश में होने वाला अग्निनेत्र है। इसी प्रकार हम लोगों की भी तीन ही आँखें हैं ज्ञान, इच्छा और क्रिया। 'नी प्रापणे' धातु से निष्पन्न नयन शब्द है जिसका अर्थ है ले जाना। नयन अर्थात् जो हमको आगे ले जाये। आँख को नयन इसीलिये कहते हैं कि यही रास्ता दिखाकर हमें आगे ले जाती है। चाहे जितना तेज़ चलने वाला व्यक्ति हो, चाहे आठ-नौ सैकिंड में सौ मीटर दौड़ने के रिकार्ड वाला व्यक्ति हो, ऐसे तेज़ से तेज़ दौड़ने वाले व्यक्ति को कह दो कि 'यहाँ से तू सौ मीटर दौड़ और मैं यह गारंटी देता हूँ कि रास्ते में कहीं ईट पत्थर या रोड़ा नहीं है, कहीं गड्ढा भी नहीं है। यह मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, लेकिन है घुप्प अंधेरा। आँखों से रोड़ा या गड्ढा ही देखता है; यह तो मैंने वचन दे दिया कि ऐसा वहाँ कुछ नहीं है, रास्ता बहुत बढ़िया है, इसलिये तू पूरी तेज़ी से दौड़।' तो जिसका आठ सैकिंड का रिकार्ड होगा वह शायद आठ मिनट में भी न पहुँच पाये ! क्या कारण है? इसलिये आँख को नयन कहते हैं कि आगे ले जाने वाली यही है। मनुष्य को वस्तुतः आगे ले जाने वाले हैं ज्ञान, इच्छा, क्रिया। किसी चीज़ को जानेगा, समझेगा तभी मनुष्य आगे गति कर सकता है। चाहे जितनी तुम्हारी इच्छा हो पर यदि उस चीज़ को समझते नहीं तो तुम्हारी गति नहीं बनती। आध्यात्मिकता में यह बहुत बड़ी समस्या

है कि हमारे आगम शास्त्र आदि सब से पहले जोर इस बात पर देते हैं कि जो बात है उसका तात्पर्य, उसके सिद्धान्त को ठीक प्रकार से समझो। समझना बड़ा ज़रूरी है।

'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मतं च सततं ध्यायेद् एते दर्शनहेतवः।।'

शास्त्रकार कहते हैं कि वेदवाक्यों के द्वारा पहले उस तत्त्व को सुनो, उस सिद्धांत को समझो कि वस्तु क्या है, पाना क्या है, कैसे पाना है, उसका आधार क्या है? जब समझ लिया तब मनन करो अर्थात् बैठकर उसकी जुगाली करो। जैसे गाय-भैंस पहले अच्छी तरह से खा लेती हैं, वे पहले घास खाती ही जाती हैं, जब उनका पेट भर जाये तब वे आराम से बैठ जाती हैं और अन्दर वाली घास को बार-बार मुँह में निकालकर ले आती हैं, फिर उसे खाती रहती हैं, ऐसा हम मनुष्य लोग नहीं कर सकते; उसी को 'जुगाली करना' कहते हैं। कभी बंदरों को देखो : अपने सामने गेहूँ, चावल या चना सुखाने के लिये रख कर औरतें बैठी रहती हैं। वह बंदर जानता है कि मौका थोड़ा ही है, औरत सामने बैठी है। जब वह बच्चे को उठाने गई या लघुशंका करने गई, बस उतना ही समय बेचारे को खाने के लिये मिलता है, झट वहाँ पहुँच कर जितना दाना मुँह में भर सकता है भर लेता है और जैसे ही पीछे से आवाज़ सुनी वैसे ही मुट्ठी भरकर मुँह में और डाल लेता है। फिर वह औरत चाहे पीछे से लकड़ी दिखाती रहे। लेकिन वह सब उसने उसी समय *खा* नहीं लिया बल्कि उसके गले में दोनों तरफ जो ग्रंथियाँ होती हैं, उन्हीं में सारा उसने भर रखा है। फिर उसे धीरे-धीरे निकालकर मुँह में चबाता रहता है।

यह उसकी प्रक्रिया है।

ठीक इसी प्रकार जब उपनिषद् आदि का श्रवण किया जाता है उस समय जो कहा जाता है उसे भरते जाओ। बहुत-से लोग उसी समय जुगाली करना चाहते हैं। सुनने के समय ही कहते हैं कि 'हमें पूछना है, फिर भूल जायेंगे।' हम समझ लेते हैं कि इससे कभी भी जुगाली नहीं होनी है क्योंकि यह तो अभी ही उसे सोचने लग गया। अभी सोचना नहीं है, अभी तो केवल भरो। उसके बाद शांति से बैठकर जो सुना है, जो अपना अनुभव है, उन सबको मिलाकर युक्ति के द्वारा विचार करो कि सुनी हुई बात का असली तात्पर्य क्या है। आगे यदि उस मनन के बाद कोई शंका आती है जो स्वयं दूर नहीं कर सकते तब गुरु के पास जाकर ज़रूर पूछो। लेकिन पहले स्वयं मनन करोगे तभी उसके बाद प्रश्न बनेगा।

जब युक्ति के द्वारा मनन किया, और वह बात अपनी युक्ति से भी पक्की हो गई कि यही ठीक है, वेदप्रमाण से भी निश्चय हो गया कि यही ठीक है, तब उसके बाद ध्यान प्रारंभ होता है। जो आदमी उल्टी प्रक्रिया करने चलता है, सिद्धान्त समझा नहीं, श्रवण किया नहीं, सीधा ही उठकर कहता है कि 'ध्यान लगाते हैं लेकिन लगता नहीं।' उससे कहते हैं 'ज़रा सत्संग में आया कर।' कहता है 'समय नहीं है।' फिर ध्यान लगेगा काहे के ऊपर ? पहले श्रवण मनन किया होगा तब ध्यान लगेगा। विचार करो कि छोटे बच्चे को जब तुम दुकान में बिठाते हो तब क्या उसका मन लगता है ? झट किसी कारण से उठकर घूमने जाना चाहता है। और तुम हो कि दुकान से उठना ही नहीं चाहते। कुछ काम

नहीं तो पहले के किये हुए हिसाब के कागज़ ही ऊपर-नीचे देखते हो, हर फाइल मँगाकर कागज़ों को ऊपर नीचे पलटते हो। तुम्हारे में और उस बच्चे में क्या फरक है ? व्यापार का श्रवण मनन तुम कर चुके हो इसलिये तुम जानते हो कि प्रत्येक व्यापारी की फाइल और खाता बार-बार देखने से ही उसकी स्थिति का पता लगेगा। एक आर्डर पहले आया हुआ है उसका माल पहले जाना था, दूसरे का आर्डर बाद में आते ही तुम कहते हो कि दूसरे वाले को माल पहले भेजना है। कैसे तुम्हें यह ध्यान आया? तुमने श्रवण दीर्घ काल का किया हुआ है, पच्चीस सौदों में देख चुके हो कि पहले वाला व्यापारी माल मँगाने के दो महीने के बाद ही भुगतान करता है और दूसरे व्यापारी के पास माल गया तो दो दिन बाद ही टेलीफोन करके कहता है कि रुपया ले जाओ। यह श्रवण मनन किया हुआ है तभी झट ध्यान आ जाता है कि 'इसको पहले माल भेज दो।' एक को माल भेजते हो तो कहते हो कि 'ज़रा देखकर भेजना, कोई कमज़ोर चीज़ न चली जाये' और दूसरे के लिये कोई कहता भी है कि 'यह कमजोर चीज़ है, इसे बाद में माल भेज देना' तो कहते हो 'डाल दो, चलने दो।' यह सब श्रवण मनन का ही नतीजा है। ये सब बातें चूँकि बच्चे ने समझी नहीं, श्रवण मनन तो उसने दुकान पर बैठकर किया नहीं इसलिये उसका ध्यान लगे कैसे ?

ठीक इसी प्रकार परमात्ममार्ग में जिसने श्रवण मनन किया नहीं, वह बैठकर ध्यान लगायेगा तो ध्यान उसका लगे किस पर? इसीलिये तत्त्व को, सिद्धांत को समझना बड़ा ज़रूरी है। ज्ञान के बिना नयन नहीं होता, आदमी आगे नहीं जा सकता। सूर्य को

ही शास्त्रकारों ने ज्ञान माना। इसलिये जो भगवान् शंकर का सूर्य नेत्र, वही हमारे लिये ज्ञान नेत्र है।

उनका दूसरा नेत्र चन्द्रमा है, यही हमारी इच्छा है। समष्टि में जो चन्द्रमा, व्यष्टि में वही इच्छा। चाहे जितना ज्ञान हो यदि इच्छा नहीं है तो आदमी आगे नहीं बढ़ेगा, उस काम को नहीं करेगा। जैसे सरकार के बड़े-बड़े अफसर होते हैं, उनमें ज्ञान बहुत है, पढ़े-लिखे भी हैं, बड़े चुनाव के द्वारा किसी नतीजे पर पहुँचते हैं फिर भी देश को आगे क्यों नहीं ले जा पाते, क्या कारण है? इच्छा ही नहीं है। जहाँ केवल बाल सफेद देखकर वेतन का निर्णय होता है वहाँ इच्छा बाल सफेद करने की होती है, काम करने की नहीं ! उसका नाम अंग्रेजी वालों ने seniority रखा है अनुवाद कर दिया 'वरीयता'। यह सोचा जाता है कि 'कितने साल किसी नौकरी में रहे हो', जबकि होना यह चाहिये कि कितना और कैसा काम किया है। यह नहीं देखोगे तो कोई काम करेगा क्यों ?

इसी में तो हमारी वर्णाश्रम व्यवस्था वाला बेचारा ब्राह्मण मरा। पहले ब्राह्मण का अर्थ होता था विद्या में निष्णात, रोज नई-नई विद्याओं का प्रादुर्भाव करने वाला। फिर उसके बाद कुलपुरोहित हो गये। वे चाहे मूर्ख हों, पढ़े-लिखे न हों लेकिन 'हमारे कुल का काम इसके बाप दादा करते आये हैं इसलिये हम भी इसी से करायेंगे', यहीं से विद्या का ह्रास प्रारंभ हो गया। उसके बाद युग और आगे बढ़ा, कोई बुरा नहीं मानना। श्राद्ध के दिन ब्राह्मण-भोजन कराना है। एक ब्राह्मण तो अपने घर का भण्डारी हुआ, दूसरे मुनीम जी भी ब्राह्मण ही हैं। अब आगे बेचारा ब्राह्मण क्या

वेदाध्ययन करे, क्या नयी-नयी विद्याओं का विकास करे ! जैसे वहाँ केवल यह मान लिया गया कि इसके बाप-दादा-पड़दादा दुबे, तिवारी या चौबे थे, इससे वह श्रेष्ठ है। आगे उनसे पूछें कि 'तुम्हारा नाम दुबे क्यों पड़ा ?' तो कहता है कि ऐसा ही चला आया है। उसे पता ही नहीं कि हमारे पूर्वज दो वेदों का अध्ययन करते थे, साधारण ब्राह्मण एक ही वेद पढ़ता था, इसलिये द्विवेदी ब्राह्मण श्रेष्ठ माने जाते थे, उसी का अपभ्रंश दुबे है—यही उन्हें पता नहीं है। जो कहते थे कि 'हमने पीढ़ी दर पीढ़ी तीन वेदों का अध्ययन किया है' वे त्रिवेदी कहलाते थे जिसका अपभ्रंश तिवारी हुआ। जिनकी कुल-परम्परा थी कि 'हम चारों वेदों का अध्ययन करेंगे, हमारे कुल में कोई ऐसा नहीं होना चाहिये जो चारों वेद न पढ़ा हो' वे चतुर्वेदी, उसका अपभ्रंश चौबे है। जब उन्हें यही पता नहीं कि हमारा नाम दुबे-चौबे क्यों पड़ा तो वेदाध्ययन की बात तो दूर रही। इसी के कारण ह्रास होता है। ऐसे ही सरकार ने जब यह निर्णय कर लिया कि हमें तो सफेद बाल देखने हैं, काम कुछ करो उससे मतलब नहीं; तुम्हारा ग्रेड बना हुआ है, हर साल तुम्हारे पच्चीस रुपये बढ़ने ही हैं चाहे जितना काम करो, बढ़ने उतने ही हैं; तब इच्छा कुछ नहीं रही। काम करने का तुम्हारा ज्ञान कितना ही हो, यदि इच्छा नहीं तो भी आदमी आगे नहीं जा सकता।

अध्यात्म शास्त्र में भी यही बात है कि चाहे जितना सिद्धांत का श्रवण-मनन कर लो लेकिन यदि उस तत्त्व को प्राप्त करने के लिये हृदय में तीव्र इच्छा नहीं है, जिसको हम लोग मुमुक्षा कहते हैं, यदि मोक्ष की इच्छा ही नहीं है तो जानने मात्र से थोड़े ही

प्रवृत्ति हो जायेगी। प्रायः लोग यह समझते हैं कि मनुष्य को पता होगा तो वह ठीक से काम करेगा। कई बार लोग कहते भी हैं कि 'क्या करें लोगों को पता ही नहीं धर्म क्या है ? आप लोग सबको बता दो तब सब धार्मिक हो जायेंगे।' इस पर हम एक सीधा-सा प्रश्न पूछते हैं कि किसी भी हिन्दू को लाकर दिखाओ जो न जानता हो कि झूठ बोलना पाप है। लेकिन क्या इतने मात्र से लोग सत्य बोलने लग गये ? इसी प्रकार तुम चाहे जितनी बातों का प्रचार कर दोगे, किताबें छपवा कर बाँट दोगे, उससे होना क्या है ? यदि तुम्हारे हृदय में मोक्ष की इच्छा ही नहीं है तो धर्म का पालन तुम करोगे काहे के लिये? जानना चाहिये, चूँकि बिना ज्ञान के आगे नहीं बढ़ सकते हैं, लेकिन बिना इच्छा के भी आगे नहीं बढ़ सकते हैं। और इच्छा में जीव स्वतंत्र होता है। ज्ञान तो किसी तरह से थोड़ा-बहुत कराया जा सकता है। 'थोड़ा-बहुत' इसलिये कहते हैं कि बिना इच्छा के तो ज्ञान भी नहीं होता। माता-पिता बच्चे को स्कूल-कॉलेज में भर्ती करा देते हैं, प्रोफेसर साहब आकर लैक्चर भी दे रहे होते हैं और पिछली सीट पर बच्चे बैठकर शतरंज खेल रहे होते हैं ! अथवा माता-पिता नियम कर देते हैं कि इम्तिहान के दिन हैं, सवेरे पाँच बजे उठकर पढ़ना पड़ेगा और रात में दस बजे से पहले नहीं सो सकते। उठकर देखने भी जाते हैं कि पढ़ रहा है या नहीं, पढ़ रहा है तो माता-पिता देखकर खुश होते हैं। लेकिन उन्हें यह पता नहीं कि ऊपर तो फिज़िक्स की किताब खुली हुई है और नीचे जासूसी उपन्यास रखा है! नतीजा आने पर कहते हैं कि 'हमारे बच्चे ने तो मेहनत बहुत की लेकिन किसी मास्टर ने बदला निकाला है। अध्यापक ही

आजकल के खराब होते हैं क्योंकि मेरा बच्चा तो खराब नहीं हो सकता।' इसलिये प्रयत्न करके भी थोड़ा बहुत ज्ञान ही दे सकते हैं लेकिन इच्छा करने में तो सर्वथा उसकी स्वतंत्रता है। उसको कोई ज़बर्दस्ती नहीं करा सकता। केवल लाभ और हानि उसके सामने रख दो, इससे उसे यह तो ज्ञान हुआ कि इस चीज़ के ये लाभ और ये नुकसान हैं, इस ज्ञान से यदि वह लाभ उसे लाभकारी लगेगा तो वह प्रवृत्ति करेगा, नहीं लाभकारी लगेगा तो नहीं प्रवृत्ति करेगा।

पहले किसी को कह देते थे कि 'यह करोगे तो स्वर्ग मिलेगा' तो आदमी की प्रवृत्ति हो जाती थी क्योंकि स्वर्ग को वह उपादेय मानता था। आज यदि किसी से कहो कि 'ऐसा करोगे तो स्वर्ग अन्यथा नरक मिलेगा' तब उसे और वितृष्णा होती है कि स्वर्ग नरक तो हैं ही नहीं, जाना कहाँ है! अब तुम चाहे जितने फोटो बनाते रहो, कुछ नहीं होना है। एक बार हरिद्वार कुंभ में देखा कि एक आदमी ने बहुत बड़ा पट्ट बनाकर उस पर तरह-तरह के चित्र टाँग रखे थे। किसी में कोई किसी को आरे से चीर रहा है, किसी को गरम-गरम कढ़ाई में तला जा रहा है इत्यादि। उन चित्रों के द्वारा यह दिखाया गया था कि अमुक-अमुक पापों का अमुक-अमुक फल होता है। उसने हमसे कहा कि इससे बड़ा फायदा है, आप भी अपना मत लिखकर जाइये। हमने कहा—जाने दो, इससे कोई प्रवृत्ति आज के युग के व्यक्ति की नहीं होनी है क्योंकि आज का व्यक्ति तुमसे अगला प्रश्न यह करेगा कि 'वहाँ की कढ़ाई टाटा आयरन की बनी है या इंडियन आयरन की ?' तो तुम्हारे सब चित्र ढीले पड़ जायेंगे। इच्छा जबर्दस्ती नहीं हुआ

करती। लाभ-हानि तुम उसके सामने रखो, यदि उस लाभ में उसकी इच्छा है तो प्रवृत्ति होगी, यदि उस हानि में उसकी इच्छा नहीं है तो उससे उसकी निवृत्ति होगी।

इसीलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं 'ज्ञापकत्वात् शास्त्रस्य' शास्त्र केवल ज्ञापन करा सकता है, बता सकता है। गीता में भी सब बातें कहकर अंत में भगवान् कहते हैं कि 'मैंने तुझे बता दिया, अब 'यथेच्छसि तथा कुरु' आगे जो तेरी इच्छा हो वही तू करेगा, वही कर।' सारे धर्मों को बताकर अंत में भगवान् मनु भी यही कहते हैं 'येनेष्टं तेन गम्यतां' हमने लाभ-हानि की बात बता दी आगे तुम्हें जो इष्ट हो, इच्छा हो उस रास्ते में जाओगे। जिस चीज में इच्छा उत्पन्न होगी वैसा नयन होगा, तेज़ी से गमन होगा और जिस विषय की इच्छा नहीं होगी उस विषय में कोई तेज़ी से गमन नहीं होगा।

आचार्य शंकरानंद स्वामी प्रारब्ध-भोग का विचार करते हुए लिखते हैं कि मान लो रेगिस्तान में रहने वाला कोई व्यक्ति यह जानता है कि सामने पानी दीख रहा है लेकिन मृगमरीचिका है, वहाँ पानी का नाम निशान नहीं है। यह उसे निश्चय है। उधर से एक घोड़े वाला जा रहा है और उस आदमी से कहता है कि 'जा मेरे लिये वहाँ से पानी भर ला।' पहले तो वह बड़ा समझाता है कि 'वहाँ पानी नहीं है, केवल दीखता है, है मृगी का जल।' वह घुड़सवार उसे डाँटता है कि 'तू महा आलसी है, झूठ बोलता है।' वह कहता है 'नहीं, मैं यहाँ का रहने वाला हूँ, मुझे पता है।' वह कहता है कि 'सीधा जा, नहीं तो मैं तुझे कोड़े मारता हूँ।' मार के डर से वह घड़ा भी उठा लेता है, पानी भरने के लिये आगे

जा भी रहा है लेकिन 'आह ! कष्टम्—इति कृत्वा' सोचता है किस बेवकूफ के हाथ में फँस गया ? क्या वह यह सोचता है कि 'तेज़ी से चलकर वहाँ पहुँचूँ और जल्दी ही इसे पानी लाकर दूँ, शायद चवन्नी-अठन्नी मिल जाये?' ऐसा कुछ नहीं होता, बल्कि किसी तरह से कष्ट मानकर जाता है।

इसी प्रकार जिसे दृढ निश्चय है कि—यह प्रतीयमान जगत् तीनों कालों में है ही नहीं, और उसका अनुभव है कि—यह सब जो दीख रहा है यह कुछ है ही नहीं; जैसे मृगी के अन्दर दीखने वाले जल से बालू का एक कण भी गीला नहीं होता वैसे ही ये अनंतकोटि संसार दीखने पर भी आत्मा के साथ इनका क्षणमात्र को स्पर्श नहीं। चाहे आधिभौतिक सृष्टि बड़े-बड़े हिमालय, गंगा-यमुना दीखें और चाहे बड़े-बड़े नक्षत्र नीहारिकायें दीखें। चाहे आध्यात्मिक संसार में होने वाले राग-द्वेष, शोक-मोह दीखें और चाहे अधिदैव सृष्टि में विष्णु ब्रह्मादिक देवगण दीखें। ये सारे दीखने के कारण वस्तुतः हैं ही नहीं। मृगी में जल की तरह प्रतीतिमात्र हैं, वस्तुतः कुछ नहीं है।—यह जिसका निश्चय है, उसे भी प्रारब्ध उसके मन के अन्दर संस्कारों का उदय करके कहता है कि 'देख उधर चीज़ दीख रही है, जा प्रवृत्ति निवृत्ति कर' तो वह मन को समझाता है कि अरे मनीराम! कहाँ मुझे भेज रहा है? वहाँ क्या कुछ है जहाँ भेज रहा है ? कुछ भी नहीं है। मन कहता है—आलसी बन रहा है, जाना पड़ेगा। प्रारब्ध का कोड़ा मारता है।

मन्द प्रारब्ध को तो वह समझा कर जीत लेता है। जैसे कोई थोड़ा समझदार आदमी घोड़े पर हो, उसे युक्ति से समझाओ तो

मान भी जाता है। इसी प्रकार जो मंद प्रारब्ध है वह कुछ समझदार है इसलिये उसे जब समझाते हैं कि 'जिसको लेने जा रहा है वहाँ कुछ है ही नहीं' तब मंद प्रारब्ध काल में मन मान लेता है, शांत हो जाता है। लेकिन तीव्र प्रारब्ध काल में वह मन नहीं मानता, प्रवृत्ति कराता है। लेकिन क्या उस प्रवृत्ति में ज्ञानी को कुछ उत्साह होता है कि जल्दी करूँ, काम ख़त्म हो, कुछ प्राप्त हो? अथवा यह होता है कि यह वृत्ति कहाँ से बनी, वहाँ प्राप्त करने लायक है क्या जो होना है! अनादि काल से सब के सब पानी भरने को दौड़ ही तो रहे हैं आज तक किसी को क्या एक बूँद भी मिला है ? इसलिये यथाकथंचित् प्रारब्ध से प्रवृत्ति करने पर भी उसमें उत्साह कुछ नहीं क्योंकि इच्छा नहीं है, वह जानता है कि यहाँ कुछ है ही नहीं। लाभ और हानि को जानकर जो लाभ और हानि की इच्छा करेगा उसकी ही प्रवृत्ति निवृत्ति बनेगी। तभी इच्छा की तीव्रता होगी और उतनी ही उसकी गति में तीव्रता होगी। जितनी ही इच्छा न्यून होगी उतनी ही गति न्यून होगी। सर्वथा जबर्दस्ती बिना इच्छा के प्रवृत्ति करोगे तो यथाकथंचित् डर से होगी, उससे ज़्यादा नहीं।

यदि पदार्थों के विषय में ज्ञान पूरा है और इच्छा नहीं तो भी आगे नहीं बढ़ सकते। यदि इच्छा ही इच्छा है और ज्ञान नहीं तो भी आगे नहीं बढ़ सकते। बहुत से लोग दुनिया भर की इच्छा करते रहते हैं लेकिन ज्ञान तो है नहीं कि कैसे करना है। ज्ञान से जो दरिद्र होगा उसके मनोरथ ही दौड़ते हैं 'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः।' ज्ञानहीन व्यक्ति के मन में न जाने कितने मनोरथ पैदा होकर वहीं ख़तम भी हो जाते हैं। बैठे-बैठे सोचते

रहते हैं कि दाल का सीरा या बाटी का चूरमा बना लें, फिर अंत में छोटा-सा मुँह करके वही खिचड़ी बना लेते हैं क्योंकि बनाना तो कुछ आता नहीं, करें क्या ! ज्ञान और इच्छा दोनों नेत्र है।

तीसरा अग्निनेत्र क्रिया है। जान भी लो और इच्छा भी हो परन्तु उसके लिये दृढतर प्रयत्न करने वाला नहीं होगा तब भी कुछ नहीं कर सकता। इसीलिये भगवान् शंकर का तीसरा नेत्र अग्निनेत्र है। अग्नि क्रियाओं का प्रतीक है। कोई भी शुभ कार्य करते हो तो सबसे पहले दीपक जलाते हो, दीपक की साक्षी में कर्म करते हो। किसी भी देवता का पूजन करना हो तो आहुति अग्नि में दोगे। अग्नि कर्म का प्रतीक है। यदि दृढतर प्रयत्न नहीं है—जानते भी हो, इच्छा भी है लेकिन प्रयत्न शिथिल है—तो भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, आगे नहीं बढ़ सकते। बहुत से लोग जानते भी हैं कि दाल का सीरा कैसे बने, खाने की इच्छा भी है लेकिन उसके लिये दो घंटे बैठकर जो दाल पीसनी पड़ेगी वह नहीं करना चाहते। उससे क्या दाल का सीरा बनना है ? आजकल सब जगह यह चल रहा है कि फल के लिये प्रयत्न कोई नहीं करना चाहता।

एक बार हम कहीं गये हुए थे। भोजन में हर दूसरे-तीसरे दिन चटनी बने लेकिन उसमें कुछ स्वाद ठीक नहीं आये। हमने रसोइये को बुलाकर पूछा कि तुम्हारी चटनी में स्वाद क्यों नहीं होता है? वह कहने लगा कि 'मैं तो सब ठीक तरह से बनाता हूँ।' एक बार हम रसोई में पहुँच गये तो देखा कि वह चटनी को पीसता नहीं था, आजकल एक मिक्सी चली है, उसमें डाल दे और वह खट से घूम जाये। कहने लगा 'चटनी बना रहा हूँ।' उसे यह पता नहीं कि जिन देशों में यह मिक्सी बनी है वहाँ चटनी

नहीं होती, उन्होंने तो इसे मिल्कशेक के लिया बनाया था। जो साधन जिसे बनाने के लिये बना है, उसे उसी काम में लो तो चीज़ ठीक बनेगी। यदि तुम्हें चटनी बनानी है तो किसी इंजिनियर से कहो कि 'ऐसी मशीन बनाओ जिसमें चटनी बन सके'। जो यंत्र जिस काम के लिये बना उसे उसी काम में लोगे तब वस्तु सही तैयार होगी। हमने कहा 'चटनी तो सिल पर पीसी जाती है।' वह कहने लगा कि 'उसमें मेहनत बहुत लगती है।' हमने कहा 'जाने दो, बनाओ ही नहीं।'

जहाँ प्रयत्नसाध्यता नहीं रहेगी, प्रयत्न से घबराओगे वहाँ ज्ञान इच्छा रहते हुए भी कुछ नहीं कर सकते। जब इन तीनों का सहयोग होगा कि चीज का ज्ञान भी अच्छा हो, पूर्ण उत्साह भी हो, इच्छा भी हो और दृढतर प्रयत्न हो तब फल मिलेगा। दृढतर प्रयत्न का एक सूत्र केवल बतायेंगे, विस्तार से नहीं कहेंगे। दृढतर प्रयत्न का मतलब है कि जब तक कार्य सिद्ध न हो जाये तब तक मन में किसी दूसरी प्रवृत्ति का प्रवेश ही न हो। स्वप्न देखो तो उसका, रास्ते में चलते हुए सोचो तो उसको, किसी से बात करो तो उसकी, कोई पुस्तक पढ़ो तो तद्विषयक—इसका नाम दृढतर प्रयत्न है। इसलिये जो सब चीज़ों को सम्भालने वाला व्यक्ति होता है वह शून्य हुआ करता है और शून्य का शून्य ही रह जाता है। किसी भाषा के कवि ने भी कहा है

'एकहि साधे सब सधै सब साधै सब जाय।
काम बिगाड़े आपनो जग में होत हँसाय।'

एक चीज़ में दृढतर प्रयत्न होगा तो रात-दिन उसके सिवाय दूसरी चीज़ दिमाग में आ नहीं सकती। यह दृढतर प्रयत्न का रूप

है। अगर तुम चाहते हो कि हम कैमिस्ट बनें तो तुम्हारी दीवारों के ऊपर सब जगह तत्सम्बन्धित सूत्र (फार्मूले) लगे रहने चाहिये, भोजन करते हुए हर समय ध्यान रहे कि मिर्च के अन्दर कौन-कौन से ऐसिड हुआ करते हैं, उसमें ऐसिड और तेज़ी कैसे आती है इत्यादि। दिमाग में यही चलता रहे तब कैमिस्ट बनोगे। यदि सोचा कि कुछ हँस लें, कुछ खेल लें तो फिर शून्य वाला मामला रह जायेगा।

यह दृढतर प्रयत्न सभी जगह आवश्यक है और फिर अध्यात्म-वेत्ता के लिये तो यह बिल्कुल आवश्यक है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा कि जो परमात्म-प्राप्ति में लगे वह सर्वकर्म-संन्यास करे। श्रवणादि से अतिरिक्त उसका कोई कर्म रह ही नहीं सकता क्योंकि वह कर्म उसका विघ्न बन जायेगा, तत्त्व में स्थित नहीं कर पायेगा। सभी जगह दृढतर प्रयत्न करना चाहिये। अध्यात्म लाभ के लिये तो प्रयत्न की परिसीमा चाहिये इसलिये मुमुक्षु सारे कर्म छोड़ कर केवल श्रवण आदि में निष्ठावाला ही हो जाये, यही त्रिनयनता है।

प्रवचन—१३

सृष्टि के व्यक्त होने से पूर्व सब कुछ अव्यक्त रूप में था। जीव, जगत्, ईश्वर जो कुछ भी है वह सब वहाँ अप्रकट था, उसके बाद प्रकट हुआ। प्रकट होने में कुछ चीज़ें व्यक्त होती हैं, कुछ अव्यक्त ही रह जाती हैं। यह बताया कि किस प्रकार जीव में सद्रूपता और चिद्रूपता तो व्यक्त है परन्तु आनंद अनंत रूपता अव्यक्त है। उसके व्यक्तीभवन के उपायों पर विचार करते हुए देख रहे थे कि परमात्मा के गुणगणों के अन्दर जो पूज्य-दृष्टि है और उसका जो निरंतर अंतःकरण में प्रवाह है वही उस आनंद को स्फुट करता है। उन गुणों के स्वरूप का संक्षेप से विचार करते हुए देखा कि किस प्रकार वेद के द्वारा वह वेद्य और हृद्य है, त्रिपुरहर अर्थात् तीनों अवस्थों से अतीत है और त्रिनयन अर्थात् ज्ञान इच्छा क्रिया के सामरस्य के द्वारा उसकी उपलब्धि सम्भव है।

आगे कहा—

'जटाभारोदारं चलदुरगहारं मृगधरम्'

भगवान् शंकर के सिर पर जटा है, उस जटा का जो भार अर्थात् वज़न है उसको वहन करने में वे उदार हैं। वह जटा बहुत

बड़ी है लेकिन उस जटा के भार को वहन करने में सर्वथा उदारता है। जटा का अर्थ होता है इकट्ठा करना जैसे हिन्दी में भी कहते हैं कि 'एकजुट होकर काम करो।' खुले हुए बाल जटा नहीं कहे जाते। जब वे बाल एकत्रित होकर संग्रथित हो जाते हैं तब उन्हें जटा शब्द से कहा जाता है। इसलिये जटा का तात्पर्य है अनेकता को संग्रथित करके एकता में लाना। जैसे अनेक बालों को मिलाकर एकत्र करना जटा है वैसे ही संसार के सब पदार्थों को एकत्र करके ब्रह्मरूप में स्थिर करने से वे सब भी जटा ही हो जाते हैं। अन्यत्र भगवान् भाष्यकार जटा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि 'आकाशः चिकुरायते' आकाश ही भगवान् शंकर के बाल हैं। कहीं कहते हैं 'आकाशेन शिखी' आकाश के द्वारा ही वह शिखा अर्थात् बालों के समूह वाले हैं।

आकाश ही वह तत्त्व है जिसके अन्दर सारे तत्त्व एकजुट होकर रहते हैं, वही प्रथम कारण है। संसार में कोई भी चीज़ कहाँ है? आकाश में ही है। आकाश ही हम लोगों की चीज़ों में सबसे ज़्यादा व्यापक चीज़ है। परमेश्वर का निरूपण करने के लिये इसलिये वेद दो प्रतीक लेता है "ॐ कं ब्रह्म ॐ खं ब्रह्म।" क मायने आनंद और ख मायने आकाश। व्यापक आनंद को ही ब्रह्मस्वरूप कहा। केवल कह देते 'ॐ कं ब्रह्म' अर्थात् सुख ही ब्रह्म है तो मनुष्य सीमित या परिच्छिन्न सुख को ही ब्रह्म समझ लेता। रसगुल्ला खा कर समझता मुझे ब्रह्म प्राप्त हो गया। केवल 'ॐ खं ब्रह्म' कह देते तो आकाश व्यापक है लेकिन जडरूप है, इसलिये वह ब्रह्म व्यापक जड स्वरूप है—ऐसी प्रतीति हो जाती। श्रुति तो इसलिये कहती है 'ॐ कं ब्रह्म ॐ खं ब्रह्म' ब्रह्म की परिच्छिन्नता

को दूर करने के लिये व्यापकता बताने वाला 'खं' कह दिया गया और उसकी सुखरूपता का, चैतन्यरूपता का प्रतिपादन करने के लिये 'कं' कहा गया। भूमा आनंद कह दिया तो सारी बात हो गयी। अब उसमें किसी प्रकार के संदेह की सम्भावना नहीं। व्यापकता ही वस्तुतः जटा है।

व्यापकता का बड़ा भारी भार होता है। जितने व्यापक बनोगे उतना ऊपर भार ज़्यादा आयेगा और तुम्हारी व्यापकता का भार तुम तभी वहन कर सकोगे जब उदार होगे। सामान्य व्यवहार में भी यही बात है। हमारे यहाँ एक शब्द है 'परिवार', अंग्रेजों के यहाँ एक शब्द family है। परिवार के लिये उनके पास कोई शब्द नहीं और family के लिये हमारे पास कोई शब्द नहीं। 'Family' का मतलब होता है पति, पत्नी और बच्चे। परिवार का अर्थ होता है माता, पिता, ताऊ, चाचा, ताई, चाची, बुआ, भाई, भाभियाँ, भतीजे—सब एक परिवार के अन्तर्गत हैं। जब कोई विदेश जाता है तब प्रारंभ में समस्या आती है। अपनी भाषा है नहीं और जो भाषा जिसकी नहीं होगी, कोई लाख कोशिश करे उसका हृदय उसकी पकड़ में नहीं आ सकता। कोई अंग्रेज मिलने आता है। उससे पूछते हैं'How is your family?' तुम्हारी 'family' ठीक है या नहीं ? उसे आश्चर्य होता है, सोचता है कि पत्नी-बच्चे साथ हैं, और किस के बारे में पूछ रहा है। हम लोगों का स्वभाव है कि भाई-भतीजे, माता-पिता सभी परिवार के लोग ठीक हैं—ऐसा पूछते हैं। इसी तरह जब हम विदेशी लोगों से कहते हैं कि 'अमुक व्यक्ति भी हमारी family का है' तो उन्हें आश्चर्य होता है कि यह इनका लड़का नहीं, पिता नहीं है, फिर

यह family कैसे कह रहा है ? धीरे-धीरे उनकी सारी शिक्षायें हमारे यहाँ आईं उनके साथ ही यह शिक्षा भी आई और इसीलिये जैसे उनमें उदारता नहीं वैसे ही हम भी अब अनुदार हो रहे हैं। पाश्चात्य संस्कृति है वचन में उदारता, व्यवहार में महाकंजूसी। यह पाश्चात्य संस्कृति का बीज है कि बात इतनी बड़ी करना जिसका कोई ठिकाना नहीं लेकिन व्यवहार के समय सब गोल। ठीक यही स्थिति उनकी नकल करते-करते यहाँ भी आ रही है।

जब हमारा परिवार व्यापक है तो उसका भार होता है। भतीजे का सुख-दुःख है तो उसे सम्भालना, भाइयों के सुख-दुःख को सम्भालना, समय पर भाभी बेवा हो जाये तो उसे भी सम्भालना, क्योंकि वह सारा तुम्हारा परिवार है। अब स्वार्थ के समय तो परिवार बन जाता है। स्वार्थ भी बता देते हैं : जब शादी होती है तब मिलनी होती है अर्थात् लड़के का चाचा लड़की के चाचा से, लड़के की ताई लड़की की ताई से, लड़के का मामा लड़की के मामा से, लड़के का नाना लड़की के नाना से मिलता है। जिसके रिश्ते वाला नहीं होता उसके लिये सोचना पड़ता है कि उस जगह किसको रखा जाये। उस मिलनी में लड़की वाला अपनी स्थिति के अनुसार कुछ धन देता है। तुम कोई ब्राह्मण नहीं हो जो तुम्हें दान देता हो ! फिर किस बात के दे रहा है ? हमारे यहाँ विवाह लड़के-लड़की का ही नहीं, दो परिवारों का है। मिलनी इसलिये देते हैं कि हम लड़की तुम्हारे कुटुम्ब में भेज रहे हैं, तुम सबको इस बात की जिम्मेवारी दे रहे हैं कि लड़की पर कोई आपत्ति आये तो सब सम्भालना। इसी बात की मिलनी दी जाती है और तुम स्वीकार करते हो कि हम इसे सम्भालेंगे। रुपया लेते समय तो

आगे बढ़ जाते हैं लेकिन जब कोई कठिनाई आती है तो कहते हैं कि 'उनके घर में हम क्या बोलें !' उनसे पूछो कि रुपया लेते समय क्यों आगे आये थे ? वहाँ भी कहते कि 'हमारी जिम्मेवारी नहीं, उनका घर वे जानें, हमारे यहाँ ब्याह होगा तो रुपया लेंगे।'

पहले एक-दूसरे का भार लेते थे, वह परिवार का भार था। उसमें उदार होना पड़ता है। इतने बड़े परिवार में किसी की आमदनी कम भी होगी, किसी की ज़्यादा भी होगी। ज़्यादा वाला केवल अपना जीवनस्तर नहीं बढ़ा सकता जब तक सबको लेकर न चले। यदि यह सोचने लगता है कि हमारे ही बच्चे को हम नहीं देख पाते, भतीजे को कैसे सम्भालें—तो उदारता कहाँ रही? इसका मतलब तो यह है कि कल को यदि तुम्हारा बड़ा लड़का स्कूल में पढ़ रहा है और दूसरा लड़का पैदा हो गया तो उसे कपड़े आदि नहीं देना, कि 'यह तो ऐसे ही आ गया, इसे मरने दो।' तुम्हारे दो आये, चार आये, सब को सम्भाल कर ही तुम्हारा स्तर बनता है। वहाँ यह नहीं कह सकते कि हमको तो एक लड़के के लायक खर्च करना है, बाकी को तो अनाथालय में भेज देंगे; क्योंकि उनका सबका समान अधिकार है। जैसे उनका, वैसे ही परिवार का समान अधिकार है। इसलिये कहा कि बिना उदारता के जीवन में जटाभारता वहन नहीं हो सकती।

यह तो सामान्य व्यक्ति का जटाभार हुआ। भगवान् के लिये तो 'आकाशेन शिखी' आकाश अर्थात् सर्वव्यापक सृष्टि का जटाभार है। सृष्टि में एक चींटी और एक मच्छर से लेकर इन्द्र, वरुण, यम, ब्रह्मा, विष्णु पर्यन्त सारा व्यापक संसार एक है। उस सबके भार को ग्रहण करने में पूर्ण उदारता हो तभी काम चलता

है। इसीलिये जब कोई भी भगवान् शंकर का भक्त बने तो पहले एक बात सामने रखे तब बने : सारे देवताओं में सबसे नीचा जीवन-स्तर किसका है? इन्द्र के पास सात सूँड वाला हाथी, कुबेर के पास धन का खजाना, विष्णु के पास लक्ष्मी और कौस्तुभमणि है। वह कौन-सा देवता है जिसके पास कुछ नहीं ?

'चिताभस्मालेपः गरलमशनं दिक्पटधरो।
जटाधारी कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः।'

लगाने के लिये चिताभस्म है, खाने के लिये खोपड़ी है और उसमें क्या रखकर खाना है ? जहर। पहनना क्या है? दिशायें ही वस्त्र हैं, दिगम्बर हैं। इसलिये सबसे नीचा जीवनस्तर शिवजी का। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि है कुछ नहीं 'सुरास्तां ताम् ऋद्धिम्' प्रत्येक देवता को ऋद्धि अर्थात् धन आदि देने वाले वे हैं ! सब देवताओं को ऐश्वर्य देना और खुद अपने पास कुछ न रखना। ठीक इसी प्रकार परमात्मा के मार्ग में चलने वाले की उदारता तभी बनती है जब वह अन्य सबको देने वाला बने और खुद भोग के समय कहे 'जाने दो, इसका क्या करना है !'

यह जो जटाभार की उदारता है यह कोई अभावात्मक विचार नहीं है, भावात्मक विचार है। उस पर कल्पना करते हुए भगवान् शंकराचार्य लिखते हैं कि उनके बाल एक तरह से रज्जु हैं 'दुर्वारापत्तिगर्तश्रितनिखिलजनोत्तारणे रज्जुभूता'; जिसको हटाया न जा सके, जिसका हटाना अति कठिन है ऐसी आपत्ति से तारने में जो समर्थ है ऐसी रज्जु मानो उनकी जटा है। सबसे बड़ी आपत्ति क्या है? माया सबसे बड़ी दुर्वार है, इसको हटाना सबसे ज़्यादा मुश्किल है। भगवान् ने भी कहा 'मम माया दुरत्यया' यह माया

ही दुर्वार है। जिसको हटाया न जा सके ऐसी आपत्ति का जो गर्त्त अर्थात् इस मायारूप आपत्ति का सबसे बड़ा गड्ढा कहाँ है? उसी को यहाँ श्रुति ने कहा 'नो व्योमा परो यत्', हृदय गुहा ही वह गड्ढा है, उसी में जीव फँसा हुआ है। जो-जो भगवान् का आश्रयण करते हैं, उनका सहारा अथवा शरण लेते हैं, उन सबके प्रति भगवान् शंकर उदार हैं। ऐसा नहीं कि ये-ये गुण होंगे तब उदार होंगे।

गुणगणों को देखना भगवान् का काम नहीं है। जैसा कि हाकिम होता है; वह कानून के अनुसार जो दण्ड के योग्य होता है उसे दण्ड देता है और जो दण्ड के योग्य नहीं होता उसे छोड़ देता है। यही जज का काम है। लेकिन राष्ट्रपति को एक विशेषाधिकार होता है। जिसे सूली का भी दण्ड दिया गया है उसे भी वह क्षमा कर सकता है। यह राष्ट्रपति का अधिकार है। क्षमा करने का कोई कानून नहीं है अथवा यह भी नहीं लिखा हुआ है कि अमुक-अमुक ढंग के अपराधी को क्षमा किया जाये। यदि यही लिखना होता तो वह कानून में लिख देते और वह काम तो हाकिम ही कर देता। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को कर्मानुरूप फल देना तो सब देवता कर देते हैं लेकिन भूतभावन के पास विशेष शक्ति यह है कि जीव चाहे जैसे हो उसे उसी क्षण इस दुर्वार आपत्तिगर्त्त से निकाल देते हैं।

इसीलिये इसी श्लोक की अगली पँक्ति में कहेंगे 'महादेवं देवं मयि सदयभावं पशुपतिं' देव तो वह भी हैं इसलिये शुभ कर्म का फल दें, अशुभ कर्म के अनुसार दण्ड दें—यह भी भगवान् शंकर करते हैं। जैसे राष्ट्रपति के पास शिकायत जाती है कि अमुक

अफ़सर ने अमुक ग़लती की तो वह उसे निकाल देने को कहते हैं, यह काम भी वे ही करते हैं। अथवा अमुक अफ़सर ने बढ़िया काम किया तो वह आदेश देता है कि इसे तीन वेतनवृद्धियाँ दे दो; यह भी उसी का काम है। लेकिन यह तो उसका नियमानुकूल काम है। राष्ट्रपति किसी को जब क्षमा करता है उस समय वह किसी नियम के अन्तर्गत होकर नहीं करता। इसलिये देव होने के कारण शुभाशुभ कर्मों का निर्णय तो वे करते ही हैं लेकिन महादेव बाकी जितने भी अपराध हैं वे सारे भी ख़तम कर देते हैं। इसलिये भगवान् गीता में कहते हैं 'ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते'; यह नहीं कहा कि 'इतने ही पाप भस्म होंगे' अथवा 'थोड़े से बच जायें उनको तो ज्ञानाग्नि भस्म कर देगी, बड़े-बड़े पापों को पहले ख़तम कर लेना'—ऐसा कुछ नहीं कहा वरन् 'सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते।'

यह बात नियमवेत्ताओं को नहीं पचती है। जो लोग नियमों के बंधन वाले हैं उन्हें यह नहीं जँचती। भगवान् शंकर ने काशी के अन्दर मुक्तिक्षेत्र खोल दिया कि जो वहाँ मरे उसे मुक्त कर देते हैं। आज पर्यन्त हर-एक वादी को शंका यही रहती है कि यहाँ मरने से मुक्ति क्यों ? इस 'क्यों ?' का क्या जवाब दिया जाये! ऋषिकेश में काली कमली वाले के क्षेत्र का नियम है कि वहाँ लाइन में जो आकर खड़ा हो जायेगा उसको पाँच रोटियाँ और एक बड़ी कर्छी दाल मिल जायेगी। ऋषिकेश में काली कमली वाले के क्षेत्र में ही क्यों मिलती है, दिल्ली में क्यों नहीं मिलती? इसका क्या जवाब दिया जाये ? यह तो देने वाले की मर्ज़ी, वहाँ उसनें क्षेत्र खोल दिया, तुम जाकर लाइन में लग जाओ। कमाने

की योग्यता है तो वही करो। वह तो आकर नहीं कहता कि 'आओ और खाओ।' लेकिन यदि मुफ्त में लेना हो तो वहाँ जाकर लाइन में लगना पड़ेगा। इसी प्रकार संसार में कहीं रहकर तुम ज्ञान की प्राप्ति करो, कौन मना करता है ? लेकिन यदि मुफ्त में मुक्ति चाहोगे तो 'किसी भी जगह जाने से मिलेगी' यह नहीं कहा और यह भी नहीं कहा कि 'तुम वहाँ मत आओ तुम्हें नहीं देंगे।' जो अपनी कमाई कर रहा है, कर ही रहा है, किसी को रुकावट थोड़े ही है।

जैसे काशी लोगों को सहन नहीं होती ऐसे ही लोगों को ब्रह्मज्ञान सहन नहीं होता। वहाँ भी उनका प्रश्न होता है कि केवल पुण्य ही पुण्य रहते होंगे तब ज्ञान होता होगा, ऐसे चाहे-जिसको ज्ञान थोड़े ही हो जायेगा ? विचार करो कि अगर पुण्य ही पुण्य रहकर आगे सुख ही सुख भुगवाना होता तो ज्ञान की क्या ज़रूरत रही ? यह जो स्थलविशेष के द्वारा, ज्ञान विशेष के द्वारा समग्र आपत्तियों को ख़तम कर देना है—यह उनका महादेवस्वरूप है। यही उनका दयाभाव है। उनकी जटाओं का रंग अत्यंत काला है और भस्मी लगी होने से उसमें सफेदी भी प्रतीत होती है। आचार्य शंकर एक विलक्षण कल्पना करते हैं: भगवान् शंकर की कारुण्यमूर्त्ति कैसी प्रकट हो रही है ? लगता है यमुना जी वहाँ पहुँच गई हैं। जैसे 'देहली विश्वनाथ यमुने' दिल्ली विश्वनाथ के पास यमुना जी भी हैं ही, आप लोगों को तो यहीं प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यमुना जी भगवान् शंकर से कह रही हैं—'स्वामिन् ! जैसे आपने गंगा को अपने सिर पर स्वीकार किया है, वैसे ही मुझे भी स्वीकार करो।' यह प्रार्थना करते हुए यमुना जी वहाँ पहुँच

गईं। अंदर नहीं गईं, बाहर खड़ी हुई प्रार्थना कर रही हैं। अत्यंत तीव्र किरण वाला होने से सूर्य को खरांशु कहते हैं जैसे ठण्डी किरणों वाला होने से चन्द्रमा हिमांशु है। यमुना जी सूर्यकन्या हैं। वे भगवान् शंकर के सिर के पास पहुँची हुई हैं और हैं काले रंग की। प्रयाग में देखते ही हो कि गंगा सफेद रंग की और यमुना काले रंग की है। भगवान् शंकर के सिर के ऊपर जो काले मेघों की प्रतीति हो रही है उससे लगता है मानो यमुना जी उक्त बात खड़ी हुई कह रही हैं। इस प्रकार लोगों के मन में यह संदेह पैदा होता है कि मानो भगवान् शंकर उसे धारण करने जा रहे हैं। बीच-बीच में भस्मी की सफेदी गंगा दीख ही रही है। जो श्यामता दीखती है उससे लगता है यमुना जी वहाँ पहुँच गयी। यों उनकी जटा उनकी उदारता प्रकट करती है, उनकी उदारता का परिचय देती है। ऐसी वह जो उनकी कैशिक राशि, जटाजूट है वह हमारे कल्याण के लिये हो। गंगा और यमुना का अत्यंत विरोध होने पर भी एक साथ उनको स्थान देने की उदारता है। गंगा ज्ञान को और यमुना उपासना को बताती है। इसलिये इससे प्रतीत होता है कि जो उनकी शरण गया, उपासक बना, उसे भी उनके स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है जैसे ज्ञान वाले को।

गड्ढे में पड़े हुए को निकलने के लिये रस्सी चाहिये। भगवान् शंकर का इतना बड़ा जटाजूट इसलिये है कि अनंत जीवों का उद्धार करने के लिये मानो एक-एक रस्सी उन्हें तत्तद् गर्त से निकाल लेगी, अंतःकरण में पड़े हुए जीवों को निकाल लेगी। अनंत जीव होने से बाल भी बहुत चाहिये ! वस्तुतः उनका जो प्रत्येक बाल है वह मानो उनकी किरण है। इसलिये जीव ही वस्तुतः उनकी

जटाजूट हैं। मानो प्रत्येक जीव ऐसा है कि किसी न किसी दुर्वार आपत्ति से दूसरे को निकालने के लिये ही बनाया गया है। जीव का उद्देश्य क्या है, दुर्वार आपत्ति में पड़ा हुआ जो है उसको उस घोर आपत्ति में से निकालना। इसके लिये यदि तुम रस्सी बने तब तो तुम्हारी जीवरूपता, तुम भगवान् शंकर के जटाजूट के बाल हो, और यदि दूसरे को आपत्ति के गर्त्त से निकालने में लगे हुए नहीं हो तो भगवान् शंकर के जटाजूट के बाल नहीं हो। 'जटाभारोदारं' से दोनों बातें बताईं कि वे प्राणिमात्र को अंतःकरण के गर्त्त से निकालते हैं और उस जटाभार का जो एक-एक बाल है वह भी किसी न किसी को आपत्तिगर्त्त से निकालने के लिये ही है। यह उदारता जैसे-जैसे जीवन में आये तब कहेंगे जटाभार को वहन करने में उदार हैं।

यह उदारता क्यों नहीं आती? इसमें दो प्रतिबंधक हैं 'चलदुरगहारं मृगधरम्।' जो छाती के बल से चले उसे उरग कहते हैं। साँप के पैर नहीं होते, छाती के बल ही चलता है इसलिये साँप को उरग कहते हैं। हमारी इंद्रियाँ साँप की तरह हैं, इनकी गति उर के सहारे है। इंद्रियाँ हमेशा उर के सहारे ही प्रवृत्त होती हैं, इनके अपने पैर नहीं हैं। जैसे सर्प विषधर है ऐसे ही इंद्रियाँ भी विषवाली हैं और इसीलिये इन इन्द्रियों के कारण ही हम उदार नहीं हो पाते। कभी आँखरूपी इन्द्रिय को सुख चाहिये, कभी कानरूपी इन्द्रिय को सुख चाहिये। इसलिये ये ही हमें उदार नहीं होने देती हैं। इसीलिये आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र कहते हैं 'आत्मद्रोही करणविवशः भूयसाधः पतामि' करणविवश अर्थात् इन्द्रियों के वश में होना ही अपना द्रोह करना है। जितना इन्द्रियों को ठीक रखना

चाहोगे उतना ही अपने आत्मतत्त्व का द्रोह करोगे, अपने आपको दुःखी करोगे और उतने ही नीचे गिरोगे।

पहले घर का जो बड़ा होता था वह उदार होता था इसलिये स्वयं अपने खाने-पहनने पर ज़ोर नहीं देता था। घर के प्रत्येक व्यक्ति की तरफ दृष्टि रखता था। मनुस्मृति में जो लिखा है वह कहेंगे तो कहोगे कि यह आदर्शवाद है। मनु तो कहते हैं कि पहले अपने नौकरों तक को खिला दे तब घर की मालकिन खाये। आज की दृष्टि में तो यह बात किसी को जँचने वाली ही नहीं है। क्या कारण है ? वे तुम्हारे सहारे हैं। जो तुम्हारे सहारे है उसकी तरफ पहले दृष्टि रखनी चाहिये। आप लोगों को एक बार कहानी सुनाई थी कि भगवान् कृष्ण भोजन करते समय रोज़ कहा करते थे 'सर्वे लोकाः तृप्यन्ताम्।' एक दिन रुक्मिणी यह सुनकर हँसने लगी। भगवान् ने हँसी का कारण पूछा। बोली 'आप रोज़ यही कहते हो और खाते खुद हो, यह मंत्र अच्छा निकाल रखा है।' भगवान् ने कहा 'बात ठीक ही है, मैं सब लोकों को तृप्त करता हूँ तभी खाता हूँ।' रुक्मिणी चुप हो गई। अगले दिन एक चींटी को लेकर एक डिब्बी में बन्द कर दिया, यह सोचकर कि आज भगवान् को पकडूँगी ! भगवान् भोजन करने बैठे और पाँचों प्राणों की आहुति देकर वही कहा 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा। सर्वे लोकाः तृप्यंताम्।' जैसे ही खाना शुरू किया, रुक्मिणी ने पूछा 'क्या सब तृप्त हो गये ?' भगवान ने कहा—'हाँ ! हो गये।' झट उसने अपनी डिब्बी खोलकर देखी तो यह देखकर उसे महान् आश्चर्य हुआ कि पाँच ग्रासों में से ही एक दाना वहाँ पड़ा हुआ है। भगवान् ने कहा 'क्या खोल रही है, दिखा ?' कहने लगी 'पता नहीं यह

कहाँ से आकर इसमें पड़ गया !' यह एक दृष्टि है कि नौकर भी मेरे सहारे हैं। जब कुटुम्ब की यह दृष्टि बड़ों की होती थी तब इन्द्रियाधीनता नहीं थी। इन्द्रियों के अधीन वे व्यवहार नहीं करते थे। नतीजा यह था कि घर के बड़े पर कोई कठिनाई आये तो सब लोग तैयार रहते थे कि कैसे इनकी सेवा करें।

अब दृष्टि दूसरी हो गई। आज क्या कारण है कि लोग कहते हैं 'आज के बच्चों में वह भाव ही नहीं है।' उनसे पूछो कि तुमने अपने भाइयों के ऊपर कौन-सा भाव रखा था ? वही भाव फल दे रहा है। हम ऐसे घरों को जानते हैं जो पाकिस्तान बनने के बाद यहाँ आये और उनके नौकर भी उनके साथ ही थे। उन्होंने नौकरों से कहा कि 'अब हमारे पास तन्ख़्वाह आदि देने को नहीं है इसलिये कहीं और काम करो।' तब नौकरों ने कहा कि 'हम आपको छोड़कर नहीं जायेंगे, हम कमाकर खिलायेंगे।' और आज हड़ताल करने वाले, घेराव करने वाले भी नौकर ही हैं। यदि तुम इंद्रियाधीन हो तो तुम्हारा पुत्र, तुम्हारा नौकर भी इन्द्रियाधीन बनेगा।

उदारता का प्रतिबन्धक है इन्द्रियारामता। इन्द्रियों के अधीन जो चलता रहेगा वह उदार नहीं बन पायेगा। ये इन्द्रियाँ एक क्षण भी स्थिर रहने वाली नहीं, उनके अधीन रहने वाले का भी वही हाल होगा। भगवान् साँप को मारते नहीं। इन्द्रियों को दुःखरूप देखकर पहले प्रवृत्ति होती है कि इनको मार दें। ऐसे ही मन में होता है कि ये इन्द्रियाँ न रहें तो काम हो जाये। लेकिन भगवान् शंकर साँपों को मारते नहीं बल्कि उनका हार या आभूषण बनाकर पहन लेते हैं। एक नग के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इसी

का नाम हार है, चाहे मोतियों का हो, चाहे हीरों का हो। उन सब नगों के अन्दर से निकलने वाला एक तार होता है, वह चाहे सोने का हो, चाँदी या प्लेटिनम का हो अथवा धागे का हो। इसी प्रकार समग्र इन्द्रियों के अन्दर यदि तुम आत्मरूप के तार को पोकर चलोगे तब तो यह उरग हार हो जायेंगे। इसीलिये श्रुति कहती है कि वह तत्त्व कैसा है ? हृदय सब इन्द्रियों को एकभाव से, तत्त्वरूप से, साक्षिरूप से एक करके रखने वाला है, उन सबको इकट्ठा करता है। द्रष्टा, श्रोता, स्प्रष्टा, घ्राता, रसयिता, मन्ता, विज्ञाता इन सबके अन्दर रहने वाला जो साक्षी है उसमें इन्हें पिरोकर रखोगे तो ये हार हैं और जहाँ इन्हें अलग-अलग समझने लगे, बस वहीं से मुश्किल शुरू होती है, सारे नग चंचल होते हैं जब अंदर का तार टूट जाये। अंदर का तार जब तक मज़बूत है तब तक कोई भी नग इधर-उधर जाता नहीं है। उसी प्रकार साक्षिभाव जब तक मज़बूत है तब तक ये इन्द्रियाँ नग का काम करती हैं और जब उस भाव से गिरते हो तब ये इन्द्रियाँ चंचल हो जायेंगी, तभी इधर-उधर जायेंगी। प्रत्येक सर्प में, खासकर के बड़े-बड़े सर्पों के सिर में नग तो होता ही है।

यदि केवल इन्द्रियों को तुमने हार बना लिया तो भी काम नहीं होगा। एक और इससे भी तगड़ा बैठा हुआ है; वह हिरन है। हिरन को मृग इसीलिये कहते हैं कि इसको हमेशा ढूँढा जाता है, शिकारी मृगया करता है। इसी प्रकार हमारा मन भी मृग है। जैसे मृग को ढूँढा जाता है लेकिन बड़ी मुश्किल से पाया जाता है क्योंकि बड़ी तेज़ी से चलता है, ऐसे ही इस मन को हर एक व्यक्ति देखना चाहता है लेकिन मन है कि इतना जल्दी दौड़ता

है कि बड़ी कठिनाई से पकड़ में आता है। दृढ समाधि के अभ्यास से इसको जब परमेश्वर की तरफ ले जाओ तब पकड़ में आता है। हरिण को शिकारी बड़ी मुश्किल से मार पाता है लेकिन हरिण को जाल में फँसाने वाला बहेलिया बड़ी सरलता से पकड़ लेता है। उसको मारना मुश्किल है लेकिन बहेलिया उसे पकड़ लेता है। हरिण को नाद बड़ा पसंद है, वह संगीत का बड़ा प्रेमी है। इसलिये वह विशेष प्रकार के बाजे को बजाता है, उस संगीत को सुनने के लिये हरिण आकर खड़ा हो जाता है। बस उसी में पकड़ लिया जाता है। नाद से वह झट पकड़ में आ जाता है। भगवान् शंकर उस मृग को हमेशा हाथ में रखते हैं। एक हाथ में चाहे मृगमुद्रा हो, चाहे हरिण हो, मृग को हमेशा पकड़े रहते हैं। लेकिन कभी भगवान् शंकर की मूर्त्ति को ध्यान से देखोगे तो वह मृग के दो पैरों को तो पकड़े रहते हैं लेकिन उसके अगले दो पैर आगे नाचने को जाते रहते हैं। यह मन चार पैरों से चलता है, धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों से दौड़ता है। उसमें धर्म-मोक्षरूप पैर तो भगवान् शंकर पकड़े रहते हैं लेकिन काम और अर्थ को हाथ भी नहीं लगाते। जब धर्म-मोक्ष को पकड़े हुए हैं तब काम-अर्थरूप मन कहीं जा नहीं सकता। यदि हमने धर्म और मोक्षरूप दो पैरों को पकड़े रखा, अर्थात् व्यवहार काल में धर्म और विचारकाल में मोक्ष को पकड़े रखा, तो पहले प्रारब्धानुसार अर्थ और काम बाहर दौड़ेंगे लेकिन हमारा बिगाड़ कुछ नहीं सकेंगे। इसलिये इसको पकड़ना है।

भगवान् शंकर तो नित्य ही पकड़े हुए हैं हम कैसे पकड़ें? बहेलिये वाला काम करना पड़ेगा। यहाँ जो बार-बार ज़ोर दिया

जाता है कि भगवान् के नाम का स्मरण करो, जप करो; ये शब्द ही तो हैं। परमेश्वर के जप के द्वारा अंत में अंदर ही अंदर नादश्रवण होने लगता है। उसमें बड़ा जबर्दस्त आनंद आता है। अभी वैखरी जप अर्थात् मुँह से बोलकर ॐ नमः शिवाय का जप करते हो। आगे मध्यमा जप हो जायेगा, होठ नहीं हिलेंगे, और आगे जाकर वाणी के अन्दर भी स्पन्द नहीं होगा। पश्यंती में जाकर केवल उसका भावमात्र-प्रवाह रहेगा। और अंत में परा में पहुँचकर नादमात्र रह जायेगा। इन स्तरों से निकलते हुए मन को सुख मिलता जायेगा। यह मन भी हरिण की तरह होने से इस नादश्रवण से स्थिर हो जाता है। फिर पकड़ने में कुछ मुश्किल नहीं पड़ती है। इसलिये कहा कि जो महादेव देव हैं वे सदयभाव अर्थात् दयाभाव से रहते हैं। उनको मैं हृदय में भजता हूँ।

तुम्हारे ऊपर दया क्यों करेंगे, तुम्हारे पास क्या योग्यता है जो वे दया करें अथवा कौन-सी विशेषता है जो तुम्हारे ऊपर सदयभाव वाले हों ? मैं ढोर या पशु हूँ यही मेरी योग्यता है। मुझ में किसी भी योग्यता का न होना ही मेरी योग्यता है। क्योंकि उनका नाम पशुपति है इसलिये यदि वे मेरे ऊपर सदयभाव नहीं होंगे तो किस पर होंगे ? वे हैं ही पशुपति। 'पाशबद्धो भवेत् पशुः' जिसके गले में पाश पड़ा हो वही पशु है। हम लोगों के गले में माया का पाश पड़ा हुआ है। रास्ते में भी जब कुत्तों को पकड़ने वाली गाड़ी आती है तो पट्टे वाले कुत्तों को छोड़ देती है, बिना पट्टे वालों को पकड़ ले जाती है। इसी प्रकार मेरा तो यह अज्ञान का पट्टा पड़ा हुआ है और माया का पति शिव ही तो है। वह पट्टा परमेश्वर का ही है। बस यही उनका-मेरा रिश्ता है। इस रिश्ते

को कोई नहीं काट सकता। ऐसा जो चेतनमात्र मेरा आलम्बन है उस परमेश्वर की शरण लेनी है। यही हृदय में उनका भजन है। यों परमेश्वर के प्रति इन भावपूगों का प्रवाह ही उनकी अर्चना है।

प्रवचन—१४

सृष्टि से पूर्वकाल का विचार करते हुए पाया कि उस समय सत् और असत् अर्थात् कार्य रूप से अभिव्यक्त एवं कुछ नहीं अर्थात् सबका अभाव—ये दोनों ही स्थितियाँ नहीं थीं। जिसको नाम-रूप की अभिव्यक्ति से 'कुछ' समझते हैं वह भी वहाँ नहीं था लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं कि वहाँ केवल 'नहीं' था। वहाँ क्या-क्या अभिव्यक्ति रूप से नहीं था यह बताते हुए पहले दृश्य जगत् का अभाव बताया और फिर द्रष्टा-जगत् का अभाव बता रहे थे। द्रष्टा-जगत् का स्वरूप बताते हुए कहा कि द्रष्टा, ज्ञाता, प्रमाता में सत् और चेतन रूप प्रकट होने पर भी उसका आनंद भूमा रूप छिपा हुआ है। उस आनंदरूप की अभिव्यक्ति के उपायों पर विचार कर रहे थे। तीन उपायों का विचार किया। परमात्मा को शुद्धान्तःकरण में प्रतिबिम्बित देखकर उसके स्वरूप को पहचानना, परमेश्वर के गुणगणों के विचार से पूज्य-बुद्धि होकर उन गुणगणों के प्रवाह से अपने अंतःकरण में उन गुणों का आना, उस विषय में अनुमोदन करना और स्वयं लाने का प्रयत्न करना। संक्षेप में बताया कि किन गुणों को अपने अन्दर आधान परमेश्वर

के चिंतन से करके उस आनंदरूपता का उद्भावन होता है।

अब चतुर्थ साधन बताते हैं 'मदर्थे चांगचेष्टितम्'। पहला साधन बताया कि चेतन अंतःकरण में परमेश्वर का प्रतिबिम्ब-दर्शन। भक्त परमेश्वर का चेतन प्रतिबिम्ब है। दूसरा साधन—परमेश्वर के गुणों को अपने अंतःकरण में लाकर उसका चिंतन—यह परमेश्वर का मानस प्रतिबिम्ब हुआ। अब उसका स्थूल अभिव्यक्तीभवन कहते हैं 'मदर्थे चांगचेष्टितम्'। शरीर के अवयव-संस्थानों को अंग कहते हैं जैसे हाथ पैर इत्यादि। जितनी भी अपने स्थूल शरीर की क्रियायें हैं, अंगों के द्वारा जितनी भी चेष्टायें की जाती हैं, वे शिवार्थ हों—यह साधन है। वाक्य-रचना दो प्रकार की होती है—एक में कर्त्ता प्रधान और दूसरी में कर्म प्रधान होता है। व्याकरण में इन्हें कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य प्रयोग कहते हैं। मोटे दृष्टांत से समझ लो 'मैंने रोटी खाई', इसमें मेरे कर्त्तृत्व पर ज़ोर है। इसलिये रोटी को न भी कह कर केवल 'मैंने खाई' कह सकते हो। क्या, कैसे, आदि को खास जानने की इच्छा हो तो पूछोगे 'क्या खाया ?' कहीं तुम्हें जाना है, घर वाली से पूछते हो 'भोजन बना लिया ?' वह कहती है 'बना लिया।' क्या बनाया—इसकी खास जिज्ञासा हो तब पूछते हो 'क्या बनाया ?' ज़रूरी इतना है कि 'बनाई।' 'मैंने रोटी खाई' में ज़ोर 'मैं' और 'खाने' के ऊपर है, रोटी के ऊपर नहीं। जब कहते हो 'रोटी खा ली गई' तब भी अर्थ है 'मेरे द्वारा ही खा ली गई', बात वही है, लेकिन वहाँ ज़ोर इस बात पर है कि *रोटी* खा ली गई। किसके द्वारा और किसके द्वारा नहीं—इसकी खास जिज्ञासा हो तो पूछो, अन्यथा इतना ही पर्याप्त है। कहीं मुझे जाना है, घर वाली से

प्रवचन—१४

सृष्टि से पूर्वकाल का विचार करते हुए पाया कि उस समय सत् और असत् अर्थात् कार्य रूप से अभिव्यक्त एवं कुछ नहीं अर्थात् सबका अभाव—ये दोनों ही स्थितियाँ नहीं थीं। जिसको नाम-रूप की अभिव्यक्ति से 'कुछ' समझते हैं वह भी वहाँ नहीं था लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं कि वहाँ केवल 'नहीं' था। वहाँ क्या-क्या अभिव्यक्ति रूप से नहीं था यह बताते हुए पहले दृश्य जगत् का अभाव बताया और फिर द्रष्टा-जगत् का अभाव बता रहे थे। द्रष्टा-जगत् का स्वरूप बताते हुए कहा कि द्रष्टा, ज्ञाता, प्रमाता में सत् और चेतन रूप प्रकट होने पर भी उसका आनंद भूमा रूप छिपा हुआ है। उस आनंदरूप की अभिव्यक्ति के उपायों पर विचार कर रहे थे। तीन उपायों का विचार किया। परमात्मा को शुद्धान्तःकरण में प्रतिबिम्बित देखकर उसके स्वरूप को पहचानना, परमेश्वर के गुणगणों के विचार से पूज्य-बुद्धि होकर उन गुणगणों के प्रवाह से अपने अंतःकरण में उन गुणों का आना, उस विषय में अनुमोदन करना और स्वयं लाने का प्रयत्न करना। संक्षेप में बताया कि किन गुणों को अपने अन्दर आधान परमेश्वर

के चिंतन से करके उस आनंदरूपता का उद्भावन होता है।

अब चतुर्थ साधन बताते हैं 'मदर्थे चांगचेष्टितम्'। पहला साधन बताया कि चेतन अंतःकरण में परमेश्वर का प्रतिबिम्ब-दर्शन। भक्त परमेश्वर का चेतन प्रतिबिम्ब है। दूसरा साधन—परमेश्वर के गुणों को अपने अंतःकरण में लाकर उसका चिंतन—यह परमेश्वर का मानस प्रतिबिम्ब हुआ। अब उसका स्थूल अभिव्यक्तीभवन कहते हैं 'मदर्थे चांगचेष्टितम्'। शरीर के अवयव-संस्थानों को अंग कहते हैं जैसे हाथ पैर इत्यादि। जितनी भी अपने स्थूल शरीर की क्रियायें हैं, अंगों के द्वारा जितनी भी चेष्टायें की जाती हैं, वे शिवार्थ हों—यह साधन है। वाक्य-रचना दो प्रकार की होती है—एक में कर्त्ता प्रधान और दूसरी में कर्म प्रधान होता है। व्याकरण में इन्हें कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य प्रयोग कहते हैं। मोटे दृष्टांत से समझ लो 'मैंने रोटी खाई', इसमें मेरे कर्त्तृत्व पर ज़ोर है। इसलिये रोटी को न भी कह कर केवल 'मैंने खाई' कह सकते हो। क्या, कैसे, आदि को खास जानने की इच्छा हो तो पूछोगे 'क्या खाया ?' कहीं तुम्हें जाना है, घर वाली से पूछते हो 'भोजन बना लिया ?' वह कहती है 'बना लिया।' क्या बनाया—इसकी खास जिज्ञासा हो तब पूछते हो 'क्या बनाया ?' ज़रूरी इतना है कि 'बनाई।' 'मैंने रोटी खाई' में ज़ोर 'मैं' और 'खाने' के ऊपर है, रोटी के ऊपर नहीं। जब कहते हो 'रोटी खा ली गई' तब भी अर्थ है 'मेरे द्वारा ही खा ली गई', बात वही है, लेकिन वहाँ ज़ोर इस बात पर है कि *रोटी* खा ली गई। किसके द्वारा और किसके द्वारा नहीं—इसकी खास जिज्ञासा हो तो पूछो, अन्यथा इतना ही पर्याप्त है। कहीं मुझे जाना है, घर वाली से

केवल इतना पूछ लिया जाता है कि 'तुम लोगों का भोजन हो गया?' वह कहती है 'हो गया।' इसमें ज़ोर इस बात पर है कि 'भोजन हो गया'; किसने किया, किसने नहीं किया इस पर ज़ोर नहीं है। यद्यपि सामान्य रूप से 'मैंने रोटी खाई' और 'रोटी मेरे द्वारा खा ली गई' दोनों वाक्य एक जैसे लगते हैं तथापि दोनों के अर्थ में किंचित् भेद है। इसी प्रकार 'अंगचेष्टितम्' अर्थात् अंग के द्वारा जो चेष्टा हो गई। अंग की चेष्टा करने वाला तो साधक ही है लेकिन ज़ोर इस बात पर नहीं है कि वह कितना सोचकर अंगचेष्टा *करता* है वरन् इस पर है कि उसके अंग के द्वारा जो भी हो गया। जो भी अंगचेष्टा हो वह मुझ परमात्मा के लिये ही हो। सारी अंगचेष्टाओं का एकमात्र प्रयोजन परमात्मा है। अर्थात् स्थूल शरीर से जितनी क्रियायें हों, वे परमात्मा को छोड़कर अन्य उद्देश्य वाली न हो जायें। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

'जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणम् अशनाद्याऽऽहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।।'

जिसे यहाँ चेष्टित कहा उसे ही वहाँ विलसितम् कहा। जो कुछ भी मेरे द्वारा क्रियायें हों वे सारी 'सपर्या' परमात्मा की पूजारूप ही हों। दृष्टांत रूप से कहा : जो मेरा जल्प हो; पंजाबी भाषा में जल्प मतलब गप्प है। हिन्दी में 'गप्प' के अर्थ में तो झूठ का भी समावेश है ! लेकिन यहाँ झूठ से तात्पर्य नहीं है। पूछते हैं 'क्या कर रहे थे ?' कहते हैं 'गप्पें मार रहे थे।' अर्थात् इधर-उधर की कुछ भी बातें कर रहे थे; झूठ बोल रहे थे—ऐसा नहीं।

इसलिये जो कुछ भी मेरी वाणी का विलास होता है, सामान्य बातें भी जो मैं करूँ, वह जप ही तो है। जो भी शब्द बोले जाते हैं वे साक्षात् और परम्परा-सम्बन्ध से परमात्मा का ही प्रतिपादन करते हैं। कोई वाक्य, कोई शब्द ऐसा नहीं जो विचार करने वाले को साक्षात् या परम्परा से परमात्मा की तरफ न ले जाये ! जैसे लौकिक व्यक्ति की कोई ऐसी बात नहीं जो उसे संसार की तरफ न ले जाये। किसी के साथ आधा घण्टा गप्प मारने से पता लग जाता है कि यह व्यक्ति कैसा है क्योंकि जब स्वतंत्र रूप से बात करेगा तो व्यापारी घूम-फिरकर व्यापार पर आ जायेगा, साहित्य-कार घूम-फिर कर साहित्य के विषय पर आ जायेगा, राजनीतिज्ञ घूम-फिर कर राजनीति पर आ जायेगा। जो व्यक्ति जिस कार्य में दत्तचित्त है, थोड़ी देर के बाद चाहे जैसी अध्यात्मविषयक वार्त्ता करो, वह उसे उसी में घटा लेगा। यह रोज़ तुम लोग बात करने में देखते होगे कि आपस में बातचीत करने में पता लग जाता है कि व्यक्ति क्या करता है।

इससे ठीक विपरीत, जो अध्यात्म-शास्त्र का रसिक है वह साधारण से साधारण बात को भी अध्यात्म में ले जायेगा। राजनीति का विषय होगा तो भी वह राजनीति से अध्यात्म को पुष्ट करेगा। कोई कहेगा 'इंदिरा जी चुनाव हार गईं।' अध्यात्म शास्त्र वाले को तुरंत विचार आयेगा—इंदिरा क्या, उससे भी बड़े-बड़े लोग ख़तम हो गये।

'फाटे पर्वत फाँकते समुदर घूंट भराय।

ते मुनिवर धरती गले क्या कोई गरब कराय।'

अगस्त्य महर्षि ने विंध्याचल को कहा 'लेट जा' तो वह लेट गया,

समुद्र को एक आचमन करके पी गये; वे भी इस पृथ्वी में गल गये। इसलिये जिसे सामान्य पुरुष राजनीति समझेगा वह भी उसकी दृष्टि में अध्यात्म का स्मारक हो जाता है। इस दृष्टि से ही भेद होना है। बाकी, शब्दों का उच्चारण तो वही होना है। प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक शब्द साक्षात् या परम्परा से विचारशील को सिवाय परमात्मा के दूसरी चीज़ का स्मरण नहीं दिलायेगा। नानकदेव के बारे में कहा जाता है कि वे अनाज बेच रहे थे। उसमें जब बारह पल्ली बेचकर तेरह पल्ली देने लगे तो 'तेरा' शब्द से याद आ गया 'भगवान् ! सब कुछ तेरा है।' बाद में माता-पिता ने डाँटा-डपटा। शब्द तो स्मारक ही है। साधारण आदमी के लिये 'तेरह' मायने तेरह का अंक, लेकिन विवेकी के लिये वह परमात्मा का स्मरण करा देता है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं मेरा जो सामान्य जल्प हो वह भी जप ही कराता रहे अर्थात् निरंतर मुझे आत्मविषयक चिंतन ही कराता रहे। दृष्टि सर्वत्र वही रहे।

जल्प शब्द का प्रयोग कुछ पारिभाषिक अर्थ से भी है जिसका यहाँ संकेत-मात्र करेंगे। हमारे यहाँ जब आपस में शास्त्रार्थ होता है तो शास्त्रार्थ की तीन शैलियाँ होती हैं। 'वीतरागकथा वादः' जहाँ वीतराग महापुरुष बैठकर तत्त्व के निर्णय में लगे हुए हैं उसको वाद कहते हैं। दोनों में से किसी को किसी बात पर राग नहीं है, कुछ सिद्ध नहीं करना है, कुछ आग्रह नहीं है, केवल सत्य का अन्वेषणमात्र है। यह संसारी लोगों में असंभव है, कभी नहीं हो सकता क्योंकि उनको तो कुछ न कुछ अपनी कुट्टी काटनी ही है ! इसलिये जो महापुरुष वीतराग हो गये हैं वे ही आपस में वाद कर सकते हैं, दूसरे नहीं। भगवान् ने इसीलिये वाद को अपना

ऐश्वर्य अथवा विभूति बताई है 'वादः प्रवदतामहम्' । जहाँ वीतराग पुरुष बैठकर तत्त्वचिंतन करते हैं वहाँ साक्षात् परब्रह्म परमात्मा प्रकट हो जाता है अर्थात् तत्त्व का ठीक निर्णय हो जाता है। दार्शनिक दृष्टि से चिंतन करो तो भी वीतरागता अर्थात् वैराग्य की ज़रूरत है। ध्यान-धारणा करो तो भी वैराग्य की ज़रूरत है। बिना वैराग्य के परमात्मा कभी नहीं आता क्योंकि राग में तो अपना आग्रह है और जब तक अपना आग्रह है तब तक परमात्मा, सत्य कहाँ आकर बैठे ? यह शास्त्रार्थ की एक प्रणाली हुई जो वीतरागियों में प्रसिद्ध है।

दूसरा जल्प है जिसके अन्दर हमारा एक सिद्धान्त है और तुम्हारा दूसरा सिद्धान्त है। हम तुम्हारे सिद्धान्त को समझने का प्रयत्न करते हैं और तुम्हें अपना सिद्धान्त समझाने का प्रयत्न करते हैं। तुम्हारे सिद्धान्त में जो दोष हैं वे दिखाते हैं, हमारे सिद्धान्त में जो दोष हैं वे तुम्हें दीखते हैं, हम उनको दूर करते हैं। साधारण आदमियों की वार्त्ता यही है। साधारण विचारशील लोग जो समझा हुआ हो वह दूसरों को समझाते हैं और दूसरों से समझना चाहते हैं। अपनी समझी हुई भूलों को दूसरा बताये तो नाराज़ नहीं होते हैं, विचारपूर्वक उनका समाधान करते हैं। दूसरे में जो दोष दीखते हैं उन्हें बताते हैं और समाधान चाहते हैं। उसके बाद जो बात उपयुक्त हो वह स्वीकार ली जाती है। इसको जल्प कहते हैं। विचारशीलों की बात करने का तरीका यही है।

तीसरा वितण्डा होता है। आधुनिक युग का शास्त्रार्थ यही है। कहीं भी दो आदमी बैठकर बात करते हैं तो कहते हैं कि 'मेरा सिद्धान्त कुछ नहीं, तुम जो कहोगे उसमें ग़लती निकालनी

है। तुम मेरी किसी चीज़ में गलती निकाल ही नहीं सकते क्योंकि मेरा तो सिद्धान्त ही कुछ नहीं है।' उससे पूछें 'तुम क्या मानते हो ?' तो कहता है 'मैं तो सत्य का जिज्ञासु हूँ।' पूछते हैं 'तुम सत्य के जिज्ञासु हो, ठीक है, पर कुछ तो समझा होगा ? वह बताओ।' लेकिन वह कहता है 'मेरा सिद्धान्त कुछ नहीं है।' जैसे काँच की दुकान में साँड घुस जाये तो सिरफ तोड़ फोड़ ही होगी, ऐसे ही जहाँ तत्त्वजिज्ञासा हो रही हो, तत्त्वविचार हो रहा हो, वहाँ वितंडावादी घुस जाये तो अनेक युक्तियों और अनुभवों के आधार पर सिद्ध किये हुए सिद्धांतों के बारे में कह देगा कि 'यह तो कुछ नहीं है, आपकी कल्पना है।' आधुनिक युग में अक्सर यह वितंडा ही होता है।

वितंडा की चरम सीमा आप लोगों को बताते हैं : एक बार उत्तर प्रदेश में कहीं पहाड़ पर थे जहाँ विद्यार्थियों की हड़ताल हो रही थी। वहाँ भी कई हायर सैकेण्ड्री स्कूल थे। वहाँ के प्रधानाचार्य ने बच्चों से पूछा कि 'तुमने हड़ताल क्यों की?' उन्हें कुछ पता तो था नहीं, सब तरफ हल्ला हो गया कि करो हड़ताल और कर दी हड़ताल। उन सबने कहा 'हम सबको इस बार बिना परीक्षा के पास कर दो।' प्रधानाचार्य ने कहा 'ठीक है, सबको प्रमोशन दे दूँगा।' फिर सब एक दूसरे को देखने लगे और कहा 'फिर भी हड़ताल तो करनी ही पड़ेगी।' फिर उनसे पूछा 'तुम्हारी माँग क्या है ?' कहने लगे हैं 'कुछ है ज़रूर क्योंकि सब हड़ताल कर रहे हैं।' यही वितंडा का रूप है। यही पता नहीं कि बात किस उद्देश्य से कर रहे हैं। इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता।

इस वितंडावाद के कारण ही हमारी राजनीति का सत्यानाश

हो रहा है, हुआ है। हमारे यहाँ विरोध का मतलब है कि हम विरोध में हैं इसलिये हमें तुम्हारी नीति का विरोध ही करना है। कई बार राजनीति वाले लोग जानना चाहते हैं कि सरकार की आगे की नीति क्या होने वाली है। हमने एक-आध से पूछा कि सरकार की क्या नीति होगी इसे जाने दो, तुम बताओ कि कैसी नीति होनी चाहिये ? तो कहने लगे कि 'पहले ही कैसे बता दें? अगर जो हमने कहा वही सरकार की नीति हुई तो ?' हमने कहा 'फिर आप खुश हो जाना।' लेकिन वे तो विरोधी पक्ष वाले हैं। सरकार क्या करने जा रही है यह जानना चाहते हैं जिससे यह पता लगे कि अब हम किस बात का विरोध करें। एक बार बम्बई विश्वविद्यालय के विद्यार्थी एक व्यक्ति के पास गये और कहा 'आप वाइस चांसलर बन जाओ।' उन्होंने कहा 'तुम लोग अधिकारियों से बड़ा विरोध करते हो इसलिये मेरा कोई विचार नहीं है।' तब विद्यार्थियों ने कहा कि 'छः महीने से कोई वाइस चांसलर नहीं है, हम पुतला किसका जलायें और मुर्दाबाद करें तो किसके नाम से करें ? इसलिये आप ही वाइसचांसलर बन जाओ।' विरोध किसी सिद्धान्त का नहीं है, विरोध करना है इसलिये विरोध करते हैं। यह वितंडा है।

यहाँ भगवान् भाष्यकार कह रहे हैं कि वीतरागावस्था वाला तो साधक नहीं, वह तो उससे आगे पहुँच गया इसलिये वाद भी मुझ से होगा नहीं; और सर्वथा संसारी नहीं हूँ इसलिये वितंडावादी भी मैं नहीं। मैं जब बात करूँगा तो कुछ अपनी मान्यताओं को ठीक समझ कर करूँगा। सामने वाला जिस ग़लती को बतायेगा मैं उसे ठीक नहीं कर सका तो सहर्ष स्वीकार करूँगा। इसलिये

मुझ से जो होगा वह जल्प ही होगा। वह सारा का सारा जल्प आप जप रूप से स्वीकार करना।

जो कुछ भी मेरे हाथ इत्यादियों के द्वारा क्रिया हो वह शिल्प है, जिसे कारीगरी कहते हैं। वह सब आपको मुद्रा रूप से ग्रहण हो जाये। भगवान् की पूजा में मुद्रायें दिखाई जाती हैं। संध्यावंदन करते हो तो सोलह मुद्रायें पहले और चौबीस मुद्रायें बाद में दिखाते हो। परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिये हाथ से भिन्न-भिन्न मुद्रायें करते हैं। औरतें कहेंगी कि 'हम संध्यावंदन नहीं करतीं', लेकिन वे भी पूजा में नेवैद्य लगाते समय गोस्तनी मुद्रा दिखाती हैं, ऐसे ही जल में वरुण आह्वान के समय मुद्रा बनाती ही हैं। जो कुछ भी मेरे हाथ से कार्य इत्यादि हो वह सब मुद्रा रूप ही हो। आखिर हाथ इत्यादि को अमुक प्रकार से करना ही तो मुद्रा है। जो कुछ भी मुद्रा की जा रही है वह उन अंगुलियों के द्वारा की जा रही है जो साक्षात् या परम्परा से परमात्मा की स्मारक हैं।

पैरों से मैं जब भी चलता हूँ तो आपकी प्रदक्षिणा ही हो रही है। प्रदक्षिणा में परमेश्वर को दाहिने रखकर चलते हो अर्थात् इस ढंग से चलना कि परमेश्वर हमेशा दाहिने रहें। छोटी-सी प्रदक्षिणा मन्दिर के चारों तरफ करते हो तो भी वही बात है कि भगवान् को दाहिने रखा और महीने भर बाद अपने मन्दिर के वार्षिकोत्सव में आप लोगों से बड़ी प्रदक्षिणा कराने वाले हैं, तब सड़क से प्रदक्षिणा करायेंगे, लेकिन उस सारी प्रदक्षिणा में भी मन्दिर दाहिने रहेगा। जहाँ भी हम चल रहे हैं वहाँ सर्वव्यापक होने के कारण परमेश्वर दाहिने है या नहीं ? इसलिये जहाँ भी मैं चल रहा हूँ परमेश्वर मेरे दाहिने है। इसे मैं कभी न भूलूँ, यही प्रदक्षिणा होती

है। इसमें एक बड़ा सूक्ष्म संकेत दे रहे हैं कि यदि भगवान् दाहिने हैं तो जीत निश्चित है यह लोकोक्ति है। दूसरा, इसके द्वारा बताया कि मैं जितनी भी क्रियायें करूँगा, यदि परमेश्वर दक्षिण में है इसका स्मरण रखूँगा तो असफलता नहीं होगी। जब विधि वाम होता है तब असफलता होती है। जब परमेश्वर बायें हो तभी असफलता मानी जाती है। जिसको इसका स्मरण रहता है उसको कैसी भी क्रिया और कहीं भी गति करने में किसी पंडित से मुहूर्त्त नहीं पूछना पड़ता। भगवान् शंकर का एक नेत्र चन्द्रमा है, भालचन्द्र भी उन्हीं के ऊपर है। परमेश्वर दाहिने है तो उन पर रहने वाला चन्द्रमा भी दक्षिण हुआ और ज्योतिषियों का कहना है कि यदि चन्द्रमा दक्षिण में है तो सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति होगी। फिर क्या ज्योतिषी से मुहूर्त्त पूछना है !

जो हम अशनादि खाते हैं उसमें क्या चीज़ स्मरण रहनी चाहिये? खाया तो जायेगा ही। इसलिये भगवान् ने गीता में कहा कि मैं तुम्हारे उदर में बैठा हुआ हूँ 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।' मैं सब प्राणियों के उदर में वैश्वानर अग्नि के रूप में बैठा हुआ हूँ। साक्षात् भगवान् बैठे हुए हैं। जो भी तुम मुँह में डालते हो वह पेट में वैश्वानर अग्नि में जा रहा है। 'आहुति-विधिः' साधारण व्यक्ति भोजन करे, मैं कभी भी *भोजन* न करूँ वरन् मुँह के द्वारा उस वैश्वानर अग्नि में आहुति डालूँ। करना तो यह सबको है और डालना भी सबको वैश्वानर अग्नि में है ही, हजम करने वाला वही है 'पचाम्यन्नं चतुर्विधं', लेकिन साधारण व्यक्ति को यह पता नहीं। न पता होने के कारण पंजाब से कई लोग आकर कहते हैं 'महाराज! मंगलवार को मैं माँस नहीं

खाता।' उनसे तो हम कुछ नहीं कहते, लेकिन हमारे मन में आता है कि केवल मंगलवार को ही इन्हें भोजन हजम होता होगा, केवल मंगलवार को ही वैश्वानर अग्नि जलती होगी, क्योंकि इतना तो यह जानते हैं कि माँस खाना अच्छी बात नहीं हो सकती तभी छोड़ रहे हैं। लेकिन यह इनको किसी ने नहीं बताया कि पेट में वैश्वानर अग्नि सातों दिन रहती है। यज्ञ तो प्रतिदिन ही होना है। बैठा हुआ वह वहीं है। जिसको इस बात का स्मरण है कि 'अंदर वैश्वानर अग्नि में आहुति दे रहा हूँ' तो वह कितनी सावधानी से आहुति देगा ! यज्ञ के समय सावधानी बरतनी पड़ती है कि जौ-तिल आदि सामग्री में कोई कीड़ा आदि न रह जाये। यज्ञके तिल इत्यादि घर वाली खुद बीनती है, घी वाले से कहते हो कि 'तुम अपने घर से जाकर लाना। चाहे एक किलो ही लाना।' लेकिन इस वैश्वानराग्नि की बेइज्जती करते हो, इसमें वनस्पति घी की आहुति देने को तैयार हो जाते हो। हर समय यह स्मरण रहे : हम पानी भी पीते हैं; यज्ञ की समाप्ति पर पानी पीते हैं। यज्ञ की समाप्ति पर पानी में दूध मिलाकर यज्ञ की शांति की जाती है, वही पानी पीना है। जब मैं सोता हूँ तब वह परमात्मा के सामने प्रणाम ही है। परमेश्वर की मूर्ति के सामने पूरी तरह अपने को झुकाता हूँ—यही प्रणाम है। जब लेट रहे हो तो सर्वव्यापक परमात्मा के सामने ही तो झुक रहे हो। इसलिये जब मैं लेटता हूँ तब आपको प्रणाम कर रहा हूँ। यह सब करना तो है ही लेकिन यह बात न भूल पाऊँ।

जब कभी मुझे कोई भी सुखानुभूति हो तब वह सुख इन्द्रियों को तृप्त करने वाला न हो। यह न हो कि 'आज मेरी आँख तृप्त

हो गई', यह न हो कि 'आज मेरी नाक या जिह्वा तृप्त हो गई।' यह हो कि 'इनके द्वारा जो अपना आत्मरूप सुख है वह प्रकट हो गया।' सुख तो सबको होता है और होती भी आत्मसुख की प्रतीति ही है, होता वहाँ पर भी इन्द्रियों से नहीं है। वहाँ भी इन्द्रियों के द्वारा वृत्ति शांत होकर आत्मा के प्रकट होने से ही सुख होता है। लेकिन भूल से आदमी समझता है कि इन्द्रिय तृप्त हुई है। उस समय मैं साक्षिभाव से च्युत न होऊँ, मुझे स्मरण रहे कि वस्तुतः आत्मस्वरूप के ऊपर आने वाला कामनाओं का जो आवरण उसके खुलने से जो सहज आत्मसुख है वह प्रकट होता है—यही सुखानुभव है, सुख इन्द्रियजन नहीं है। इसी प्रकार जो भी क्रिया मैं करूँ वह इस प्रकार से हे परमेश्वर ! तुम्हारे लिये करूँ।

गीता में भगवान् ने भी यही कहा 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' अर्थात् जो भी कर्म तू करता है 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्' वह सब मेरे लिये कर, यही मेरी अर्चना होगी। यह स्वभाव बनने पर जिसे सांसारिक दृष्टि से लौकिक कार्य कहा जाता है वह भी पूजा का कर्म ही हो जाता है। आखिर पूजा का कर्म भी तो दृष्टि को लेकर ही है। उस क्रिया में पूजा की दृष्टि ही तो कर रहे हो, और क्या कर रहे हो ? सामने रखे हुए पत्थर में विष्णु शंकर की दृष्टि ही तो कर रहे हो, दीख तो वहाँ भी पत्थर, नर्मदेश्वर अथवा शालिग्राम ही रहा है। उसी प्रकार जब जल आदि से अभिषेक करते हो तब दृष्टि ही तो है कि 'मैं भगवान् पर चढ़ा रहा हूँ'। यदि सब कर्मों में यह दृष्टि रख सको तो सब समय पूजा हो जायेगी। शास्त्रों में इसीलिये यहाँ तक बताया कि दृष्टि की शुद्धि से ही लोक में भी कुछ पूज्य कहा जाता है।

पुराणों में कथा आती है कि नंदीग्राम के अन्दर महानंदा नाम की एक वेश्या रहती थी। थी वह शिवभक्ता। अत्यंत सुन्दरी होने पर भी शिव की अनन्य भक्त थी। उसके पास वैभव की कोई कमी नहीं थी। धन भी बहुत था, उसके शृंगार आदि के प्रसाधनों में हीरे-पन्ने इत्यादि जड़े हुए थे। संगीत इत्यादि के अन्दर भी उसकी अत्यधिक योग्यता थी। गले का माधुर्य भी पूरा था इसलिये राजा इत्यादि भी निरंतर उसके पास आते रहते थे। लेकिन उसकी आंतरिक भक्ति तो 'शिव-नामजपासक्ता भस्मरुद्राक्षभूषणा' शिव नाम के जप में रहती थी, उसका आंतरिक हृदय परमात्मा के नामों में ही था। सारे रत्नजटित भूषणों को पहनने पर भी उसे लगता था कि भस्म और रुद्राक्ष ही वास्तविक भूषण अथवा अलंकार हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल के समय वह नियम से शिवपूजन करती थी। व्यवहारकाल उसका वेश्या-कार्य का था। उसने एक मुर्गा और एक बंदर पाल रखा था। अपना-अपना शौक होता है। उस मुर्गे और बंदर को भी उसने नाचने की बड़ी सुन्दर शिक्षा दे रखी थी। प्रायः बंदर और मुर्गा साथ नहीं रहते, परस्पर झगड़ा करते हैं। कहीं भी चिड़िया इत्यादि देखकर बंदर झट उसे पकड़ने की कोशिश करता है। लेकिन उसने दोनों को ऐसा शिक्षित कर रखा था कि दोनों साथ ही रहते थे। उनके नृत्य को देखने के लिये भी देश-विदेश के लोग उसके पास आते रहते थे।

एक बार एक विदेश का वैश्य वहाँ आया। उसने कहा 'मैं इनका नृत्य देखना चाहता हूँ। मैं दूर देश से आया हूँ।' उसने उस वैश्य के अनुसार सारी व्यवस्था कर दी। जब वह बंदर और मुर्गे का नृत्य देख रहा था तब महानंदा ने उसके हाथ में एक

कंकण देखा जिसमें एक बड़ा ही सुन्दर शिवलिंग लगा हुआ था। वह भी हीरे का ही बना हुआ था। उस कंकण के रत्नों की शोभा और खास करके उसके अंदर जिस ढंग से लिंग लगा हुआ था उसको देखकर उस वेश्या के मन में कामना हुई कि 'यह मुझे मिल जाये।' खेल हो रहा था। वे लोग तो माँगने में चतुर होती ही हैं। उसने देखा कि इसे खेल खूब पसंद आ गया। आदमी का स्वभाव होता है कि कोई खेल पसंद आने पर कह उठता है 'जो माँगना हो माँग ले।' जैसे ही वैश्य ने ऐसा कहा वेश्या ने कहा 'यह रत्नजटित कड़ा मुझे दे दो।' वैश्य ने कहा कि 'यह तो तब मिले जब इसका कोई विशिष्ट मूल्य प्राप्त हो, केवल इस नाच से यह नहीं मिलने वाला है क्योंकि यह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता है और बड़ी कठिनाई से बना है। इसलिये केवल इस नृत्य के लिये मैं इसे देने वाला नहीं हूँ, कोई ऐसी ही अमूल्य चीज़ बताओ तो मैं दे भी सकता हूँ।'

वेश्या ने कहा 'तुम ही इसका मूल्य बताओ।' वैश्य ने कहा कि 'तू अपनी तरफ से ही बता कि क्या मूल्य है।' उसने कहा 'मैं वेश्या हूँ और वेश्या कभी किसी की पत्नी नहीं हो सकती, यह असम्भव है। लेकिन यह जो तुम्हारे हाथ का भूषण है यह मेरे चित्त को पूरी तरह से खींच रहा है इसलिये तीन दिन तक चौबीस घंटे मैं तुम्हारी पत्नी होकर रहूँगी। मेरी दृष्टि में यही अमूल्य चीज़ है।' उसने बात पक्की कर ली।

प्राचीन काल था इसलिये यहाँ की वेश्यायें भी सत्यवादिनी होती थीं। अब तो वेश्याओं को छोड़ो, बाकी जो अपने को खूब सदाचारी मानने वाले होते हैं वे भी जब आयकर अधिकारी के

पास पहुँचते हैं तो झूठ बोलने को पाप नहीं मानते ! उनसे कहो तो कहते हैं कि 'मैं कोई बुरा काम नहीं करता, माँस नहीं खाता, शराब नहीं पीता।' लेकिन झूठ बोलते हो? कहते हैं कि 'यह तो थोड़ा-बहुत चलता ही है।' जिस देश का कहना था 'सत्यमेव जयते' उस देश ने कहा कि अब इसकी सिर्फ पूजा करो ! इसलिये अब इसे झंडे में 'मोनोग्राम' के रूप में लिखा दिया। हम प्रायः कहते हैं कि किसी पुस्तक को ख़तम करना हो तो उसे बैन नहीं करना चाहिये उल्टा यह कहना चाहिये कि 'इसका रोज़ पाठ करो' तो थोड़े दिनों में वह अपने आप बैन हो जायेगी। कोई उसका अध्ययन नहीं करेगा। नवरात्रि में सब सप्तशती का पाठ करोगे, अर्थ का विचार कौन करेगा? बड़े से बड़े वेदपाठी से अर्थ की बात करो तो कहता है 'वेद तो पाठ की पुस्तक है। इसमें अर्थ का क्या विचार किया जाये ?' इसी प्रकार किसी महापुरुष के आदर्श को ख़तम करना हो तो उसकी मूर्ति बनाकर पूजा करने लग जाना चाहिये। राम ने धर्म के विरोधी को नष्ट किया, भगवान् कृष्ण ने धर्म-विरोधियों को नष्ट किया। अब जो राम-कृष्ण की पूजा करते हैं वे माला लेकर राम-राम, कृष्ण-कृष्ण करते रहेंगे। उनसे कहो कि 'अधर्म का विरोध करो', तो कहेंगे, 'हिंसा नहीं करनी चाहिये।' उनसे कहें कि 'फिर पूजा किसकी कर रहे हो?' कहेंगे 'वह तो भगवान् का काम है, वही करेंगे।' होना तो यह चाहिये कि जिसको पूज्य मानो उसने जो किया वह अपने जीवन में लाओ लेकिन होता ठीक इससे विपरीत ही है। 'सत्यमेव जयते' की जब पूजा होने लग गई तब सत्य बोलने की क्या ज़रूरत रह गई ?

उस वेश्या ने वैश्य को तीन दिन तक पत्नी रहने का वचन दे दिया। उसकी भी सारी व्यवस्था हो गई। उसने कंकण खोला और उसमें से लिंग को निकाल दिया और कहा कि 'इसको सुरक्षित जगह रख देना क्योंकि यदि इस लिंग का कुछ अनिष्ट हुआ तो मैं जी नहीं सकूँगा।' उसने अपने नाट्य मण्डप में वह लिंग रखवा दिया क्योंकि वहीं उसके सारे हीरे पन्ने जटित आभूषण भी थे। भगवान् की लीला तो विचित्र चलती ही है। रात्रि में अकस्मात् उस नाट्य मण्डप में आग लग गई और इतनी जल्दी वह आग भड़की कि जब तक लोग आग बुझाने का प्रयत्न करें तब तक खम्भे जलकर उस लिंग पर पड़े और इतनी गर्मी थी कि लिंग टूट भी गया और जल भी गया। जब उस लिंग को उस दशा में वैश्य ने देखा तो बड़ा दुःखी हुआ और दुःखी होकर उसने कहा 'अब चिता जलाने की तैयारी करो, मैं जल मरूँगा क्योंकि लिंगनाश होने के बाद अब मैं बचा नहीं रह सकता, वही मेरा इष्ट देव था।' लोगों ने समझाने का बहुत प्रयत्न किया कि 'वैसा ही और ला देंगे, कहीं से इंतजाम कर लेंगे', लेकिन वह किसी प्रकार से नहीं माना।

चिता की तैयारी हुई, वह वैश्य उसमें प्रविष्ट हो गया, आग जला दी गई। जैसे ही वह वैश्य जला वैसे ही महानंदा ने कहा कि 'मैं भी अपने आभरण इत्यादि धारण कर सती हो जाऊँगी।' उसके साथ वालों ने कहा कि 'क्या वेश्याओं में आज तक कोई सती हुआ है जो तू होने जा रही है ?' सबने समझाया, लेकिन उसने कहा कि धर्म का जो वास्तविक स्वरूप है वह सत्य का सहारा है। 'सत्येन परमा गतिः' मोक्ष की प्राप्ति भी केवल सत्य

का सहारा लेने वाले कर लेते हैं। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि प्राण छूटने पर भी जो सत्य को नहीं छोड़ता है उसी के लिये यह ब्रह्मविद्या प्रकट होती है। इसलिये उसने कहा 'मैं सत्य का आलम्बन नहीं छोडूँगी। मैंने तीन दिन तक पत्नीव्रत का पालन करन का निश्चय किया था और तीन दिन में ही यह चला गया, इसलिये अब मरना पड़ेगा।' सबने समझाया लेकिन नहीं मानी। तीन बार प्रदक्षिणा करके नियमानुसार उसमें प्रविष्ट होनी लगी।

जैसे ही वह उस जलती हुई अग्नि में प्रविष्ट हुई वैसे ही समग्र विश्व के जो वैश्वानररूप हैं वे प्रकट हो गये और कहा कि 'तुम इसमें प्रवेश मत करो।' उसने कहा 'आपके कहने से भी यह नहीं होने वाला है क्योंकि यह तो मेरा धर्म है।' तब उन्होंने कहा कि 'यह वैश्य कोई सामान्य वैश्य नहीं था। यह तो वैश्यरूप लेकर मैं ही आया था। तुम्हारे सत्य, धर्म, धैर्य और भक्ति की परीक्षा लेने के लिये ही मैं आया था कि ये गुण तुम्हारे अन्दर पूरी तरह से प्रकट हैं या नहीं। अब मैंने परीक्षा करके देख लिया कि सत्य, धर्म, धैर्य और भक्ति तुम्हारे में निश्चल भाव से हैं। इसलिये अब तू कोई वर माँग ले।' संसार के तो राजा भी उसके पास आते थे, धन आदि की उसके पास कोई कमी नहीं थी। इसलिये उसने कहा कि 'मुझे किसी भोग की इच्छा नहीं है। जितने भोग थे सब मैंने भोग लिये और वे भोग खोखले हैं इस बात को मैं अच्छी तरह से जानती हूँ। न मुझे इस पृथ्वी के भोगों की, न ऊपर के लोकों की और न रसातल आदि लोकों की कामना है, ब्रह्माण्ड के किसी भोग की मुझे अभिलाषा नहीं है। आपके चरणकमलों के स्पर्श के सिवाय और मुझे कोई कामना नहीं है और वे मुझे

सुलभ हो ही गये। मेरे भृत्य, दास-दासियाँ, बंधु वर्ग हैं इन्होंने भी मेरा पूरा साथ दिया है इसलिये यदि आप कुछ माँगने को कहते हैं तो मैं यही माँगती हूँ कि पुनर्जन्म का जो घोर भय है वह मेरे इन नौकरों तथा बन्धुओं को जिन्होंने जन्मभर मेरा साथ दिया, न हो अर्थात् इनका पुनर्जन्म न हो। इनके लिये ही मेरी यह अभिलाषा है, मुझे तो आपके चरणकमलों के सिवाय कुछ नहीं चाहिये।' भगवान् शंकर ने 'एवमस्तु' कहा। वे सब तो पुनर्जन्म से छूट गये और वह स्वयं परमेश्वर के परमधाम में प्रविष्ट हो गई।

विचार करो कि सामान्य रूप से जो लौकिक निकृष्ट कार्य नज़र आते हैं वे अंगचेष्टायें भी यदि परमात्मा के लिये हो जाती हैं तो वे ही मोक्ष का साधन बन जाती हैं। इस कथा के द्वारा पुराण ने कुछ सूक्ष्म संकेत भी किये हैं। असली वेश्या संसार में कौन है ? भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं 'माया वेश्या विलासिनी' असली वेश्या तो यह माया ही है। जिसको तुम लोक में वेश्या समझते हो वह भी घंटा दो घंटा किसी पुरुष के साथ रहने से सती है। लेकिन यह जो तुम्हारे मन की वृत्ति है, विचार करके देखो तो यह बुद्धिवृत्ति क्या एक घंटा या एक मिनट भी एक विषय पर रहती है? क्या इससे बड़ी कोई वेश्या तुमको मिलनी है? वह नंदी ग्राम में रहती है। नंदी जीव को कहते हैं। भगवान् शंकर के मन्दिर में सबसे आगे नंदी रहता है इसलिये पहले जीव (नंदी) का स्पर्श करके तब आगे भगवद्दर्शन के लिये जाते हो। जीवरूप ग्राम अपना शरीर हुआ और इसके अन्दर निरंतर आनंद को ही ढूँढने वाली जो हमारी बुद्धिवृत्ति है, वह ढूँढ तो आनंद को ही रही

है लेकिन भिन्न-भिन्न पदार्थों में आनंद को देखने के कारण इसी को वेश्या कहा जाता है। यह सामान्य वेश्या नहीं वरन् ऐसी है कि जो परमेश्वर के नामस्मरण इत्यादि की तरफ प्रवृत्त होती है अर्थात् यह ऐसी विविदिषु है कि अभी इसकी बुद्धिवृत्ति तो चंचल है लेकिन अंदर से इसकी इच्छा परमेश्वर के लिये हो चुकी। यह असल में परमेश्वर को चाहती है, सब समय उसी के लिये यत्न कर तो नहीं सकती लेकिन आसक्ति उसकी उधर हो गई है। साधक का जीवन यही होता है कि अंदर की आसक्ति तो उसे परमेश्वर की तरफ खींचती है और अभ्यासवशात्, पूर्व सांसारिक दुःखवशात् तथा समाज इत्यादि के ज़ोर से बार-बार उसका व्यवहार बाहर की तरफ होता है। लेकिन हर बार मन भगवान् की तरफ खिंच रहा है। जैसे वह वेश्या सवेरे थोड़ी देर पूजा कर लेती थी वैसे ही जो ऐसा साधक है वह प्रतिदिन कुछ समय तो अवश्य परमेश्वर के चिंतन में लगाता है लेकिन फिर सांसारिक कार्य में चला जाता है।

ऐसा करते हुए जब दीर्घकाल बीतता है तब वह शिव ही वैश्य रूप लेकर उसके पास आते हैं। यही परमेश्वर का गुरु रूप से सामने आना है। गुरु रत्नों में लिंग ही धारण करते हैं। 'आराधयामि मणिसन्निभमात्मलिंगम्' इसमें भी मणि शब्द का प्रयोग है। वह परमात्मा को धारण करते हैं इसलिये वही मणिरूप है। गुरु के पास जो यह परमात्मरूप मणि है इसी को साधक की बुद्धिवृत्ति माँगती है कि यह मुझे दो। लेकिन कब ? जब बंदर और मुर्गे का नृत्य दिखाती है। बंदर महान् चंचल है ही। इसी प्रकार हमारी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ सारी चंचल हैं और इन

सबके ऊपर बैठा हुआ मुर्गा मन है। ये खेल दिखाते हैं अर्थात् तुम अपनी इन्द्रियों और मन के द्वारा परमात्मा को खेल दिखाते हो। गुरु के सामने तुम अपनी समग्र क्रियाओं को परमात्मार्पण बुद्धि से करते हो, यही खेल दिखाना है क्योंकि तुम चाहते हो कि उनके पास जो परमात्ममणि है वह मुझे प्राप्त हो जाये। वही उसने माँगी।

उन्होंने कहा कि केवल इतने मात्र से यह नहीं मिलेगा, तुम चाहो कि केवल बाह्य इन्द्रियों से, बाह्य उपचारों से भगवान् की पूजा कर दी—इतने मात्र से तुम्हें परमात्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाये, तो वह नहीं हो सकता। इसलिये कोई असंभव, अमूल्य चीज़ बताओ। व्यभिचारिता छोड़ना ही असम्भव है। बुद्धिवृत्ति संसार के विषयों में जाना छोड़ दे और एकपतिव्रता होकर परमात्मा का वरण कर ले—यही असम्भव चीज़ है। इसलिये कहा 'तीन दिन तक मैं ऐसी रहूँगी।' तीन दिन तक के लिये उसने अपनी बुद्धिवृत्ति को इधर-उधर ले जाना छोड़ देने का वचन दिया। उसकी परीक्षा तो होनी ही थी। गुरु ने उसे तत्त्वज्ञान का उपदेशरूप वह लिंग तो दे दिया लेकिन यह कह दिया कि इसको नष्ट नहीं होने देना, बचाकर रखना। उसे बचाकर कैसे रखा जाये, उसके ऊपर तो अज्ञानरूप अग्नि हमेशा ही भड़केगी ! इसलिये जैसे ही ज्ञान की प्राप्ति होती है वैसे ही संशय की अग्नि उसे जलाने लगती है। ज्ञान तो हो जाता है लेकिन संशयाग्नि उसे जलाती रहती है। ज्ञान होने पर भी लगता है कि 'मुझे ज्ञान हुआ नहीं, हुआ भी तो स्थिर हुआ नहीं' इत्यादि। बहुत संदेह होते हैं। संशयाग्नि के अंदर वह लिंग जल गया। ज्ञान भी संदेह के कारण नष्ट हुआ-सा हो जाता

है। गुरु कहते हैं कि यदि तू इस ज्ञान का संरक्षण नहीं कर सकता तो अब मेरा गुरु रहना बेकार है क्योंकि गुरु वही है जो तुम्हें ज्ञान दे सके और यदि ज्ञान नहीं दे सके तो गुरु काहे का। केवल गुरुपूर्णिमा के दिन दक्षिणा लेने के लिये थोड़े ही गुरु बनाया जाता है।

इस बात को जब वे देखते हैं कि यह ज्ञान का संरक्षण नहीं कर पाया तो कहते हैं 'मैं भी इसके साथ ही जल जाऊँगा' अर्थात् 'इस संशयरूप अग्नि के अन्दर मैं चाहे जल जाऊँ पर संशय मिटाऊँगा ज़रूर।' तब उसे अपने अहम् के ऊपर संशय आता है कि जो संशय करने वाला है, वह मैं कौन हूँ? इसके पहले आदमी कभी इस बात पर संशय ही नहीं करता कि मैं कौन हूँ ? बाकी सब प्रश्न तो इसके चलते रहते हैं। अंतिम संशय इसके मन में आता है कि यह संशय करने वाला मैं कौन है ? गुरु ने ज्ञान तो दिया लेकिन यह मैं कौन हूँ ? जैसे ही यह जिज्ञासा हुई, अहम् जलने को तैयार हुआ। जैसे ही यह तैयार हुआ वैसे ही गुरु परमात्मरूप से प्रकट हो गये और उन्होंने कहा कि अहम् को जलाने की ज़रूरत नहीं है। इस अहम् के ऊपर जो तुम्हार दृढ विश्वास था इसके कारण ही संशय आदि होते थे। अब जब अहम् को छोड़ दिया तब काम बन गया। इसलिये यह अहम् छोड़ना ही पर्याप्त है। अब तुम्हें जो माँगना हो माँगो। उसने कहा मेरे अहम् प्रत्यय के अन्दर जो चेतन और आनंद रूप आपके चरण हैं उनका स्पर्श मुझे मिल गया तो मेरा काम हो ही गया। अहम् के कारण ही आनंदरूप का पता नहीं लग रहा था, जैसे ही अहम् समाप्त हुआ भूमा, आनंदरूप चरणों का स्पर्श मिल गया। लेकिन मेरी

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, शरीर आदि जितनी भी चीज़ें हैं ये सब मेरे नौकर चाकर, दास-दासियाँ हैं। इन समग्र साधनों को करने में इन्होंने मेरी मदद की, ये भी लगी रही हैं, इसलिये ये भी कभी संसार में न आयें। ये आयेंगी तभी जीवात्मा को भी आना पड़ेगा और ये नहीं आयेंगी तो मुक्ति स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार जब सब अंगचेष्टायें उनके लिये होने लग जाती हैं तब अंत में अहम् का मस्तक ख़त्म होने लग जाता है और चिदानंद की प्राप्ति हो जाती है। इसी साधन की प्राप्ति के लिये यहाँ 'मदर्थे चांगचेष्टितम्' कहा।

प्रवचन—१५

सृष्टि से पूर्व की अवस्था का निरूपण करते हुए उस अवस्था में जो कार्यरूप से अभिव्यक्त जगत् है और उसका सर्वथा अभाव —दोनों का प्रतिषेध किया। इन दोनों के प्रतिषेध से दृश्य और द्रष्टा दोनों जगत् का प्रतिषेध हो गया। द्रष्टा जगत् की अभिव्यक्ति का मतलब बताया कि इसको सत् और चित् रूपों की प्रतीति है लेकिन भूमा आनंद रूप की प्रतीति का अभाव है। इस भूमा आनंद रूप की प्रतीति को कैसे किया जाये? इसके कुछ साधनों पर विचार करते हुए चार साधन बताये। अत्यंत शुद्धान्तःकरण में परमात्मा के प्रतिबिम्ब को देख सको यह पहला साधन। दूसरे और तीसरे साधन में पूज्य दृष्टि अर्थात् मानस भाव की प्रधानता बतायी। चतुर्थ साधन 'मदर्थे चांगचेष्टितं' के द्वारा बताया प्रधानतः स्थूल शरीर के द्वारा परमात्मा के लिये क्रिया करना।

जो इसे भी करने में असमर्थ है उसके लिये परमेश्वर के लीला-चिंतन को बताते हैं : परमात्मा के लिये जो व्यक्ति न तो अपने भावों का समर्पण कर पाता है और न परमेश्वर की भक्ति करके हृदय के अन्दर वह उनका दर्शन कर पाता है और न ही स्थूल

शरीर से ही उनके प्रति क्रिया कर पाता है, वह कम से कम उनके चरित्र का चिंतन तो कर ही सकता है। लेकिन सुनना चाहिये परमेश्वर की लीला को प्रेम और अनुराग के साथ। यदि परमेश्वर की लीलाचिंतन को अनुराग के साथ, प्रेम या भक्ति के साथ नहीं करेगा तो पहले वृत्ति में एकाग्रता नहीं आयेगी और कभी-कभी विपरीत बुद्धि भी हो जायेगी। परमेश्वर के चरित्र में दोषदृष्टि बनने लगेगी जो मनुष्य को परमात्मा की तरफ से और दूर ले जायेगी।

लीला का मतलब ही होता है बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति का अभाव। लीला का सीधा मतलब हँसी-खेल होता है। दो तरह के व्यवहार होते हैं। एक व्यवहार वह है जो राजा दरबार में बैठा हुआ करता है। प्रत्येक वाक्य को बोलने के पहले जानता है कि 'मेरे मुँह से जो निकलेगा वह कानून बन जायेगा। उसके अंतर्गत सैकड़ों व्यक्ति दुःख भी पा सकते हैं और सुख भी पा सकते हैं।' दरबार में बैठ कर राजा अपनी वाणी का ध्यान रखता है अथवा दूसरे कार्यों का ध्यान रखता है। मुकुट पहने हुए सिर में खाज आ गई हो तो दरबार में बैठा हुआ राजा मुकुट उतार कर सिर पर खाज नहीं करेगा ! इसलिये राजा बनना कोई सरल थोड़े ही है। अभी पाँच-छः साल पहले अखबार में आया था कि अपने यहाँ जो वाइस राय लार्ड माउंट बैटन था वह इंग्लैंड की रानी का प्रधान असिवाहक बना था। जब रानी या राजा दरबार में बैठते हैं तब जो उनके पास तलवार लेकर खड़ा होता है उसका बहुत बड़ा पद माना जाता है क्योंकि राजा का परम रक्षक वही हुआ। नंगी तलवार लेकर खड़ा रहना पड़ता है ताकि किसी तरफ से कोई पास आये तो सबसे पहले वह राजा को बचा ले। बड़े महत्त्व का पद है। मोटी

दृष्टि से भी देखो तो नंगी तलवार लेकर सिंहासन पर खड़ा हो और विश्वासी न हो तो राजा या रानी की ही गर्दन काट सकता है ! जब वह दरबार में तलवार लेकर खड़ा था तभी उसे अकस्मात् दिल का दौरा पड़ा। वह उसी स्थिति में खड़ा रहा, उसकी मुखभंगी इत्यादि को देखकर तुरंत किसी ने आकर कान में फुसफुसाया कि 'आप यहाँ से चलें, दूसरा व्यक्ति आ जायेगा।' उसने नेत्र के कोण से इशारा किया कि 'चुप रहो।' वह उस दशा में भी वैसा का वैसा खड़ा रहा। जब दरबार ख़तम हो गया, शासक उठकर चला गया तब उसके जाते ही वह वहीं सिंहासन पर ही गिर पड़ा। फिर डाक्टर उसे स्ट्रेचर पर उठाकर ले गये। दरबार में ऐसे खड़े होना पड़ता है। दरबार में यह नहीं हुआ करता कि पीठ पर खाज आ गई तो पहले खाज ही कर लें। जब व्यक्ति स्थलविशेष में नियमपूर्वक, अधिकारपूर्वक बैठा हुआ है, उस समय उसका बोलना, इशारा इत्यादि सब चीजें नियंत्रित होती हैं, बुद्धिपूर्वक होती हैं।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि राजा के घर या मित्र नहीं होते। दरबार से घर जाकर रानी से मज़ाक भी करेगा, खाज करनी होगी तो दोनों हाथों से कर लेगा। मज़ाक में ऐसी बातें भी कर देगा जो विरुद्ध प्रतीत हों। अथवा जिस प्रकार कोई बड़े से बड़ा पंडित है, विद्वानों के सामने शास्त्रार्थ करने के लिये बैठा हुआ है तो एक-एक अक्षर को अपने अन्दर तोलता है कि कहीं अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव आदि दोष से ग्रस्त एक शब्द न निकल जाये, मीमांसा की दृष्टि से ठीक वाक्य बन रहा है या नहीं, न्याय की दृष्टि से ठीक वाक्य बन रहा है या नहीं। लेकिन

इसका मतलब यह थोड़े ही है कि वह विद्वान् अपने नौकर से या अपने दोस्तों से बात नहीं करता। वहाँ वह थोड़े ही ख्याल रखता है कि इसमें असम्भव दोष आ रहा है या नहीं; व्याकरण, मीमांसा आदि की दृष्टि से वाक्य ठीक बन रहा है या नहीं—यह थोड़े ही उस बातचीत में वह सोचता रहता है।

परमेश्वर वेद आदि वाणी से उपदेश देता है, सृष्टि स्थिति पालन करता है, वह उसका ऐश्वर्य-भाव है। वहाँ जितनी बुद्धि लगाना चाहो लगाओ, अच्छी तरह से विचार करो और सिद्धि भी होगी क्योंकि वहाँ एक-एक अक्षर और एक-एक क्रिया विचारपूर्वक की गई है। लीला में ऐश्वर्य-भाव नहीं होता। जैसे गीता में ऐश्वर्य-भाव से भगवान् कहते हैं 'नानवाप्तमवाप्तव्यं' संसार में कुछ भी ऐसा नहीं जो मुझे प्राप्त करनी है, संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं जो मेरे प्राप्त करने के योग्य है अर्थात् मुझे सब प्राप्त है। यह ऐश्वर्य-भाव हुआ जो बुद्धि से सिद्ध होने वाला, दूसरे को बताया जाने वाला भाव है। लेकिन एक वह भी तो भाव है जिसके अन्दर वह मक्खन की चोरी करने जाते हैं, और उनसे मिट्टी खाये बिना नहीं रहा जाता ! किसी ने तो यहाँ तक कहा है कि मक्खन भी नहीं, 'छछिया भरी छाछ ', मक्खन निकाली हुई छाछ को भी माँगते रहते हैं ! यह लीला का भाव है। अब यदि कोई कहे कि जिसको प्राप्त करने के योग्य कुछ नहीं, कोई चीज़ उसे अप्राप्त नहीं, फिर मिट्टी काहे को खाता है? अथवा मक्खन काहे के लिये चुराता है ? लीला के भाव में यदि तुम्हारा अनुराग नहीं है, प्रेम नहीं है तो उल्टी ही बुद्धि बन जायेगी कि 'यह तो बिल्कुल सामान्य व्यक्ति है, इसको लोगों ने प्रशंसा कर-कर

के भगवान् बना दिया है, यह काहे का भगवान् है !' इसलिये परमेश्वर के लीला-चरित्र के श्रवण में भक्त का मन सहज एकाग्र होगा। यह उसकी विशेषता है क्योंकि सामान्य लीला मनुष्य को जल्दी आकृष्ट करती है, मन उसमें सहज रमण करता है। इसीलिये उसे मनोरम कहते हैं। श्रवण करना भक्तिपूर्वक, अनुरागपूर्वक होगा। उसमें सर्वथा बुद्धि नहीं लगानी है, ऐसी बात नहीं है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

'धीयंत्रेण वचोघटेन कविता-कुल्योपकुल्याक्रमैः
आनीतैश्च सदाशिवस्य चरिताम्भोराशिदिव्यामृतैः।
हृत्केदारयुताश्च भक्तिकलमाः साफल्यमातन्वते
दुर्भिक्षाद् मम सेवकस्य भगवन् विश्वेश भीतिः कुतः।।'

कल्पना करते हैं : भगवान् का चरितामृत कैसा है ? रेहट की तरह है। कुएँ से पानी निकालने के लिये रेहट बनाई जाती है, संस्कृत में उसे चक्र या यंत्र कहते हैं। बुद्धि वहाँ केवल यंत्र है। उसमें जो घट या घटिकायें लगी हुई हैं जिनमें पानी भरकर निकलता है, वे शब्द या वाणी हैं। वह पानी पहले एक बहुत बड़ी जगह पर गिरता है, फिर आगे नालियाँ निकलती हैं। जहाँ बुद्धियंत्र के द्वारा वाणी का जल गिरकर भर रहा है वह कविता है। कविता के द्वारा ही उसकी लीला को प्रकट कर रहे हैं। कवि शब्द का अर्थ क्रांतदर्शी होता है। जो चीज़ इन्द्रियों से देखी जाये वह गद्य होती है—जो कहा जाता है और जितना कहा गया उतना ही उसका अर्थ है और उतना ही समझना है। लेकिन जो अनुभव हुआ हो उस अनुभव से किसी अनुभवातीत को भी समझा जाता है। एक बात अनुभव को भी समझाती है और विवेकी उसके द्वारा

अनुभवातीत को भी समझता है।

मोटी दृष्टि से समझो। बुद्ध के पास एक औरत जाकर कहती है 'मेरा लड़का मर गया। आप सिद्ध महापुरुष हैं, आपकी कृपा हो तो जीवित हो जायेगा।' उन्होंने समझाया कि मरा हुआ जीवित नहीं होता है। वह नहीं मानी और कहा 'आपके आशीर्वाद से ज़रूर हो जायेगा।' यहाँ तक गद्य है। उन्होंने कहा—'अच्छा, तू नहीं मानती है और बड़ी ही श्रद्धापूर्वक आई है तो कोई बात नहीं। तू ऐसे तीन घरों से राई ले आ जिन घरों में कोई मरा न हो। मैं वही राई मंत्र फूँक कर डाल दूँगा तो यह जीवित हो जायेगा।' बड़ी प्रसन्न हो गई, दौड़कर गई। गाँव में जिस घर में जाकर पूछे कि 'तुम्हारे घर में कोई मरा तो नहीं है ?' सब उसकी हँसी उड़ाते थे ! ऐसा घर कहाँ मिलना है जहाँ कोई मरा न हो ? लेकिन उस अनुभव से धीरे-धीरे उसके मन में विचार जाग्रत् हो गया। बात वही हुई जो पहले कही थी कि मरना तो सबको अवश्यंभावी है, लेकिन बात हृदय में नहीं उतरी थी। बुद्ध ने यह जो वचन कहा यह लीला है, यह कविता है; बात तो वही है। वह घूमकर आ गई, बोली 'ऐसा कोई घर नहीं मिला। आप ठीक ही कहते थे कि जीना-मरना क्रमिक है।' शांत हो गई। कोई यह सोचे कि 'अगर ऐसी राई मिल गई होती तो क्या बुद्ध अपनी सिद्धि दिखाने जा रहे थे ?' तो उल्टा अर्थ हो जायेगा।

प्रायः आजकल लोग यही करते रहते हैं। बुद्धि को लगाना चाहिये सृष्टि स्थिति लय की प्रक्रिया समझने में अथवा आकाश आदि की उत्पत्ति कैसे हुई, कर्म का फल कैसे मिलता है, इन बातों को जितना सोचना चाहो बुद्धि से सोचो। लेकिन परमेश्वर की

लीला के अन्दर कहते हैं कि 'इसको पहले बुद्धिगम्य बनाओ।' परमेश्वर की लीला बुद्धिगम्य नहीं है, वह तो कविता है। कवि क्रांतदर्शी होता है जो एक साधारण स्थिति को अनुभवातीत में ले जाता है और इसीलिये उसको समझने वाले को भी हृदय के अन्दर भाव को जाग्रत् करके समझना पड़ेगा, नहीं तो कुछ नहीं समझेगा।

लीला-कथन में कविता कुल्या है। वहाँ से कई छोटी-छोटी नालियाँ निकलेंगी। गाँवों में देखा होगा, पहले बड़ी नहर होती है, फिर उसमें से छोटी-छोटी नालियाँ बनी होती हैं, फिर और छोटी निकाली जायेंगी। अंत में खेत में जाकर पानी पड़ेगा। खेतों के अलग-अलग छोटे-छोटे टुकड़े होते हैं जिनमें एक में गेहूँ बोया है, एक में जौ बोया गया है। किसी में आज पानी देना है, किसी में कल पानी देना है। इसी प्रकार कविता के द्वारा कुल्या को कहा और फिर उपकुल्यायें कहेंगे। यदि कभी गाँव गये ही नहीं हो तो कभी वजीरपुर चले जाना। वहाँ से एक बहुत मोटा पाइप पानी का आता है; तुम्हारे घर के ऊपर छोटा-सा पाइप होता है; तुम्हारे कमरे में जो नल होता है वह और छोटा होता है। वहाँ से उतना बड़ा पाइप पानी भरकर चला फिर उसके टुकड़े होते-होते अंत में जहाँ काम की जगह है वहाँ तो छोटा-सा ही पाइप है।

इस कविता रूपी नाली के द्वारा क्या आया है ? सदाशिव परमात्मा का जो चरित्ररूप जलसमूह है वह दिव्यामृत ही इस कविता के द्वारा प्रकट हुआ। है वह दिव्यामृत लेकिन वह कहाँ पड़ता है ? साधक का हृदय ही वह खेत है जहाँ वह पड़ता है। उस खेत के अन्दर परमेश्वर की भक्तिरूप चावल लगे हुए हैं।

चावल के खेत में पानी भर जाता है। यदि उसमें पानी पूरा मिलेगा तो उसमें बढ़िया चावल पैदा होगा। इसी प्रकार परमेश्वर की लीलाओं को कविता की कुल्या-उपकुल्या के द्वारा जो अपने हृदय में भरता रहता है, ऐसे मुझ साधक को कभी दुर्भिक्ष का भय नहीं है। जिसको अकाल कहते हो अथवा कहते हो कि खेती अच्छी नहीं हुई, उसी को दुर्भिक्ष कहते हैं। अकाल वहीं पड़ता है जहाँ पानी खेत में पूरा न पहुँचे। इसीलिये ज़मीन खरीदते समय कहते हैं कि नहर के पास की अथवा जहाँ अखण्ड जल का कुआँ हो कि चाहे जितना पानी निकालो, कुआँ सूखे नहीं, वह ज़मीन खरीदो, तदतिरिक्त जगह पर यदि खेत खरीदते हैं तो दुर्भिक्ष का भय रहता ही है। इसलिये नहर के नज़दीक लगने वाली जमीन यदि एक सौ चार रुपये बीघा मिलती है तो कुएँ वाली ज़मीन अस्सी रुपये बीघा मिल जाती है। जहाँ नहर-कुआँ नहीं ऐसे मारवाड़ के अन्दर ज़मीन मिलती एक रुपया बीघा और कोई देखने भी नहीं आते कि तुमने पचास बीघा ज़मीन घेरी और पच्चीस ही रुपये दिये। ज़मीन वही है, उसमें फ़रक नहीं, बस वहाँ कुआँ या नहर नहीं है। ऐसे मारवाड़ में जहाँ वर्षा का भी ठिकाना नहीं वहाँ ज़मीन खरीदे जाओ, उससे क्या होना है ?

ठीक इसी प्रकार यहाँ यदि परमेश्वर की लीलाओं के श्रवणरूप जल को हृदय में नहीं लाओगे तब तो दुर्भिक्ष या अकाल का भय बना ही रहेगा। चाहे जितना विवेक-विचार आदि कर लो लेकिन हृदय में तरी नहीं आ पायेगी और तरी नहीं आ पायेगी तो हमेशा मन इधर-उधर जाने का भय बना रहेगा। यदि परमेश्वर के लीला-चरित्रों के अंदर तुम्हारा मन लगा हुआ है तो कभी भी उसमें कमी

नहीं आयेगी। मन का स्वभाव क्या है ? वह हमेशा नई चीज़ में लगता है, वह चाहे शब्द की नवीनता हो, अर्थ की अभिव्यक्ति की नवीनता हो। नवीनता में तो मन लगता है, यदि नवीनता का अभाव हो तो मन नहीं लगता। इसीलिये लोग दस-बारह साड़ियाँ खरीदकर रखते हैं, नहीं तो साड़ियाँ दो ही काफी हैं--एक सुखा दी, दूसरी पहन ली। यदि दो बार नहाने की आदत है तो भी दिल्ली जैसी जगह में सवेरे की धोई हुई शाम को सूख जाती है। फिर इतनी साड़ियाँ नवीनता के लिये ही तो रखते हैं। इसी प्रकार सब चीजों के अन्दर नवीनता अच्छी लगती है। बिस्तर की चादर सवेरे धो दो, दिन में तो सोना नहीं है, शाम को फिर लगा दो। फिर भी दस चादरें नवीनता के लिये ही तो रखते हो। आटा, चावल, दाल—खाने की चीज़ें ये ही तो हैं। लेकिन आज पराँवठा बना देना, आज फुल्का बना दो, आज पूरी उतार दो, कभी कचौड़ी बन गई। क्या फ़रक है? खाना तो आटा ही है। सत्तू बनाकर खाओगे तो भी खाना आटा ही है। लेकिन सर्वत्र नवीनता है। मन नवीन पदार्थ में रमता है। चाहे वह शब्दगत नवीनता हो चाहे अर्थगत नवीनता हो, वहाँ तो मन लगता है, नहीं तो मन के अन्दर लगने की ताकत नहीं रहती और वह दूसरी तरफ चला जाता है।

यही रहस्य है कि क्यों हमारे यहाँ इतने पुराणों आदि की रचना हुई। बात अलग नहीं है, बात तो इतनी ही है 'ब्रह्म सत्यं जगद् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।' शास्त्रार्थ तो इतने पर ही होना है; लेकिन इसमें मन टिकेगा नहीं। परमेश्वर के ऐश्वर्यभाव में एकरूपता है, उसमें अनेकरूपता हो ही नहीं सकती। यदि परमेश्वर के ऐश्वर्यभाव में अनेकरूपता आये तो पहला दोष ही यह होगा

कि एकभाव में क्या अपूर्णता थी जो दूसरा भाव लाना पड़ा ? पूर्ण दो नहीं हुआ करते। इसलिये ऐश्वर्यभाव के अन्दर भेद सम्भव नहीं। ठीक जैसे बीसों पीढ़ियों तक भी राजा का सिंहासन वही रहता है। घर के अन्दर कुर्सी-मेज़ आदि सारा फर्नीचर बदलता रहता है लेकिन सिंहासन वही चलेगा क्योंकि वह ऐश्वर्यभाव है। जो मुकुट बीस पीढ़ी से आ रहा है वही पहनना पड़ेगा। घर में बालों की डिज़ाइन जो मर्जी बदलो। कभी पगड़ी पहनो, कभी टोपी पहनो, लेकिन राज-घरानों में तो जो मुकुट चला आया है वही पहनना पड़ेगा। वर्तमान में इंग्लैण्ड में जो राजा या रानी है उसका जब अभिषेक हुआ था तब पंडित नेहरू भी गये थे। सैकड़ों साल पुराना वहाँ तेल है जिस तेल से इंग्लैण्ड के प्रथम बादशाह का अभिषेक किया गया था, उसी तेल से आज भी अभिषेक किया जाता है। उसमें बड़ी बदबू आती है, आनी ही हुई। नेहरू जी कहने लगे 'ये कैसे बेवकूफ लोग हैं, इस तेल से क्या होना है !' राजा के घर वे पैदा थोड़े ही हुए थे जो समझते। वे तो बुद्धि से समझना चाह रहे थे। इसलिये जहाँ ऐश्वर्यभाव है वहाँ किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना आते ही प्रश्न होता है कि 'ऐसा क्यों ?' इसी प्रकार इंग्लैंड की वर्तमान रानी है उसको जिसने पढ़ाया था वह अपनी पुस्तक 'The Little Princess' में लिखता है कि पहले-पहल जब मुझे यह कार्य मिला कि 'जो भविष्य की राजगद्दी की अधिकारी है उसे पढ़ाऊँगा' तब मुझे बड़ा उत्साह था। बकिंघम पैलेस में रहने को मिलेगा। सोचता था कि न जाने वहाँ कितने सुख की सामग्री होगी। लेकिन जब मैं वहाँ जाकर रहा तब हफ्ते भर में ही मैं तो घबरा गया ! क्योंकि बकिंघम पैलेस आज से

छः सौ साल पहले या उससे भी पहले का बना हुआ है। पुराने घरोंमें आप लोगों को याद ही होगा कि अपने घर से बाहर निकलो तब जाकर टट्टी-पेशाब की जगह और नहाने की जगह होती थी। वह लिखता है कि पैलेस से एक-दो फर्लांग चलकर जाऊँ तब पेशाब की जगह मिले। बिजली के खटके ऐसे लगे हुए कि अँधेरे में पच्चीस कदम चलूँ तब मिले। हवा आने की जगह कहीं नहीं और चूहे रात-दिन कमरे में दौड़ते रहें। हफ्ते भर बाद उस समय के बादशाह छठे जार्ज ने मुझ से पूछा कि 'कोई असुविधा तो नहीं है?' तब मैंने कहा कि 'आप मुझे पैलेस से बाहर रहने दें तो बड़ी कृपा होगी।' बादशाह हँस पड़े और कहने लगे कि 'तू बाहर रह जा ! यदि मैं राजा न होता तो मैं भी यहाँ नहीं रहता !' ऐश्वर्य-भाव के अन्दर रोज़-रोज़ परिवर्तन नहीं हुआ करता। इसलिये जब श्रुति सृष्टिप्रक्रिया कहती है 'तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशस्संभूतः' तब यह नहीं होता कि किसी सृष्टि में आकाश से पहले वायु बना लेते होंगे या कभी कुछ कर लेते होंगे। वह ऐश्वर्यभाव की सृष्टि है, वहाँ तो सब क्रमबद्ध है, कहीं अनेकता नहीं, कोई चीज़ इधर-उधर नहीं हो सकती।

लेकिन जब लीला-विग्रहों का रूप आता है तब कहीं नारायण स्वरूप प्रकट हो गया; उसके दाहिने भाग से रुद्र, बायें भाग से ब्रह्मा पैदा हो गये। कहीं ब्रह्मा के मध्य कपाल से रुद्र पैदा हो गये, कहीं भगवान् शंकर पहले और उनके दाहिने भाग से विष्णु, बायें भाग से ब्रह्मा पैदा हो गये। कहीं पंचमूर्त्ति हो गये। पुराणों की सृष्टि-प्रक्रिया को देखो तो भेद स्पष्ट हो जाता है क्योंकि पुराण उस सृष्टि-प्रक्रिया को बता रहा है जब पंचमहाभूत आदि बन चुके।

इसलिये अब जो विग्रह वाले ब्रह्मा विष्णु इत्यादि रूप दीख रहे हैं वे सब लीलाविग्रह हैं। लीला में भेद हो सकता है लेकिन जो सृष्टि का क्रम है—जब तक लीला-विग्रह नहीं बने तब तक का जो क्रम है—वह नहीं बदल सकता। पंचीकृत पंचमहाभूतों से ही स्थूल सृष्टि उत्पन्न होती है। अपंचीकृत पंचमहाभूतों के रजोगुण से ही प्राण बनते हैं। ऐसा नहीं कि कभी रजोगुण से तो कभी सत्त्वगुण से बना लो ! लीलाओं के अन्दर मनुष्य को नवीनता मिलती है, भेद मिलता रहता है तो मन सरलता से लग जाता है। परमेश्वर की लीला के श्रवण के फल से धीरे-धीरे जब हृदय में भक्तिकलम अर्थात् भक्तिरूप धान पुष्ट हो जाता है तब वह स्वयं ही बाकी सारे दोषों को नष्ट कर देता है।

सौवीर्य देश में एक शहर था जिसको आजकल जैसलमेर कहते हैं। 'सिन्धु सौवीर्य सौराष्ट्र' इत्यादि क्रम से गिनाये गये हैं जिनमें से सिन्धु तो अब पाकिस्तान में चला गया है, सौवीर्य पश्चिमी राजस्थान और सौराष्ट्र गुजरात में है। उस देश के अन्दर महर्षि उत्तंक रहा करते थे। वहाँ भगवान् शंकर का एक मन्दिर था। वहीं वे आराम से रहते थे और परमेश्वर के भजन में लगे रहते थे। महाभारत में भी उनकी कथा आई है। एक बार एक कणिक नाम का डाकू उस शहर से निकला। उसने देखा कि भगवान् शंकर के मन्दिर के शिखर के ऊपर बहुत सोने से मढ़ा हुआ कलश है। उसने विचार किया कि 'इस मन्दिर के ऊपर इतना सोना है तो इसके अन्दर और कितना धन होगा। मन्दिर है भी गाँव से बाहर इसलिये रात-बे-रात डाका डालेंगे तो बढ़िया काम बन जायेगा।' यह विचार कर वह वहाँ जाकर टिक गया। महर्षि उत्तंक महात्मा

थे ही, उसने उन्हें नमस्कार वगैरा करके कहा 'भगवन्! मैं यहीं निवास करना चाहता हूँ।' महात्मा बड़े खुश हो गये, कहा 'यह तो भगवान् शंकर का स्थान है, जो आओ सो रहो।' वह वहाँ टिक तो गया कि 'रात्रि में मन्दिर का दरवाजा तोड़कर काम बना लूँ और ऊपर का सामान भी उतारूँ।' लेकिन महर्षि तो सायंकाल के बाद से जो मन्दिर के अन्दर घुसे तो सवेरे तीन बजे तक निकले ही नहीं ! समाधि का उत्तम काल ही रात का होता है; जब संसारी लोग सोयें तब योगी अपना काम बनाता है। वह बाट देखता रहा कि अभी निकलेंगे, लेकिन रात भर बीत गई। महर्षि तो सवेरे तीन बजे ही बाहर आये। बाहर आकर नहा-धोकर फिर सवेरे की मंगल-आरती के लिये तैयार हो गये। उसने विचार किया कि कल फिर इनका यही क्रम रहेगा इसलिये दूसरे ढंग से काम करना पड़ेगा। इनको मारेंगे तब काम होगा, क्योंकि ये तो रोज़ रात्रि में ऐसा ही करते रहेंगे।

दिन में वहाँ रहा। दिन के समय लोग आया करते थे इसलिये महर्षि उत्तंक लोगों को कथाश्रवण कराते थे। वहाँ था तो उसे भी कथा सुननी ही पड़ी। उस दिन कथा के अन्दर यह प्रकरण आया कि चोरी करने वालों की किस प्रकार दुर्गति होती है। वह वर्णन जब उसने सुना तो बिल्कुल घबरा गया, घबराने से उसे बुखार चढ़ गया। बुखार चढ़ने पर महात्मा ने उसे बड़े प्रेम से औषधि इत्यादि दी। उसे वह बुखार तीन दिन तक रहा लेकिन प्रतिदिन उसे दिन में श्रवण करना ही पड़ता था। महर्षि के द्वारा कही हुई कथा को जबर्दस्ती सुनना पड़ा क्योंकि टिका ही वहाँ था। महात्मा का तो काम ही था दिन भर भगवान् के ही गुणानुवाद

करना। उसके हृदय में पश्चात्ताप की बड़ी भयंकर अग्नि जली कि 'मैं तो बड़े ग़लत रास्ते था।' बिना इच्छा के भी यदि भगवान् की लीला का श्रवण करता है तो कोई न कोई चीज़ ऐसी है जो मन में जग जाती है। उसने भी बलात् सुना था; अपनी इच्छा से नहीं गया था क्योंकि वह तो चोरी करने गया हुआ था। सुनकर पहले उसे भय हुआ फिर और सुनने पर उसके हृदय में पश्चात्ताप हुआ। शास्त्र कहता है कि पश्चात्ताप से बड़ी और कोई चीज मनुष्य के पाप को शुद्ध करने वाली नहीं है। होना चाहिये सच्चा पश्चात्ताप; जिस काम को कर लिया उसके करने के पश्चात् ताप अर्थात् अत्यधिक कष्ट की प्रतीति। यह तो घबराकर ज्वरार्त्त ही हो गया था। जितना श्रवण करता गया उतना ही उसके मन में दृढ होता गया कि 'मैंने बड़ी गलती की, अब ऐसी गलती कभी नहीं करूँगा।'

तीसरे दिन कुछ ज्वर भी शांत हुआ। पहले तो मनुष्य को दुःख होता है कि 'मैंने गलत काम किया', लेकिन साथ ही परमेश्वर की लीला में उनकी करुणा भी सामने आती है। जैसे पापी को दण्ड की कथा आती है वैसे ही उसके ऊपर करुणा की भी कथा आती है। पहले-पहल मनुष्य डरता है लेकिन बाद में कुछ आश्वस्त होता है। ज़रा आश्वस्त होने से और औषधि के विनियोग से उसका ज्वर कुछ कम हुआ। महर्षि के चरणों में गिरकर कहने लगा 'मैं ऐसे-ऐसे पापों से त्रस्त हूँ। जीवन में न जाने कितने लोगों का वध किया, यही मेरा पेशा था। मेरी क्या गति होगी ? मैंने तो आपके ऊपर ही वार करने की ठान ली थी।' यह बात सुनी तो महर्षि ने बड़े प्रेम से उसे गले लगाया और कहा 'जब तेरे हृदय

में पश्चात्ताप उत्पन्न हो गया तब वह सब गया हुआ ही समझो जो तूने किया था।' जैसा भगवान् ने कहा है–

'अपि चेत्सुदुराचारः भजते माम् अनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।'

भगवान् ने यह नहीं कहा कि यह साधु पुरुष *हो जायेगा*। चाहे जितना बड़े से बड़ा दुराचारी हो, उसने यदि एक बार सम्यक् रूप से निश्चय कर लिया कि 'अब मुझे उस रास्ते नहीं जाना है और अब मुझे भगवान् के रास्ते जाना है' तो कहते हैं कि उसी क्षण से उसे साधु पुरुष समझना। वह आगे जाकर भला आदमी बनेगा–यह भगवान् ने नहीं कहा। उसी समय वह भला आदमी हो गया। यही तो परमेश्वर की करुणा है। महर्षि ने कहा कि तुम्हारे हृदय में पश्चात्ताप पैदा हुआ और पश्चात्ताप पैदा होने के बाद तुमने उसे स्वीकार भी किया।

कई बार मनुष्य अपनी ग़लती समझता है और उसके हृदय में पश्चात्ताप भी होता है कि 'मैंने गलती की' लेकिन अहम् इतना दृढ है, अहम् इतना कड़ा है कि पश्चात्ताप होने पर भी 'मैं ग़लत हूँ' इसे स्वीकार नहीं करना चाहता। हज़ारों कारण सोचेगा– वातावरण ऐसा था इसलिये वैसा हो गया, परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि ऐसा हो गया, गलत संग में पड़ गया इसलिये हो गया। हमेशा कोई-न-कोई कारण ढूँढेगा लेकिन इस बात को स्वीकार नहीं करेगा कि ग़लती मैंने की। किसी से कहें तो वह मानता है कि टैक्स की चोरी करना बुरा है लेकिन साथ ही जोड़ देता है कि सरकार ने भी तो ऐसे कानून बना रखे हैं। यह ज़िद अहम् कहलाती है। किसी ब्राह्मण से पूछो कि 'तुम वेदस्वाध्याय क्यों नहीं करते, ब्राह्मण

का तो कर्त्तव्य ही वेदाध्ययन करना है ?' तो वह कहता है 'अरे जी ! आजकल कोई यजमान थोड़े ही मानता है !' 'मैं अपने कर्त्तव्य से च्युत हुआ' यह नहीं कहना चाहता है। अहम् हमेशा कारणांतर देखना चाहता है। इसी प्रकार आजकल एक सिद्धांत ही लोगों ने बना लिया है : एक मार्क्स साहब हुए हैं जिनका सिद्धांत ही यह है कि जितने पाप हैं वे सब सामाजिक वातावरण के कारण बनते हैं। वे मनुष्य को स्वीकार ही करने नहीं देते कि 'मैं ग़लत हूँ।' इसलिये पहले तो पश्चात्ताप ही कठिन है और यथाकथंचित् पश्चात्ताप हो जाता है तो पाप की स्वीकृति नहीं होती, दूसरे के सामने उसको स्वीकार करने में उसके अहम् को झटका लगता है। इसीलिये भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि पाप की स्वीकृति पाप-निवृत्ति का बहुत बड़ा साधन है क्योंकि जब किसी के सामने तुम अपने पाप को स्वीकार करते हो तो तुम्हारा अहम् कुछ कम होता है। 'मैं' ही तो बंधन का कारण है, उसमें झटका लगता है। और जिसके प्रति अपराध किया है यदि उसके सामने स्वीकार करो तब तो वह पाप ख़तम हो गया। किसी के भी सामने पाप को स्वीकार करने से पाप कम हो जाता है और जिसके प्रति किया है वहाँ स्वीकार कर लिया तो काम हो गया।

यही उस डाकू ने किया, उन्हीं के यहाँ चोरी करने आया था और उन्हीं से कहा कि ऐसी-ऐसी बात थी। महर्षि ने उसे बड़े प्रेम से गले लगाकर कहा कि 'तुझ में तो पश्चात्ताप, पाप-स्वीकृति सारे ही गुण आ गये। अब पाप कहाँ रह गया ? वह तो नष्ट हो गया। अब यहाँ आनंद से 'ॐ नमः शिवाय' का जप करते हुए रहो।' वहाँ वह नियम से जप भी करने लगा, भगवान् के पूजन

में भी लगा रहा। झटका उसे बड़े ज़ोर का लगा ही था इसलिये थोड़े ही दिनों में मर गया। मरने पर उसे यमलोक ले जाया गया। यमलोक में ले जाने के बाद चित्रगुप्त ने तुरंत कह दिया कि 'इसे तो नरक ले जाओ इस पर कोई ज़्यादा विचार नहीं करना है।' लेकिन महाराज यम उसे देखते ही उसके चरित्र को समझ गये। उन्होंने चित्रगुप्त से कहा कि 'तुम्हारा खाता अब काम नहीं कर सकता। इसको ब्राह्मणकुल में पैदा करो, यह तो आगे मुक्त होने वाला है।' चित्रगुप्त ने पूछा कि 'ऐसी क्या बात हो गई?' उन्होंने कहा कि 'तुमने इसके अंतिम चरित्र की तरफ ध्यान नहीं दिया। इसने भगवान् के गुणगणों को प्रेमपूर्वक श्रवण किया है।'

परमेश्वर के गुणगणों का श्रवण करना ज्ञानयज्ञ है। परमेश्वर की लीला का चिंतन करना ही ज्ञान यज्ञ हो जाता है। यह भुक्ति-मुक्ति दोनों देने वाला हो जाता है 'शोधनं सर्वपापानां शिवं संतोषकारणम्।' यह सारे पापों से हटाकर भगवान् शंकर में जीव के प्रति संतोष पैदा करता है कि अब यह ठीक हो गया। यम ने कहा कि कलियुग के अन्दर अपने वर्णाश्रम धर्मों को जिन्होंने छोड़ रखा है वे भी ज्ञानयज्ञ से कल्याण पा सकते हैं। कलियुग में अधिकतर लोग होते ही ऐसे हैं। कहाँ वर्णाश्रम धर्म के प्रति दृढता रहती है! कलियुग में दो ही विशेषतायें हैं—अपने वर्णाश्रम धर्म के प्रति निष्ठा का अभाव और दूसरे के धर्म में रुचि। ब्राह्मण को बाकी सब अच्छे लगेंगे लेकिन ब्राह्मणत्व ही अच्छा नहीं लगेगा। दूसरों को ब्राह्मणत्व ही अच्छा लगेगा। यह विचित्र स्थिति है। दूसरे कहते हैं कि 'हम पुरोहित क्यों नहीं बन सकते?' उनका आग्रह है कि हम यदि पढ़ जायें और यज्ञ करने वाले बन जायें तो क्यों

नहीं कर सकते। उनकी बात सुनकर लगता है कि अच्छा पेशा है, बनना चाहिये। ब्राह्मण कहते हैं कि 'हम यह पूजा-पाठ छोड़ क्यों नहीं सकते, हम दुकानदारी क्यों नहीं कर सकते ?' यही सब वर्णाश्रम धर्मों में देख लेना; प्रत्येक को अपना वर्ण-धर्म पसंद नहीं आता और दूसरे का वर्ण-धर्म पसंद आता है। यह नहीं कि वह अच्छा या बुरा है; क्योंकि बुरा हो तो किसी को पसंद ही न आये। यही आश्रमधर्म की बात है। ब्रह्मचारी का काम पढ़ना है। वह कहता है कि 'मैं राजनीति क्यों नहीं करूँ?' और जिनको राजनीति करनी चाहिये उन गृहस्थों को कहते हैं कि 'राजनीति में रुचि लेना, नहीं तो नेताओं से ग़लत काम हो जाते हैं, उन पर दबाव नहीं रहता।' वे कहते हैं 'कौन माथाफोड़ी करे ?' जिनका वह काम नहीं वे कहते हैं कि ज़रूर करना है। इसी प्रकार वानप्रस्थ, संन्यासी सब जगह समझना। ज्ञान प्राप्त करना संन्यासी का काम है। लोग कहते हैं कि संन्यासी लोग बाकी समाज का काम क्यों नहीं करते? समाज का काम करना गृहस्थ का कार्य है। वह कहता है—'मैं ज्ञान का उपदेश क्यों नहीं कर सकता, मैं जनक की तरह ज्ञानी क्यों नहीं बन सकता, कृष्ण गीता सुनाते थे तो मैं क्यों नहीं सुना सकता ?' सर्वत्र अपने-अपने वर्ण आश्रम पर निष्ठा नहीं और दूसरे सब अच्छे लगते हैं। इसी का नाम मात्सर्य है। एक दूसरे के प्रति मात्सर्य का भाव बना रहता है। ऐसे लोग भी भगवान् की लीलाओं का श्रवण करने से पवित्र हो जाते हैं।

इसलिये यमराज ने कहा 'इसने परमेश्वर के गुणों का श्रवण किया है, शिवकथा का श्रवण किया है। जो भी इसका पिछला काम है वह फल नहीं दे सकता।' यही परमेश्वर का करुण-भाव

है। किया हुआ कर्म बिना ज्ञान के नष्ट नहीं होता है। भगवान् क्या करते हैं? जो परमात्माभिमुखीभूत होता है उसके उन कर्मों को पहले फलीभूत कर देते हैं जिनसे वह व्यक्ति सन्मार्गी, विवेकी बनकर ज्ञान पा ले। ज्ञान से फिर सारे कर्म नष्ट हो जायेंगे तो वह दुःख भोगने से बच जायेगा। कर्म का फल तो भोगना हुआ लेकिन ज्ञान हो जाने पर तो कर्म समाप्त हो जायेंगे। ज्ञान के अनुकूल फल देने वाले कर्म ही प्रथम फलोन्मुख हों, यही उनकी करुणा है। यह बात सुनकर चित्रगुप्त भी समझ गये। वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ, तपस्या करते हुए ज्ञान प्राप्त करके उसने मुक्ति को प्राप्त किया।

इसलिये कहा कि परमेश्वर के जो लीलाविग्रह हैं, उन चरित्रों को जब इस प्रकार सुनता है तब उसके द्वारा इन सारी चीजों को समझकर उसके हृदय में आनंद का आविर्भाव हो जाता है।

प्रवचन—१६

सृष्टि के पूर्व उस अवस्था का निरूपण कर रहे हैं जब तक द्रष्टा एवं दृश्य, जगत् और जीवभाव व्यक्त नहीं हुआ था, स्फुट नहीं हुआ था, प्रकट नहीं हुआ था। जीव का तात्पर्य बताया कि जिसमें परमात्मा का सत् और चिद् रूप तो अभिव्यक्त हो, आनंद और अनंत रूप अभिव्यक्त होने की योग्यता हो लेकिन अभिव्यक्त न हो। इस अभिव्यक्त होने की योग्यता को कैसे प्रकट किया जाये—इसके साधनों पर विचार करते हुए देखा कि अतिसूक्ष्म रूप से शुद्धान्तःकरण में परमात्मा के प्रतिबिम्ब का दर्शन, परमात्मा के गुणगणों का चिंतन करते हुए उनको अपने अंतःकरण में प्रतिबिम्बित करना, स्थूल देह आदि के द्वारा परमात्मा-प्रसन्नता के लिये प्रवृत्ति करना तथा परमेश्वर के लीला-विग्रहों का, लीलाओं का चिंतन करना—ये उपयोगी हैं।

अगला साधन बताते हैं 'स्वरनेत्रांगविक्रियाः।' परमेश्वर के लीलाविग्रहों का चिंतन करने में भी संसार के पदार्थों का आकर्षण प्रतिबंधक हो जाता है। लीला के चिंतन में भिन्न-भिन्न प्रकार की लीलाओं का परिवर्तन होता है इसलिये नवीनता बनी रहती

है। इतना ही नहीं, लीला के अन्दर हम लोगों की क्रियाओं से साम्य होने के कारण चित्त लगने की सम्भावना अधिक होती है। लेकिन अनेक बार संसार की अन्य चीज़ों के आकर्षण से लीलानुराग दब जाता है। उसको रोकने के लिये बार-बार चित्त में शरीर के स्वरूप का जो अंतिम परिणाम है उसको आगे लाना आवश्यक होता है। जितना-जितना शरीर के अंतिम परिणाम की तरफ दृष्टि जायेगी उतना-उतना अवान्तर पदार्थों की प्राप्ति से चित्त निवृत्त होगा। प्रवृत्ति का स्वाभाविक कारण राग है। किसी भी चीज़ के प्रति सुखबुद्धि ही प्रवृत्त करती है। जैसे प्रवृत्ति का कारण राग, वैसे ही निवृत्ति का कारण द्वेष है। एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक; दोनों साथ-साथ समझते जाना। राग का कारण है विषय में सुखबुद्धि। सुखबुद्धि का कारण है उस चीज़ के भोग के अव्यवहित उत्तरक्षण में किसी समय सुख अनुभव होना। हमारे मन में रसगुल्ला खाने की इच्छा होती है, बंगाली मार्कीट से रसगुल्ले लाने का मन करता है। प्रवृत्ति करता है : सिविल लाइन्स में बैठे हुए हो, सारा शहर पार कर ठेठ नई दिल्ली के बंगाली मार्कीट में जाना चाहते हो। इस प्रवृत्ति का कारण रसगुल्ले के प्रति राग ही है। जिसको रसगुल्ले के प्रति राग नहीं होगा उसकी उधर प्रवृत्ति नहीं होगी। *प्रवृत्ति* इसलिये कह रहे हैं कि तुम भोजन करने बैठे और किसी ने तुम्हें रसगुल्ला परोस दिया। यहाँ तुम्हारी प्रवृत्ति रसगुल्ले के लिये नहीं है। प्रायः हम शब्दों के वास्तविक रहस्य को नहीं समझते। किसी चीज़ को लेना प्रवृत्ति समझते हो तो कोई कुछ भी ले रहा हो, उसमें तद्विषयक राग मान लेते हो; यह राग नहीं है। थाली पर खाने बैठे हो उस समय

भोजन में राग है, रसगुल्ला या दालभात में राग नहीं है। जो भी सामने है वह खा रहे हो। यहाँ राग पेट भरने को लेकर है, तत्तद् पदार्थों को लेकर नहीं। लेकिन यहाँ से चलकर ठेठ बंगाली मार्कीट रसगुल्ला खरीदने जाते हो—यह रसगुल्ले में राग है। प्रवृत्ति हुई; यहाँ से मोटर में या बस में बैठना, टिकट लेना, गर्मी में जाना, धक्के खाना, वहाँ पहुँचना, लाइन में खड़े होकर खरीदना, फिर सिकोरे को सम्भालकर लाना कि कहीं फूट न जाये—इन सब क्रियाओं का नाम प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति का कारण तद्विषयक राग है।

राग का कारण क्या है? रसगुल्ले में राग क्यों हुआ? किसी समय तुमने बंगाली मार्कीट का रसगुल्ला खाया और उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में तुम्हें सुख का अनुभव हुआ। कारण-कार्य कभी दीखता नहीं है। यह चीज़ कार्य है, यह चीज़ कारण है—यह प्रत्यक्ष से कभी नहीं दीखता। अंतःकरण के अन्दर सोचने का प्रकार यह है कि किसी भी घटना के ठीक पूर्व की घटना को कारण मान लेना। अव्यवहित का मतलब होता है बीच में कोई और घटना या व्यवधान न हुआ हो। सुख होने के अव्यवहित पूर्व क्षण में तुमने रसगुल्ला खाया था। रसगुल्ला खाया उसके ठीक बाद में सुख का अनुभव हुआ। अंतःकरण यह मान लेता है कि 'रसगुल्ला खाने से सुख हुआ।' जैसे देश व काल कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं वैसे ही कार्यकारणभाव कहीं है नहीं, यह तो मन के सोचने का प्रकार है कि 'जो पहले होता है वह कारण हुआ करता है'। आगे कोई पूछे कि कारण और कार्य का सम्बन्ध क्यों माना जाता है ? उसका कुछ उत्तर नहीं है। न वह प्रत्यक्ष से,

न अनुमान से और न शब्द से सिद्ध है। यह केवल एक मान्यता है। राग के प्रति कारण हुआ उस पदार्थ की सुख के प्रति कारणता का भाव होना जिससे लगता है 'वह पदार्थ अच्छा है।' शास्त्रीय भाषा में इसको कहते हैं कि शोभनता का अध्यास हो गया। राग के प्रति कारण यही शोभनाध्यास है। 'यह चीज़ अच्छी है, सुख देने वाली है'—यह प्रतीति ही राग का कारण है।

यह चाहे अव्यवहित पूर्वक्षण के अनुभव से हो, किसी दूसरे के कथन से हो, चाहे मन की कल्पना से हो। दूसरे के कथन से होती है—यह तो आप लोगों में बहुत से व्यापारी जानते ही हैं। अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार हज़ारों-लाखों रुपये विज्ञापनों में खर्च करते हो क्योंकि यह जानते हो कि इसको बाँचकर लोग उसमें राग करके प्रवृत्ति कर लेंगे। इसे देख-पढ़कर विज्ञापित वस्तुओं में शोभनाध्यास वाले हो जायेंगे—यह मानते हैं। इसी प्रकार यदि किसी चीज़ में अशोभन अध्यास हो गया अर्थात् 'यह चीज़ दुःख का कारण है' ऐसी प्रतीति हो गई, तो उससे निवृत्ति हो जायेगी। अब यदि तुम इतना प्रयत्न करके बंगाली मार्कीट से रसगुल्ले लेकर आये, थाली में खाने के लिये रखने ही जा रहे थे कि दूरभाष आ गया जिससे तुम्हें पता लगा कि कल बंगाली मार्कीट के अन्दर भयानक काण्ड हो गया। वहाँ से लोगों ने रसगुल्ले खाये थे, उनमें से ढाई सौ आदमी तो अस्पताल में बीमार पड़े हैं और बीस की हालत नाजुक है। पूछा—'क्या हो गया ?' 'पता नहीं, लेकिन सुनने में आता है कि पुराना पनीर काम में ले लिया इसलिये उसमें जहर हो गया था।' अब क्या उस थाली में रखे हुए रसगुल्ले को खाने में प्रवृत्ति होगी ? एक बार हम अनुभव

कर चुके हैं। दीवाली के दिन कोई व्यक्ति मिठाई देकर गया। उसे खाने से पहले ही किसी दूसरे ने आकर कहा कि 'अमुक जगह की मिठाई हो तो मत खाना क्योंकि वहाँ तो छापा पड़ गया है। उन्होंने महीने भर पहले ही खोवा खरीदकर रख लिया था। इसलिये उसको मत खाना।' अब वह आई हुई मिठाई भी खाने लायक नहीं रह गई। अर्थात् यदि कोई प्रबल दुःख की हेतुता समझ में आ जाये तो राग प्रतिबद्ध हो जाता है। प्रवृत्ति के प्रति कारण राग, राग के प्रति कारण शोभनाध्यास और शोभनाध्यास को रोका जा सकता है प्रबल दुःख की कारणता के ज्ञान से।

ठीक इसी प्रकार संसार के पदार्थों के प्रति मन जाता है राग के कारण, उस राग का कारण शोभनाध्यास है, शोभनाध्यास को यदि रोकना है तो प्रबल दुःखकारणता सामने लानी पड़ेगी। यदि प्रबलतर दुःखकारणता सामने आ गई तो वह राग को रोक लेगी। सबसे प्रबलतर दुःख का कारण मृत्यु है। इससे बड़ा और कोई दुःख नहीं है क्योंकि बाकी जितने दुःख हैं वे सारे चरम परिणति को मृत्यु के काल में प्राप्त कर जाते हैं। कहोगे कि धननाश से दुःख होता है। चाहे जितना धननाश तुम्हारा हो जाये, शरीर की लंगोटी तो बच ही जायेगी ! लेकिन मरकर तो वह भी नहीं बचेगी। इसलिये मृत्यु का मतलब है शतप्रतिशत धननाश। कहोगे पुत्र के मरने से दुःख होता है, उसका वियोग कष्टकारी है। एक पुत्र का वियोग होगा तो दूसरा पुत्र हो जायेगा, एक पुत्र का वियोग होगा तो पुत्री हो जायेगी, पत्नी होगी, भाई होंगे। लेकिन मृत्यु के काल में तो पुत्र, सम्बन्धी, बन्धु इत्यादि सबका वियोग एक ही साथ हो जाता है। शरीर के किसी न किसी अंग में बीमारी हुआ करती

है। एक अंग, दो अंग या चार अंगों में हों, कुछ अंगों में ही बीमारी होते हुए भी कुछ अन्य अंग तो बिना बीमारी के बने ही रहेंगे; लेकिन मृत्यु काल में सर्वांग बीमार हो गया ! उसके बाद एक भी अंग स्वस्थ नहीं बना रहेगा। इसलिये यदि रोग की दृष्टि से देखो तो पूर्ण रोग मृत्यु का काल है। शास्त्रकार कहते हैं कि मृत्यु की तरफ जब ध्यान करते हो तो बड़े से बड़ा सुख प्रतिबद्ध हो जाता है।

एक महात्मा थे। उनके पास एक बार एक राजा आया। राजा महाभोगी था। भोग करते-करते बुड्ढा हो गया। भोगों का नियम है 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः' हम लोग समझते हैं कि हम भोग रहे हैं लेकिन भोग हमको भोगे जा रहा है ! आज से बीस साल पहले भी बंगाली मार्कीट का रसगुल्ला था, दस साल पहले भी था और आज भी है। भोग कम नहीं हुआ लेकिन तब हम पचास रसगुल्ले खा लेते थे, दस साल पहले पच्चीस खा लेते थे और अब पाँच खाने पर ही गला बंद हो जाता है, आगे माल नहीं चलता। इसका मतलब यह नहीं कि वहाँ रसगुल्ले बनने कम हो गये। *हम* रसगुल्ले के द्वारा भोग लिये गये, रसगुल्ले तो वैसे के वैसे बने रह गये। इसी प्रकार सब भोगों में समझ लेना। आदमी रात-रात भर बैठकर ताश, शतरंज, चौपड़ खेल लेता है। वे ताश, शतरंज ऐसे ही बने रहते हैं लेकिन अपने को दस बजे से ही झोंके आने लग जाते हैं। यह नहीं कि वे पत्ते आदि बंद हो गये, वे तो वहाँ ही हैं, वहाँ नये लोग पहुँचने लग गये। सभी भोगों में नियम है कि *हम* भोगों के द्वारा भोगे जाते हैं। राजा महाभोगी था लेकिन भोग उसे चट कर गये। कुछ समय तक डाक्टरों की दवाई, हकीमों

की दवाई, सब लेता रहा। धीरे-धीरे उन दवाइयों से भी शरीर की भोगसामर्थ्य नहीं रह गई। जब व्यक्ति को दवाइयों से लाभ नहीं होता तब वह महात्माओं को ढूँढता है ! सोचता है इनके पास कोई दिव्य संजीवनी शक्ति होगी जो हमारी जवानी को वापिस ले आये। वह राजा भी महात्माओं के पास जाने लगा। लेकिन शरीर में जब तक शक्ति है तभी तक औषधि लाभकारी होती है। शरीर की शक्ति को औषधि *लाती* नहीं। यह बहुत लोगों को भ्रम है। किसी भी अच्छे डाक्टर से पूछो तो वह बतायेगा कि शरीर के घाव को कोई औषधि से नहीं भर सकता। शरीर के घाव में किसी प्रकार दूसरे कीटाणु आकर उसके भरने में रुकावट न बनें इतना दवा से कर सकते हैं। घाव होकर यदि अवयव अत्यंत दूर हैं तो सीकर उन्हें पास ला सकते हैं जिससे थोड़ा ही भरने से घाव भर जाये। इस प्रकार घाव भरने के प्रतिबंधक को हटाने में ही दवाई चरितार्थ है। किसी भी दवाई से घाव नहीं भरता, वह तो शरीर की अपनी शक्ति से ही भरेगा। कहोगे 'हम डाक्टर नहीं हैं, हम कैसे इस बात को समझेंगे ? हमें तो लगता है कि दवाई से ही भरता होगा।' एक बहुत सीधा-सा प्रयोग कर लेना, मन से ही कर लेना और कुछ न करो तो ! बढ़िया से बढ़िया दवाई घाव भरने की लाना और एक मुर्दे को अच्छी तरह से लगाकर सी देना, जितने महीने चाहो लगाते रहना। यदि दवाई घाव भरती तो उसका भी भर देती ! इसलिये घाव भरने वाली चीज़ तो शरीर की अपनी जीवनी शक्ति है। दवाई केवल प्रतिबंधक को दूर करती है। जैसे घाव भरने में वैसे ही शरीर के सारे अंगों में है; किसी भी दवाई से रोग ठीक नहीं होता। रोग के कारण दूर कर दिये

जाते हैं और वह प्रतिबंधक या रुकावट दूर कर दी जाती है जिससे शरीर अपनी जीवनी शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता। लेकिन अंततोगत्वा शरीर की अपनी सामर्थ्य, अपनी शक्ति ही रोग का निवर्त्तक है। लेकिन मनुष्य को भ्रम बना रहता है कि औषधि से रोग निवृत्त होता है। राजा भी इसीलिये सब जगह जाता था कि मेरी भोगशक्ति वापिस आ जाये लेकिन कहाँ से आनी थी?

घूमते-घूमते उस महात्मा के पास पहुँचा। राजा महात्मा के बारे में जानता था लेकिन पहले कभी गया नहीं क्योंकि वह जानता था कि वे विरक्त वीतराग महात्मा हैं। कुछ दिन जाता रहा, फिर एक बार उसने अपना भाव प्रकट किया। पहले-पहल कोई अपना भाव महात्माओं के सामने प्रकट नहीं करता। यह हमने कई बार प्रयोग करके देख लिया। जब पहले-पहल कोई आता है तो कहता है कि 'भगवान् के चरणों में भक्ति हो, ज्ञान दें, संसार तो बिल्कुल झूठा है इसमें कुछ नहीं रखा।' पहले तो हम समझते थे कि यह बड़ा अच्छा साधक आया है, बड़ी प्रसन्नता होती थी। लेकिन संसार के सारे साधनों का वर्णन और अहैतुकी भक्ति परमेश्वर के चरणों में माँग कर कहते हैं 'महाराज! लड़के की नौकरी नहीं लग रही है, कब लगेगी ?' हमने समझ लिया कि हो गई अहैतुकी भक्ति! फिर पता लगा कि यह तो भूमिका होती है कृपा माँगने की। राजा भी कुछ समय जाता रहा। एक दिन देखा कि महात्मा कुछ प्रसन्न हैं। कहने लगा 'मेरी भोगाभिलाषा निवृत्त नहीं हुई, शरीर बेकार हो गया, आप सिद्ध महापुरुष हैं, आशीर्वाद दें तो मेरा काम हो जायेगा।'

महात्मा ने विचार किया कि अपने देश का राजा है, आया

है तो इसको बेकार नहीं भेजना चाहिये। महात्मा सिद्ध थे, अंदर से भस्मी ले आये और उसे एक पुड़िया बनाकर दी। कहा 'इस भस्म का सेवन तू मलाई के साथ कर लेना, सायंकाल के समय तेरे में भोगशक्ति आ जायेगी।' राजा ने ऐसा ही किया। उस दिन उसने अनुभव किया कि उसके अन्दर युवावस्था की सामर्थ्य आ गई। बड़ा प्रसन्न हुआ कि सिद्ध महात्मा तो मुझे आज ही मिला। दूसरे दिन फिर पहुँच गया। महात्मा ने पूछा 'कैसी रही?' कहा 'आपकी दवाई का तो क्या बताऊँ ! ऐसा काम करने वाली औषधि तो मैंने कभी देखी ही नहीं। उसी की कुछ और पुड़िया दीजिये।' महात्मा ने कहा 'तुझे आज दो पुड़िया दूँगा। लेकिन आज रात तुझे जितना कुछ खाना पीना, भोग करना हो कर लेना, क्योंकि कल सवेरे पाँच बजे तेरा शरीर छूट जायेगा, तेरा मृत्यु काल आ गया। इसलिये जितना भोग भोगना हो भोग लेना।' उसके सामने ही महात्मा ने एक बहुत बड़ा पूड़ा भर लिया और मलाई तो उनके पास थी ही, वह सारा उसके साथ खा गये। राजा लेकर गया, औषधि तो ले ली लेकिन सब समय यही विचार आता रहा कि सवेरे मर जाना है। खाने बैठा तो दाल का सीरा भी फीका लगे, दही भल्ले को लेकर मुँह में डाला तो वह भी बेकार लगा। बार-बार यही चिंतन चले कि 'मर जाना है।' इससे उसकी भोगाभिलाषा प्रतिबद्ध हो गई।

सवेरे तीन-साढ़े तीन बजे ही वापिस महात्मा के पास पहुँच गया। बड़े जोर से दरवाज़ा भड़भड़ाया। पूछा—'कौन है?' कहा—'मैं राजा हूँ।' महात्मा ने कहा 'आज सवेरे ही कैसे आ गया?' कहने लगा—'साढ़े तीन बज गये।' 'अभी तो तेरे पास

डेढ़ घंटा और है ?' राजा ने कहा—'अब तो कोई उपाय बताओ जिससे मृत्यु से बचूँ।' महात्मा ने कहा 'यह शिव मन्दिर है, यहाँ बैठ जा और मृत्युंजय का जप कर। भगवान् शंकर की पिण्डी से हाथ नहीं हटाना, शायद बच जाये।' बैठ गया, ऐसे समय चित्तवृत्ति तो एकाग्र होने ही हुई। पाँच बज गये, छः बज गये। तब महात्मा ने जाकर कहा—'राजन् ! समय तो तेरा टल गया, भगवान् ने तेरी रक्षा कर ली।' अब राजा के जी में जी आया। महात्मा ने कहा 'अब स्नान इत्यादि करके दूध वगैरा पी ले', क्योंकि पहली रात और दिन को कुछ खाया ही नहीं था। राजा नहाया-धोया, दूध पीते हुए कहने लगा 'आपने जो कल इतनी अधिक औषधि खाई थी उससे क्या हुआ ?' महात्मा ने कहा 'पहले तू बता कि तेरा क्या हुआ।' कहने लगा 'मुझे तो मृत्यु नज़र आ रही थी। किसी भी भोग के प्रति कोई प्रवृत्ति नहीं रह गई थी। आपने दवाई तो दो खुराक दी थी लेकिन मन से प्रवृत्ति ही नहीं होती थी।' महात्मा हँसकर कहने लगे कि 'तेरे पास तो पाँच बजे तक का समय था, मैंने तो तुझे पूरे बीस घंटे का समय बताया था, इतनी बड़ी सांत्वना तुझे दी थी। लेकिन मुझे तो यह भी पता नहीं कि गया हुआ श्वास भी वापिस आयेगा या नहीं। 'निःश्वासे न हि विश्वासो कदा रुद्धो भविष्यति' बाहर गई हुई साँस भी एक क्षण बाद वापिस आयेगी या नहीं मुझे पता नहीं है। इसलिये इतना क्या, अगर पूरा मुट्ठा भी भरकर खा लूँ तो उस दवाई का मेरे ऊपर क्या असर होना है।'

महात्मा ने कहा—'राजन् ! एक बात है; इस बार तो तेरी मृत्यु टल गई है, वह समय तो टल गया, लेकिन एक बार यमराज

वापिस जाते हैं तो फिर बार-बार वापिस आते ही रहते हैं। अब की बार अगर मृत्यु ने दबाया तो मेरी गारंटी नहीं कि बचेगा।' राजा ने कहा—'मैं नहीं जानता कि क्या करूँ ?' महात्मा ने कहा—'यही उपाय है कि तू शिव का ध्यान करता रहेगा तो यमराज तुझे उस काल में नहीं पकड़ेगा।' राजा निरंतर शिवचिंतन में लगा रहा, स्वाभाविक है। चित्तवृत्ति एकाग्र होती चली गई, अंतःकरण थोड़े समय में शुद्ध हो गया, उसको भगवान् के दर्शन भी हो गये। एक दिन महात्मा से कहने लगा कि 'आपने मुझे जो मृत्यु की बात कही वह तो ग़लत ही निकली।' महात्मा हँस पड़े, कहने लगे कि 'अगर यह मृत्यु का उपदेश तुझे न देता तो तेरी भोगाभिलाषा कहाँ हटती ? इसलिये उपाय ही यह था।' राजा भी समझ गया कि महात्मा ने ठीक ही किया। मृत्यु का चिंतन मनुष्य के सब भोगों का प्रतिबंधक हो जाता है। मृत्यु का चिंतन करते-करते मनुष्य के गले के अन्दर भी रुद्ध भाव आने लगता है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि किस प्रकार से मृत्यु का चिंतन करे—

'यदा कर्णरन्ध्रं व्रजेत् कालवाह-
द्विषत्कण्ठघण्टाघणात्कारनादः।
वृषाधीशमारुह्य देवौपवाह्यं
तदा वत्स मा भीरिति प्रीणय त्वम्।।'

चिंतन का तरीका बताते हैं : जिस काल में कालवाह अर्थात् यमराज अपने भैंसे के ऊपर बैठकर आयेगा तो उसके गले में भी घंटी लटकी हुई होगी। प्रायः पशु के गले में पड़ी हुई घंटी की आवाज़ प्रिय लगती है लेकिन यमराज के भैंसे की घंटी की आवाज़

प्रिय नहीं लगती इसलिये उससे द्वेष होता है। उसकी आवाज़ को कान से सुनने का प्रयत्न करो। यह ध्यान करने का तरीका है: यमराज भैंसे के ऊपर बैठे हुए आ रहे हैं, उनके भैंसे के गले की घंटी आवाज़ कर रही है। दूसरी तरफ वृष के ऊपर बैठकर भगवान् शंकर आ रहे हैं, देवगणों की उपस्थिति है और वे ज़ोर से यह कह रहे हैं– 'हे वत्स! भय मत कर, मैं तुझे बचाने को आ रहा हूँ।' जब इस प्रकार ध्यान करोगे तो देखोगे कि धीरे-धीरे वृत्ति भोग से हटकर भगवान् की ओर जाने लगेगी। यह घृणात्कार केवल अपने को ही सुनाई देता हो ऐसा नहीं। जब जाने लगते हैं तो पास वालों को भी सुनाई देता है। कभी किसी मरने वाले के पास बैठे होगे तो देखा होगा कि किस प्रकार से उसके शरीर से कंठ आदि के अवरोध से ठीक इसी प्रकार की आवाज़ आने लगती है। दूसरा ध्यान का प्रकार बताते हैं –

'यदा दुर्निवारव्यथोऽहं शयानो
लुठन्निःश्वसन्निःसृताऽव्यक्तवाणिः।
तदा जह्नुकन्याजलालंकृतं ते
जटामण्डलं मन्मनोमन्दिरं स्यात्।।'

जिस काल में किसी दुर्निर्वार व्यथा में पड़ा हुआ हूँ, ऐसे कष्ट में हूँ जिसे हटाने का कोई उपाय नहीं रह गया। अंत में चिकित्सक वैद्य सब कह देते हैं कि 'अब तो रोग दुर्निर्वार है।' हिन्दु होता है तो कहते हैं कि 'अब तुलसी चरणामृत दो', ईसाई होता है तो कहते हैं last confession करवा दो, और नाास्तिक होता है तो कहते हैं कि इसे अपना पुत्र देखने की इच्छा है, वह दिखा दो ! हर हालत में कहते हैं कि अब दवाई कोई नहीं है। तब जीव

असह्य कष्ट में पड़ा होता है। कोई उस दुर्निर्वार अवस्था में स्तब्ध होकर लोट जाता है अथवा पीडा के मारे लोटने लगता है, कोई जोर-जोर से साँस छोड़ने लगता है। उस समय वह जो वाणी बोलना चाहता है वह अव्यक्त होकर निकलने लगती है, जो कुछ कहना चाहता है वह दूसरे को कह नहीं पाता, प्रयत्न करता है लेकिन कह नहीं पाता। धन वाला प्रयत्न करता है कि 'बता जाऊँ और किस-किस से रुपया आना है, जो आज तक इन्हें बता नहीं रखा है, किसी-किसी बैंक में चुपचाप एफ० डी० आर० करा रखी है।' पहले ज़माने में कम से कम तिजोरी में रखते थे तो तोड़कर निकाल लेते थे, अब एक बैंक से एफ० डी० आर० लेकर किसी दूसरे बैंक के लाकर में रखी है, उसकी चाभी घर में हो तो भी वह किस बैंक के लाकर की चाभी है यह कैसे पता लगे ! चाभी लटका कर फिरो; कुछ नहीं मिलने वाला है। वह व्यक्ति उस समय बताना चाहता है कि 'अमुक बैंक में रखा है' लेकिन वाणी अव्यक्त है, बच्चे कुछ नहीं समझ पाते।

एक तरफ यह चीज़ याद रखनी है कि शरीर लेटा हुआ लोटपोट कर रहा है, ज़ोर-ज़ोर से निश्वास ले रहा है लेकिन बोल नहीं पा रहा है। दूसरी तरफ, हे भगवान् शंकर ! आपका जो जटामण्डल है उसके अन्दर भगवती गंगा का अलंकार है। तीव्र ताप का असह्य कष्ट हो रहा है। उस असह्य कष्ट की अवस्था में गंगा की शीतलता सामने ही मौजूद है। आपके जटामण्डल का गंगालंकृत सौम्य रूप है। उस समय मेरा मन उस रूप के लिये मन्दिर बना हुआ हो अर्थात् वही रूप मुझे दीख रहा हो। मन में दोनों चीज़ों को स्पष्ट लाने का प्रयत्न करो। संसार के लिये प्रयत्न

करते रहोगे तो केवल निःश्वसन, लुंठन आदि होना है। यदि परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति की हुई होगी तो भगवान् शंकर के जटाजूट में जाह्नवी खेल रही है—यह प्रतीति होगी।

ध्यान का एक और प्रकार बताते हैं :

'यदा पुत्रमित्रादयो मत्सकाशे
रुदन्त्यस्य हा कीदृशीयं दशेति।
तदा देव! देवेश! गौरीश! शम्भो!
नमस्ते शिवायेत्यजस्रं ब्रवाणि।'

मृत्यु काल में घर वाले चारों तरफ आकर बैठ जाते हैं। पुत्र-मित्र इत्यादि चारों तरफ घेरकर खड़े हैं। यह सब ध्यान करना है। बिस्तरे पर लेटे हुए हो। बिल्कुल पास में सारे घर वाले खड़े हैं, कोई बिस्तरे पर ही बैठा हुआ है तुम्हारे बिल्कुल पास। कोई तुम पर हाथ रखे हुए है। लेकिन उन सबकी आंखें भरी हुई हैं, किसी के आँसू बह रहे हैं। कह सब एक ही बात रहे हैं 'इस बेचारे को देखो! कैसे दुःख की दशा हो रही है, कैसी तकलीफ पा रहा है, क्या हो गया !' इत्यादि । यही अंतिम काल में लोग कहते हैं। एक तरफ तो यह है कि जब दूसरे कह रहे हैं कि इसकी क्या दशा है। दूसरी तरफ देखो : मैं उस समय निरंतर 'ॐ नमः शिवाय' कह रहा हूँ। चिंतन करो कि उस समय उनकी बातें सुनने से मन के अन्दर कैसी प्रतीति होगी ! उस काल में याद रहे कि मेरे अन्दर देवदेवेश बैठे हुए हैं; देव इन्द्रियाँ हैं, उन इन्द्रियों को प्रकाशित करने वाला देवदेव मन और उस मन का भी अधीश्वर शिवतत्त्व आत्मतत्त्व है। दूसरे तो शरीर की दशा देख रहे हैं इसलिये कह रहे हैं कि 'इसकी दशा कैसी है', लेकिन मैं यह जान रहा

हूँ कि यह रोने वाली दशा मेरी नहीं है। मैं तो वह हूँ जो निरंतर शिव का स्मरण कर रहा हूँ, क्योंकि शरीर, इन्द्रियाँ, इनका प्रकाश करने वाला मन और मन को जो प्रकाशित कर रहा है वही तो मेरा स्वरूप है। मेरा सम्बन्ध तो उसके साथ है। गौरी ब्रह्माकार वृत्ति है, मेरी वृत्ति भी आपकी ही तरफ लगी हुई है इसलिये आपको ही ग्रहण कर रही है। आपके साक्षिस्वरूप का भी मुझे स्पष्ट भान है और यह पता है कि आप कैसे हैं—शं अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं। ऐसा चिंतन करते हुए मैं तो निरंतर 'ॐ नमः शिवाय' बोल रहा हूँ। मेरे पास खड़े हुए लोग जो कह रहे हैं वह मेरे कानों में नहीं जा रहा है। यह दोनों तरफ का ध्यान करना है।

जब इससे भी आगे स्थिति होती है तो फिर लोग क्या कहते हैं और क्या करते हैं—

'यदा पश्यतां मामसौ वेत्ति नास्मान्
अयं श्वास एवेति वाचो भवेयुः।
तदा भूतिभूषं भुजंगावनद्धं
पुरारे भवन्तं स्फुटं भावयेयम्।।'

कोई नाडी देख रहा होता है, कोई पैर को हाथ लगा रहा होता है, कोई छाती पर नज़र लगाये होता है, कोई पूछ रहा होता है 'अरे मुझे पहचानते हो ? मैं आ गया।' अस्सी साल तुझे पहचानता रहा तो तूने कौन-सा मेरा कल्याण कर दिया जो अब तुझे पहचान कर फ़ायदा होगा ! नहीं पहचाना तो कहते हैं कि 'अब तो इसका पहचानना भी गया।' भिन्न-भिन्न जगहों पर हाथ लगाकर देखते हैं कि कहाँ गरम रह गया और कहाँ ठंडा हो गया। कहते हैं कि 'अब तो यह एक साँस ही बचा है, छाती तक तो ठंडक आ ही

गई है।' यह वाणी उस समय चारों तरफ हो रही होगी। लेकिन उस समय हे पुरारि ! यही आपका स्वरूप है, इसलिये मेरी दृष्टि उनकी तरफ न हो, मेरा जो यह पुर है, मुझे इस पुर में वापिस न आना पड़े, पुरारि आपका ही स्वरूप है। इसलिये भूति अर्थात् विभूति को धारण किये गए, सर्प को बाँधे हुए, आपकी मुझे स्पष्ट भावना हो। सब चीज़ें जलकर अंत में जो बच जाता है वही विभूति या भस्म है। कपड़ा, गेहूँ, चावल आदि किसी भी चीज़ को जलाओ, सबका अंतिम परिणाम भस्म ही है। भस्म को जलाओ तो आगे कुछ परिणाम नहीं है। इसी प्रकार सारे नाम-रूप-कर्म का बाध करते चले जाओ, अंत में शेष केवल साक्षी चिन्मात्र ही रहता है। वही भगवान् शंकर का भूषण है। बाकी जितने देवता हैं उनके भूषण तो नामरूपात्मक पदार्थ हैं, वे तो किसी न किसी चीज़ को भूषण बनाकर धारण करते हैं। लेकिन भगवान् शंकर का तो सारे नामरूपों का बाध करके जो अधिष्ठान बच गया, जिसका आगे कोई बाध नहीं कर सकता, वह जो अबाधित तत्त्व है, वही उनका भूषण है।

ऐसे जो शंकर हैं वे भुजंग (इन्द्रियाँ, जिन्हें पहले उरग शब्द से कहा था) को नद्ध (नत्थी) किये हुए हैं। एक को दूसरे में लगा देने को नद्ध करना कहते हैं। नद्ध दो तरह का हो सकता है, एक तो जिसको नद्ध किया उसको ऊपर रखो और दूसरा, जिसको नद्ध किया उसे नीचे रखो। कभी अमरीका वालों की फाइल देखो तो उसमें जो सबसे पुराना कागज़ होता है वह सबसे ऊपर होता है और इंग्लैण्ड वालों की फाइल में सबसे पुराना कागज़ सबसे नीचे होता है। दोनों के फाइल करने के तरीके में फरक है। हम

लोगों का भी पुराना तरीका अंग्रेजों की तरह है, जो जितना पुराना कागज वह सबसे नीचे होता है। हमारी भारतीय 'फाइल' में तो एक तार और उसके नीचे एक पत्थर होता था उसी में सारे कागज़ फाइल होते रहते थे। अब दो खूँटे लगा देते हैं बाकी काम वही होता है जो पहले होता था। इन्द्रियाँ सबसे पहले सामने आती हैं। बुद्धिमान् आदमी इन्द्रियों को सबसे नीचे करता है। इन्द्रियों पर मन का नियंत्रण, मन पर बुद्धि का नियंत्रण, बुद्धि के ऊपर साक्षी का नियंत्रण है। एक के बाद एक यह अवनद्धता है। मूर्ख लोग सबसे नीचे साक्षी और सबसे ऊपर इन्द्रियों को कर देंगे, सबसे प्रधानता इन्द्रियों को देंगे। जो इन्द्रियाँ देखें वह सत्य और जो इन्द्रियाँ न देखें वह असत्य। इन्द्रियों के द्वारा तो हमें अपने शरीर के विकारों का भी ज्ञान नहीं होता, वे भी तो साक्षिभास्य ही हैं। जब कहते हो 'डाक्टर साहब, जी घबराता है।' यह कौन देख रहा है? यह साक्षिभास्य ही है क्योंकि 'जी घबराना' इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसलिये भगवान् शंकर का स्वरूप जो उस समय स्मरण आयेगा उसमें समग्र इन्द्रियाँ अवनद्ध हैं, नीचे दबाई हुई हैं। जितनी शरीर की वेदना हो रही है यह इन्द्रियों के द्वारा हो रही है। जब शरीर इन्द्रिय आदि को नीचे दबा दिया गया है तभी तो साक्षी रूप को देख रहे हो। इसलिये आपका जो स्पष्ट अधिष्ठान चिन्मात्र स्वरूप है वह उस समय स्पष्ट मेरी भावना में आ रहा हो।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार से मृत्युकाल का स्मरण स्पष्ट रूप से करो, साथ में उस समय जो सामान्यतः होता है उसे देखो। दूसरी तरफ देखो कि उस दशा में भी भगवान् किस तरह मेरे संमुख

रहेंगे। भगवान् भाष्यकार ने एक-एक श्लोक में सब कुछ बताया। तब धीरे-धीरे संसार की ओर प्रवृत्ति रुकेगी। जिसके कारण साधारण मनुष्य को मृत्यु के काल की दशा दुःखप्रद होती है वह है परमात्मा की विस्मृति जो इसीलिये है कि हम संसार में ही संलग्न रह जाते हैं। उक्त साधनों के द्वारा संसार में शोभनाध्यासों से होने वाली प्रवृत्ति का अवरोध हो जाता है। जैसे-जैसे इसको सोचोगे वैसे-वैसे संसार के पदार्थों से जब तुम्हें व्यवहार करना पड़ेगा तब तुम्हें वह अन्तकाल और उस समय इन प्रवृत्तियों की व्यर्थता याद आ जायेगी, सांसारिक व्यवहार अच्छा नहीं लगेगा। तुम्हारे नेत्रों में भी भाव आयेगा कि यह सब बेकार है। यहाँ तक कि तुम्हारा शरीर भी संसार की प्रवृत्ति को देखकर उधर से हटने की इच्छा करेगा। जब यह होता है तब परमात्मा का दृढ स्मरण हो पाता है।

प्रवचन—१७

सृष्टिप्रक्रिया का वर्णन करने से पहले सृष्टि के पूर्व की स्थिति का निरूपण करते हुए बताया कि द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों का सृष्टि से पूर्व अभाव था। ज्ञाता के रूप का विचार करते हुए बताया कि ज्ञाता अभिव्यक्त होता है इसका तात्पर्य है कि सत् चित् रूप से प्रकट होता है फिर भी आनंद और अनंत रूप से प्रकट नहीं होता। 'मैं सुखी हूँ' ऐसा ज्ञान यद्यपि लोक में होता है तथापि "मैं सुख हूँ" इत्याकारक ज्ञान नहीं होता। इस आनंदभाव को कैसे प्रकट किया जाता है इसके साधन बताते हुए छः साधन बताये, जिनमें से अंतिम दो साधनों पर विचार करना है।

'ममानुस्मरणं नित्यम्।' परमेश्वर का नित्य ही स्मरण करना है। स्मरण और अनुस्मरण दोनों बातें समझने की हैं। स्मरण का मतलब है याद। स्मृति किस चीज़ की आती है ? जिसका पहले अनुभव हुआ है, अनुभव की हुई चीज़ का ही स्मरण होता है, अननुभूत चीज़ का स्मरण नहीं आता। अब प्रश्न होता है कि परमात्मा का अनुभव ही नहीं हुआ तो स्मरण कैसे करें ? इसलिये

जब शास्त्र कहता है कि परमात्मा का स्मरण करो तब शास्त्र अपने आप ही कह रहा है कि परमात्मा सर्वथा अज्ञात तत्त्व नहीं है। बार-बार शास्त्रकार कहते हैं 'मामनुस्मर' मेरा स्मरण करो। स्मरण करो कि विधि ही बताती है कि परमेश्वर अथवा परमात्मतत्त्व अननुभूत नहीं है। कोई चीज़ है जिसका अनुभव तुमने किया लेकिन उसे पहचाना नहीं है। अनुभव हो जाने पर भी यदि पहचान नहीं होती तो स्मरण की संभावना नहीं रहती। केवल अनुभव स्मरण का कारण नहीं। अनुभव के बिना स्मरण नहीं होता यह तो ठीक है, लेकिन अनुभव हुआ इसलिये स्मरण अवश्य हो—यह नियम नहीं है। रास्ते में जाते हो, न जाने कितने रंग की मोटरें, बसें निकलती हैं, उन सबका अनुभव तो हो ही रहा है। जितने आदमी निकलते हैं उनके चेहरों का, वस्त्रों का अनुभव भी होता है, परन्तु क्या वे सब स्मरण आते हैं ? इसलिये अनुभव के बिना स्मरण नहीं यह तो ठीक है, लेकिन अनुभव हुआ इतने मात्र से स्मरण हो—यह ज़रूरी नहीं। जिस आदमी के नाम का तुम्हें पता है उस व्यक्ति को यदि तुम रास्ते में देखते हो तो स्मरण आ जाता है। बहुत से आदमी जा रहे हैं, जिस आदमी का नाम जानते हो या परिचित हो, उसका स्मरण रहेगा कि 'आज वे रास्ते में मिले थे।' अथवा विलक्षण गुण वाली चीज़ को देखो तो स्मरण रहेगा। जैसे साधारण मोटरें ऊपर से बंद होती हैं। यदि किसी ऐसी विदेशी मोटर को देखो जो ऊपर से खुली हो, तो वह बाद में याद आ सकती है। आप लोगों को याद होगा कि पहले बहुत खुली मोटरें आती थीं जिसमें धूप बरसात हो तो पर्दा खींच देते थे, नहीं तो आराम से हवा खाते जाते थे। आज उसको देखोगे तो स्मरण

आयेगा कि 'आज अमुक मोटर बढ़िया देखी थी।' जिसके नाम का पता है अर्थात् परिचित है उसकी भी याद आती है अथवा जिसके किसी विशिष्ट गुण का परिचय है उसकी याद आती है। अथवा तुमने कोई ऐसा वस्त्र देखा और घर आकर ठीक वैसा ही वस्त्र पहने हुए अपने बच्चे को देखा तब भी तुम्हें स्मरण आ जाता है कि 'आज रास्ते में भी ऐसा ही कपड़ा देखा था।' एक ज्ञान अपने जैसे दूसरे ज्ञान का स्मारक बन जाता है, उसी जैसा दूसरा ज्ञान होने पर पूर्वज्ञान याद आ जाता है। इसलिये स्मरण के लिये अनुभव तो होना चाहिये लेकिन अनुभव के साथ-साथ या उसका परिचय हो या किसी विशष्टि गुण के द्वारा हृदय आकृष्ट हो गया हो अथवा आगे किसी चीज के साथ उसकी समानता दीखे तब स्मरण बनता है। यदि ये चारों बातें घट जायें तब तो परमेश्वर का स्मरण बनेगा, नहीं तो स्मरण नहीं बनेगा।

सबसे पहली बात है कि क्या परमात्मा अनुभूत है ? यही वेदांत शास्त्र की सबसे बड़ी देन है। संसार में वेदांत को छोड़कर बाकी सब कहते हैं कि साधना करोगे तब परमात्मा का अनुभव होगा। ऐसा-ऐसा करोगे तब न जाने किस जन्म में, न जाने किस लोक में जाकर परमात्मा का अनुभव होगा। साकेत लोक, गोलोक, वैकुण्ठ लोक, बहिश्त में जाकर, न जाने कहाँ-कहाँ जाकर परमात्मा का अनुभव होगा। वेदांत कहता है 'यत्साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' अर्थात् परमेश्वर का अनुभव तो तुमको अभी ही हो रहा है। यह एक बहुत बड़ी देन है। संसार में अधिकतर लोग इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि परमात्मा है और दूसरे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि परमात्मा नहीं है। अनादि काल से

यह शास्त्रार्थ चल रहा है कि परमात्मा है या नहीं है। दोनों तरफ वाले भिन्न-भिन्न युक्तियाँ देते हैं। परमात्मा है या नहीं—इस झगड़े में नहीं पड़ता है तो एक मात्र वेदांती। वह कहता है कि 'परमात्मा है' यह भी सिद्ध नहीं हो सकता औरे 'परमात्मा नहीं है' यह भी सिद्ध नहीं हो सकता। सिद्ध तब हो जब पहले किसी साधना के द्वारा उसको पाया जाये, किसी प्रमाण के द्वारा उसका ज्ञान किया जाये।

सिद्ध का मतलब होता है किसी साधन के द्वारा आने वाली विशिष्ट स्थिति वाला। जो सिद्ध किया जाता है पहले वह साध्य होता है। जैसे हम यहाँ से चलें तो गाज़ियाबाद पहुँचेंगे, हमारे चलने से हमारा गाज़ियाबाद पहुँचना सिद्ध होगा। लेकिन क्या हम कभी भी दिल्ली में बैठे हुए दिल्ली पहुँच सकते हैं ? दिल्ली में बैठे हुए कभी कोई कहे कि 'मुझे दिल्ली जाने का रास्ता बता दो' तो कभी नहीं बता सकते। बार-बार कहोगे कि 'तुम दिल्ली में ही हो।' वह कहे—'वह तो बात ठीक ही है, लेकिन रास्ता बता दो, जाना चाहता हूँ।' सिवाय 'दिल्ली में ही है' कहने के और करो क्या? वह कहता है 'कोई जप, कोई ध्यान, कुछ तो बताओ? ऐसे ही कैसे राजधानी दिल्ली में पहुँच जाऊँगा ?' यही कह सकते हो कि 'वह दूर से देखो इंडिया गेट दीख रहा है, यह गेट दिल्ली में है इसलिये तुम दिल्ली में हो। वह लाल किला दीख रहा है, लाल किला दिल्ली में है इसलिये तुम दिल्ली में हो।' और किसी प्रकार से दिल्ली में पहुँचना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

ठीक इसी प्रकार, यदि तुम ब्रह्म न होते तो परमात्मा को सिद्ध किया जा सकता था, या असिद्ध किया जा सकता था। ठीक

रास्ता हो सकता था, ग़लत रास्ता भी हो सकता था। कई लोग कहते हैं कि परमात्मप्राप्ति के अनेक मार्ग हो सकते हैं। कर्म से जाओ, भक्ति से जाओ, योग से जाओ, ज्ञान से जाओ, किसी भी तरह से जाओ, भगवान् तक जाना है। दिल्ली में तुम हो तो तुमको दिल्ली पहुँचाने का एक ही रास्ता है, दूसरा नहीं। न जप करके, न समाधि लगाकर दिल्ली पहुँचोगे, न भक्ति करके दिल्ली पहुँचोगे। तुमको तो केवल यह भ्रम हटाना है कि 'मैं दिल्ली में नहीं हूँ।' इसके सिवाय कोई दूसरा मार्ग हो सकता है यह सम्भव ही नहीं है। वेदांत इसलिये कहता है कि परमात्मा है या नहीं यह सिद्ध करने का विषय नहीं क्योंकि तुम परमात्मा हो। घूम-फिर कर आदमी बार-बार यही प्रश्न करता है–'आप कहते हैं वह बात तो बिल्कुल ठीक है लेकिन कुछ साधन तो बताइये, मुझे लगता नहीं कि मैं परमात्मा हूँ।' यही कह सकते हैं–परमात्मा सत् रूप है। कहते हो 'हाँ है।' 'तुम हो या नहीं ?' 'हैं तो सही।' होना ही तो परमात्मा का स्वरूप है। इंडिया गेट दीख रहा है। तुम चेतन हो या नहीं ? कहते हो–'हाँ चेतन तो हूँ।' चेतन परमात्मा का स्वरूप। लाल किला दीख रहा है। यदि तुम हो तो परमात्मा है क्योंकि तुम ही परमात्मा हो। बाकी सब तो सिद्ध करने और असिद्ध करने में लगे हुए हैं कि परमात्मा है या नहीं। एकमात्र वेदांत शास्त्र तुमको ठीक और सच्ची बात बताता है कि यह तो नित्य सिद्ध विषय है। तुम ही तो परमात्मा हो। यदि तुम अपने को मानते हो तो परमात्मा है और यदि तुम अपने को नहीं मानते हो तो परमात्मा नहीं है। 'नहीं' भी तुम्हारा ही नाम पड़ जायेगा। इसलिये परमात्मा अनुभूत चीज़ है। इसीलिये परमात्मा का स्मरण

संभव है, अन्यथा नहीं।

वह अनुभूत कहाँ है ? 'मैं' इस प्रतीति के अंदर ही उसका अनुभव होता है। जब 'मैं' कहते हो, 'मैं' शब्द को कहने के साथ ही जिसकी प्रतीति हो रही है वही परमात्मा है। जैसे 'घड़ा' शब्द को कहते ही कम्बुग्रीवादिमान् मोटे पेट वाला लम्बी गर्दन वाला बर्तन झट तुम्हारे मन में आ जाता है, इसी प्रकार लड्डू कहते ही तुम्हारे मन में गोल-गोल, मीठा-मीठा बेसन का बना हुआ खाद्य झट याद आ जाता है। प्रत्येक शब्द का उच्चारण करते ही जो याद आता है वह उसका अर्थ है। लड्डू कहते ही तुमको जो याद आता है वह लड्डू और घड़ा कहते ही जिसकी याद आ रही है वह घड़ा है। इसी प्रकार 'मैं' कहते ही जिसकी याद आती है बस वही परमेश्वर है। जब तुम 'मैं' कहते हो तब जिसकी स्मृति आती है, जो अर्थ स्फुरित होता है, जो प्रतीत होता है, बस वही परमात्मा है।

दो बातें यहाँ समझने की हैं। 'मैं' कहते ही जिसकी प्रतीति होती है। एक वह है जो प्रतीति *कर* रहा है और एक वह है जो प्रतीत *हो* रहा है। जैसे घड़ा कहते ही तुमको घड़े की प्रतीति होती है। एक तुम हो जिसको उसका ज्ञान हो रहा है और एक वह है जिसका ज्ञान हो रहा है। जब लड्डू कहते हो तब एक वह है जो तुमको मन में *दीख* रहा है और एक तुम हो जो देख रहे हो। इसी प्रकार 'मैं' कहने से क्या *दीख* रहा है और कौन *देख* रहा है ? 'मैं' कहते ही तुमको भान होता है, भान होने के साथ ही यह भान भी होता है कि कोई उसको जान रहा है। इसमें जो *दीख* रहा है वह जीवात्मा और जो *देख* रहा है वह परमात्मा है।

दोनों ही आत्मा हैं। बाकी सब जगह तो जो दीखता है वह अनात्मा और जो देखता है वह आत्मा। घड़ा, कपड़ा, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सबको तो जीव देखता रहता है। लेकिन 'मैं' में जीवात्मा वह है जो *दीख* रहा है और जो उसको *देख* रहा है वह परमात्मा है। 'मैं' उच्चारण करते ही झट परमात्मा का पता लग जाता है : जो वहाँ देखने वाला है, वही सबका प्रवर्त्तक है। मनुष्य को हमेशा लगता है कि कोई मुझे प्रवृत्त कर रहा है। निरंतर यह अनुभव होता है।

प्रवृत्त करने वाला ही अंतर्यामी परब्रह्म परमात्मा है। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् बताती है कि जो जड चेतन पदार्थों में बैठा हुआ है वह अंतर्यामी है। जितने जगत् के जड-चेतन पदार्थ हैं उन सबमें वही बैठा हुआ है। पहले बृहदारण्यक उपनिषद् ने पृथ्वी आदि बहुत चीज़ें गिनाई और फिर संग्रह करके कह दिया—'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्' सारी जड-चेतन चीज़ों के अन्दर रहने वाला है, सबके अन्दर है। जितना-जितना सोचते चले जाओ उसके भी वह अन्दर है। सबसे अन्दर 'मैं' और उस 'मैं' के अन्दर वह है। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि इन सबके अन्दर मैं और वह जो परमात्मा है वह उस मैं के अन्दर है। इसलिये कहा जड-चेतन सबमें वह बैठा हुआ है। विचित्र बात है कि सबके अन्दर बैठा हुआ है लेकिन कोई भी भूत उसे जानता नहीं। क्यों नहीं जानता ? जानने वाला वह है। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्, अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मंता, अविज्ञातो विज्ञाता' वह जानने वाला है, वह सबको जानता है। तुम उसके द्वारा जाने जाते हो, उसको जान नहीं सकते। उसके द्वारा तो जाने जाते हो, वह तुमको जानता

है, यही उसका ज्ञान है।

काशी में एक अंधे पंडित थे। रोज़ नियम से विश्वनाथ का दर्शन करने जाते थे। वृद्ध हो गये तो लड़कों के भरोसे जाना पड़ता था। आजकल के लड़के तंग आ जाते हैं। लड़कों ने कहा 'अरे! वहाँ जाकर क्या देखते हो ? क्यों जाते हो ? घर में बैठे रहो। अंधे को क्या विश्वनाथ दीखेगा।' उन्होंने कहा कि 'मैं वहाँ विश्वनाथ को *देखने* थोड़े ही जाता हूँ। मैं उन्हें देख ही नहीं सकता, पर विश्वनाथ तो मुझे देख लेते हैं कि यह हाज़िरी लगा गया। देखना तो उन्हें है, मुझे थोड़े ही देखना है।'

ठीक इसी प्रकार इस आत्मतत्त्व को हम कहाँ देख सकते हैं! जिसको हमने अपना स्वरूप मान रखा है वह तो अज्ञान-अंधकार से बना हुआ है। लेकिन बार-बार जब वृत्ति बनाते हो तब तुम उस परमात्मा के द्वारा देख लिये जाते हो। यह परमात्मा के द्वारा देख लिया जाना ही स्मरण है। परमात्मा तो तुमको अब भी देख रहा है लेकिन तुम इस बात को जानते नहीं कि वह देख रहा है। हम लोग भी विश्वनाथ का दर्शन करने जाते हैं। भगवान् तो देख ही लेते हैं लेकिन अपनी आँख के अभिमान से हम सोचते हैं कि 'हम दर्शन करके आये' जबकि वास्तविकता उस अंधे की बताई हुई है कि हम भगवान् के द्वारा देख लिये गये कि यह हाजिरी लगा गया। यह अनुभूति ही है, बाकी, तुम क्या देखोगे ! आँख वाला जाकर भी वहाँ क्या देखता है ? कोई बुरा नहीं मानना; गोल-गोल-सा पत्थर, उस पर काला रंग और एक तरफ लाल रंग। आँख वाले और अंधे के वहाँ जाने में कोई फरक नहीं है। लेकिन वह पंडित जानता था कि परमेश्वर के द्वारा मेरा आना जान लिया

गया और हम इस बात को जानते नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार जब-जब हम परमात्माकार वृत्ति बनाते हैं तब परमात्मा थोड़े ही जाना जाता है, लेकिन उस वृत्ति के द्वारा हमको पता लगता है कि प्रकाश्य मैं हो गया जीवात्मा और प्रकाशक परमात्मा है। वह अदृष्ट है, उसे कोई नहीं देख सकता, लेकिन वह सबको देखता है। उसको कोई नहीं सुन सकता, वह सबको सुनता है। जो बड़े से बड़े आदित्य, देवता आदि हैं वे भी उसे नहीं जानते। प्रश्न होता है कि वह इतना बड़ा है तो लोग उसे क्यों नहीं जानते ? इसलिये नहीं जानते कि वह जानने का विषय ही नहीं है।

'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्'; वह अहम् के अन्दर बैठा रहता है तो उसका कोई शरीर भी होगा, उसका कोई रूप आदि होगा? ये सब शरीर उसी के हैं, उसे दूसरे शरीरों की ज़रूरत नहीं है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि परमेश्वर को किसी दूसरे कार्य करण, दूसरे शरीर इन्द्रिय मन की ज़रूरत नहीं है। तुम्हारा ही जो कार्य है अर्थात् शरीर, करण मायने इन्द्रियाँ मन, ये सारे ईश्वरसन्निधिमात्रसे, ईश्वर रूप साक्षी है इसीलिये ये नियमपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं। इसलिये इन सबका प्रवर्त्तक वह है। शरीर, इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति उसके बिना नहीं। इनको प्रवृत्त करने के लिये उसे दूसरी इन्द्रिय आदि की ज़रूरत नहीं, अन्यथा अनवस्था दोष आ जायेगा। हाथ को उठाने के लिये इसमें होने वाली हस्तेन्द्रिय चाहिये। जब हाथ को फालिज या लकवा हो जाता है तब हाथ बना ही रहता है, हाथ कट थोड़े ही जाता है, लेकिन हाथ को उठा नहीं सकते क्योंकि इन्द्रिय नहीं रह गई। हाथ को कार्य कराने के लिये करण अर्थात् उसका साधन चाहिये। वही इन्द्रिय है।

आगे इन्द्रिय को चलाने के लिये मन चाहिये। जब तुम्हारा हाथ चुपचाप बैठा हुआ है तब इन्द्रिय कहीं चली थोड़े ही गई है, अपांग नहीं हो, फिर क्यों नहीं उठ रहा है ? क्योंकि मन नहीं है। इसलिये इन्द्रिय को कार्य कराने के लिये मन चाहिये। आगे मन को प्रवृत्त करने के लिये जीवात्मा या अहम् चाहिये। मैं ही तो मन से प्रवृत्ति करेगा। सबको एक साधन चाहिये। इसी तरह से बाल्टी उठाने के लिये यह हाथ ही साधन बन गया। इन्द्रिय हाथ को उठायेगी, हाथ बाल्टी को उठायेगा। आगे और करण परम्परा बन सकती है। जैसे पंखा चलाने के लिये बटन दबाते हो इसलिये वह बटन बिजली पंखा आदि चलाने के लिये साधन हो गया। आगे बिजली, पंखा आदि साधन बन गये रोशनी करने के लिये या हवा चलाने के लिये। जहाँ भी कोई कार्य हो रहा है उसके प्रति कोई न कोई साधन या करण है। अब इन साधनों की परम्परा 'मैं' तक तो पहुँची। आगे प्रश्न है कि इस 'मैं' को कौन चलाता है ? मैं को परमात्मा चलाता है। मैं को चलाने के लिये किस कारण का प्रयोग करते हो ? वही तो उसका शरीर होता है। जैसे बाल्टी को उठाने वाला हाथ तुम्हारा शरीर ऐसे ही जीव को चलाने के लिये कारण तो वह परमात्मा लेकिन यदि करण के द्वारा परमात्मा अहम् को चलाये तो परमात्मा को चलाने के लिये फिर करण चाहोगे। अनवस्था हो जायेगी। इसलिये परमात्मा अहम् को बिना किसी करण के चलाता है। बाकी सब में तो कार्यकरण भाव चलता है। जब परमात्मा प्रवृत्त करता है तब उसका कोई दूसरा करण नहीं। इसीलिये कहते हैं कि उसकी केवल सन्निधिमात्र, उपस्थिति मात्र है, बिना किसी साधन के सब को चलाता है। बाकी सभी

चीज़ें नियमेन प्रवृत्ति करती रहती हैं। जैसे प्रवृत्ति वैसे ही निवृत्ति समझ लेना। प्रवृत्ति के नियम से प्रवृत्ति और निवृत्ति के नियम से निवृत्ति।

जब तुम किसी कार्य को करते हो तब इस क्रम से सोचते हुए अहम् तक तो पहुँचते ही हो। मुँह से भले ही न कहो; यह साधना की बात है इसलिये मुँह से कहने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन यदि तुमसे पूछें 'तुम ऊपर से नीचे कैसे उतर आये ?' तो तुरंत जवाब दोगे 'लिफ्ट से।' आगे पूछें 'लिफ्ट के अन्दर कैसे गये ?' 'पैरों से।' 'पैर कैसे चले ?' 'मेरे मन से।' 'मन से प्रवृत्ति किसने की ?' 'मैंने।' चाहे इस क्रम को तुम मुँह से कहो या न कहो, अभ्यास होने के कारण किसी भी क्रिया में तुम मैं तक तो पहुँच ही जाते हो। अब इस मैं की प्रवृत्ति होती है, यह भी जानते हो। इस मैं का जो प्रवर्त्तक है, जो इस मैं को चलाने वाला है, जो इस मैं को जानने वाला है, इस मैं को प्रकाशित करने वाला है, वह इस मैं के द्वारा ही तो जाना जाता है। इस कमरे में इतने जने बैठे हुए हो, क्या किसी को सूर्य मण्डल दीख रहा है ? गोल-गोल जो सूर्य का रूप है वह किसी को यहाँ बैठे हुए नहीं दीख रहा है। आगे यदि हम तुमसे पूछें कि रात है या दिन ? क्या घड़ी देखकर बताओगे ? हमारे पास एक घड़ी आई है उसमें रात और दिन लिखा हुआ है। रात के दो बजे हैं या दिन के यह लिखा रहता है। पहले हम सोचते रहे कि इसकी क्या ज़रूरत पड़ी, यह तो हम ही समझ सकते हैं कि रात है या दिन। फिर धीरे-धीरे विचार आया। अभी दो दिन पहले ही शहर में चले गये थे। गली में गली, गली में गली चलते गये, अंधेरा था। जहाँ जाकर

बैठे वहाँ दिन में भी बत्ती जल रही थी। तब हमें विचार आया कि ठीक ही घड़ी बनाई है क्योंकि यहाँ रहने वालों को कैसे पता चलेगा कि रात है या दिन ? यहाँ तो रात में और दिन में भी बिजली जलानी पड़ती है। यहाँ बैठे हुए सूर्य को नहीं देख रहे हो लेकिन सब जान रहे हो कि यह दिन है। क्या यह सुनी-सुनाई बात है ? क्या अंधविश्वास से जान रहे हैं ? बहुत-से लोगों को जब कहते हैं कि 'आत्मा सबको विदित है' तब वे कहते हैं कि आप पर विश्वास से माना, आप कहते हैं तो अंधविश्वास कर लेते हैं। यहाँ जब तुम कहते हो कि 'सूर्य उदय हुआ है, दिन का समय है' तो क्या यह किसी अंधविश्वास या अनुमान से कह रहे हो ? यहाँ सब चीज़ें प्रकाशित हो रही हैं, यही सूर्य-प्रकाश में प्रमाण है। ठीक इसी प्रकार मैं और मैं के द्वारा बाकी सब चीज़ें जानी जा रही हैं, बस यही तो उस ज्ञानस्वरूप परमात्मा में प्रमाण है। और किस रूप से इसको देखना है ? मैं तक तो पहुँचते हो लेकिन मैं भी प्रकाशित हो रहा है इस बात को जानते हुए भी उसकी तरफ ध्यान नहीं है। यहाँ जो कहा 'ममानुस्मरणं नित्यं' यही उसमें ध्यान देना है। स्मरण सम्भव है क्योंकि मैं का प्रकाश हो रहा है, ज्ञान हो रहा है। मैं का ज्ञान जिस ज्ञान से हो रहा है उसका ज्ञान तो हो ही रहा है लेकिन उसकी तरफ ध्यान देना है, यही स्मरण है। अनुभूत पदार्थ है इसलिये स्मरण बन जाता है।

कहोगे कि सबको स्मरण क्यों नहीं हो रहा है ? पहले ही कहा था कि ज्ञानमात्र से स्मरण नहीं होता, स्मरण के प्रति कारण पहचान भी पड़ती है। शास्त्र यह पहचान करा रहा है कि 'मैं'

जिसके प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है वह ब्रह्म है। यह शास्त्र ने पहचान कराई। शब्द के आधार से अब स्मृति बन जायेगी क्योंकि याद तब आती है जब किसी का नाम पता है। अब तुम्हें पता लग गया कि मैं का जो प्रकाशक वही ब्रह्म है। अनुभूति भी हो गई, परिचय भी हो गया। तीसरी बात बताई थी कि उस चीज़ के गुण का पता हो तो भी स्मरण आ जाता है। जैसे सब मोटरें बंद और एक खुली मोटर तो याद आ जाती है अर्थात् विशिष्ट गुण वाली चीज़ हो तो याद आती है। वैसे ही वेद कहता है कि एक बात याद रखना, उसका परिचय कराया कि अहम् का प्रकाशक वह ब्रह्म है। जिस क्षण इस बात को जानता है कि वह चिन्मय इस अहम् का प्रकाशक है उसी क्षण तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाते हैं। जब तक उसके प्रकाश से जानते रहते हो तब तक तो संसार के व्यवहार चलते हैं, सुख-दुःख मिलता है कर्मपाश में बँधते हो, और जब उसके प्रकाश *से* न जान कर उसके प्रकाश *को* जानते हो, उसी समय सारे कर्म-बंधन समाप्त हो जाते हैं, सारे सुख-दुःख के व्यापार ख़तम हो जाते हैं। यह उसकी विशेषता है।

एक-एक कर्म को ख़तम करने के लिये कितने साधन शास्त्रों में बताये ? एक बार हम जहाँ थे उनकी मोटर से एक बिल्ली मर गई थी। उन्होंने एक पंडित जी से प्रायश्चित्त पूछा। पंडित जी ने एक पुर्जा लिखकर दिया। उन्होंने वह पुर्जा अपने लड़के को दे दिया। उसने आकर हमसे पूछा कि 'मोटर से एक बिल्ली मर गई तब तो पिता जी पंद्रह हजार का पुर्जा लाये हैं।' उसमें सब लिखा हुआ था कि इस प्रकार सोने की बिल्ली का दान करो।

फिर कहने लगा कि 'कभी अगर हाथी दब जाये तब तो घर का दीवाला निकाल कर भी काम पूरा नहीं बनेगा।' जब छोटे से पाप का भी इतना बड़ा प्रायश्चित्त होता है तो अनादि काल से आज तक कितने पाप करते आये ! अनादि काल को छोड़ो, एक दिन में जितने पाप होते हैं उन्हीं का प्रायश्चित्त करते-करते ज़िंदगी निकल जानी है। लेकिन उस ब्रह्म की दृष्टि करते ही सारे पाप उड़ जाते हैं। शास्त्रकार कहते हैं 'प्रविश्य रजनीपादं ध्यायन् निमिशमच्युतम्' उस परब्रह्म परमात्मतत्त्व का यदि एक निमेष (पलक गिरना) मात्र भी स्मरण किया जाता है तो जन्म-जन्मान्तर के पाप नष्ट होने लगते हैं। अनुभूति होने से स्मरण सम्भव है, शास्त्र ने उसका परिचय करा दिया इसलिये अब स्मरण होना सहज हो गया, उसकी विशेषता का पता लग गया। इनसे स्मरण के प्रति चिकीर्षा हो जायेगी, स्मरण करने की इच्छा होगी।

स्मरण करने के लिये अनुभव आवश्यक है, परिचय हुए बिना केवल अनुभव से स्मरण नहीं। परिचय के द्वारा स्मरण भी आया तो कादाचित्क है। यदि उसके गुण का पता है तो उसकी स्मृति ज़रूर आयेगी। चौथा कारण बताया कि उससे मिलती-जुलती कोई चीज़ दीख जाये तब तो ज़रूर याद आयेगी, इच्छा न भी हो तो भी याद आयेगी। जहाँ आँख खोलकर देखते हो वहाँ सद्रूप से जो दीख रहा है और जिस समय अपनी तरफ देख रहे हो तब चिद् रूप से जो दीख रहा है वही तो ब्रह्म का रूप है। हर क्षण तुम्हें घड़ा इत्यादि 'है' या 'नहीं है' दीख रहा है, और 'है' देखते ही तुम्हें उसकी याद आ गई क्योंकि सामने 'है' है। इसी प्रकार जब तुम्हें ज्ञानरूपता की प्रतीति अंदर है तो खट उसकी याद

आयेगी, क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है। इसलिये स्मरण के सभी कारण यहाँ उपस्थित हैं। एक क्षण भी नहीं जब तुम बाह्य पदार्थ को नहीं जाने रहे हो अथवा आभ्यंतर पदार्थ मन आदि को नहीं जान रहे हो। इसलिये जो चीज़ है उसे जान रहे हो और वह खट ब्रह्म का ध्यान दिलाती है। अंदर जान रहे हो तो चिद् रूप से जान रहे हो और वह भी खट ब्रह्म की याद दिलायेगी। इसलिये जब इस बात को जान लिया जाये तब एक क्षण ऐसा नहीं हो सकता जब उसका स्मरण न हो।

अन्य सब लोग तो स्मरण करने के लिये सुमरनी रखते हैं। वृंदावन में जाओ तो एक कपड़े की थैली बनाकर उसके अन्दर छोटी सी माला जपते हैं या और कई ढंग की माला आदि रखते हैं। हम सीधी माला बता रहे हैं। माला हाथ में आने से तुम्हारे मन में होता है कि मैं 'ॐ नमः शिवाय' जपूँ, माला से ही याद आ रहा है; और हम कह रहे हैं कि जो नाम-रूप तुम्हें दीखें वे तो मनके है, उनमें अनुस्यूत सत्-चिद् रूप धागा है। संसार का प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक अनुभूति तुम्हारी सुमरनी ही तो है। यदि मालारूप सुमरनी आवश्यक होती तो दयामय परमेश्वर जिसने तुम्हारे इतने अंग बनाये हैं वे ही अंगुलियों के आगे मनके भी लगा देते! उनके पास हड्डियों की कमी नहीं थी। उसने तो प्रत्येक नाम-रूप को माला बनाकर उसमें सत्-चिद् रूप को अनुस्यूत रख दिया कि हर क्षण याद करते रहो। यही असली सुमरनी है। यह सच्चिदानंदरूपता का नित्य स्मरण अन्दर और बाह्य जगत् के अन्दर करते रहने से धीरे-धीरे वह जो आनंदरूपता है वह स्फुट और प्रकट हो जाती है क्योंकि नाम रूप की तरफ दृष्टि जाने

से राग-द्वेष, और राग-द्वेष आदि के कारण मोह अथवा अविवेक बढ़ेगा और अविवेक के बढ़ने के शुद्धान्तःकरण भी ढाँका जायेगा। जैसे-जैसे नाम-रूप हटा कर सत् चित् की तरफ दृष्टि करोगे वैसे-वैसे राग-द्वेष हटकर प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्मदृष्टि हो जायेगी। जहाँ यह दृष्टि बनी वहीं विवेक उत्पन्न हुआ। विवेक उत्पन्न होने पर मोह ख़तम हो जाता है। तब आनंद रूप से ही हमेशा स्मरण होगा।

प्रवचन—१८

सृष्टि की प्राग्-अवस्था का वर्णन करते हुए सृष्टि में उपस्थित जो कुछ व्यक्त हुआ उसके अभाव को बता रहे हैं। सृष्टि के अन्दर जो सत् चित् रूप से अभिव्यक्त जीव, उस जीव में भूमानंद का अभाव है। उस आनंद का किस प्रकार से अभिव्यक्तीभवन हो इसको बताते हुए कई साधनों पर विचार किया। स्मरण-रूप साधन बताया।

आगे कहते हैं 'यश्च माम् उपजीवति' जो मेरे को ही अपना जीवन अर्थात् उपजीव्य समझता है। पेड़ के ऊपर रहने वाली लता का पेड़ उपजीव्य है और लता उपजीवक है। लता का जीवन पेड़ से और पेड़ लता को जीवन देने वाला है। इसी को उपजीव्य-उपजीवकभाव सम्बन्ध कहते हैं। परमात्मा ही मेरा उपजीव्य है और मैं परमात्मा का उपजीवक। जीवन-शब्द के दो तात्पर्य होते हैं—प्रीति एवं प्राण-धारण। प्राण-धारण का अर्थ है शक्ति। शरीर में जो कुछ होता है वह प्राणमय कोश के द्वारा ही निष्पन्न होता है। प्राण ही वस्तुतः हमारा जीवन है। कोई कितना जी रहा है यह इस पर निर्भर करता है कि उसकी प्राणशक्ति कितनी दृढ

है। साधारण आदमी समझते हैं कि सभी पुरुष एक-सा ही जी रहे हैं। जिसमें जितनी प्राणशक्ति अधिक होती है वह उतना ही ज़्यादा जी रहा है। मूर्ख लोग जीवन को घण्टों से नापते हैं, उसने कितनी साँसें लीं, इस बात से निर्णय करते हैं कि कितनी देर जिये। लेकिन विवेकी प्राण से अर्थात् उनकी क्रिया से नापते हैं कि उन्होंने कितनी क्रिया की, कितना कार्य किया। केवल साँस आना-जाना जीवन का प्रतीक नहीं है।

प्राणशक्ति बच्चे में देखो जिस समय बच्चा पैदा होता है। जाग्रत् अवस्था में उसको तुम एक मिनट शांत नहीं देख सकते। और कुछ नहीं तो अपने हाथ-पैर दोनों को हिलाता ही रहेगा। अभी उसकी प्राणशक्ति पूरी भरी हुई है। तुम किसी को कहते हो 'एक लोटा पानी लाओ' तो चार साल का बच्चा झट दौड़ता है कि 'मैं लाऊँगा' क्योंकि उसमें प्राणशक्ति इतनी भरी है कि बाहर आने को अकुला रही है। जब लोग कहते हैं कि 'यह लड़का बड़ी बदमाशी करता है, शैतान है' तब हम कहते हैं कि यह शैतान नहीं है, शैतान तो तुम इसको बना रहे हो। क्रिया थोड़े ही शैतानी है ! क्रिया को किधर लगाओ—यह उसको तुम नहीं समझा पा रहे हो। इसलिये तुम उसको शैतान बना रहे हो। क्रिया-शक्ति हो और प्रकट न होना चाहे यह नहीं हो सकता है। क्रियाशक्ति किधर लगावें—यह बताना तुम्हारा काम है और वह बताने की तुम्हारे में सामर्थ्य होती नहीं ! तुम बच्चे को कहते हो 'चुप बैठ जा।' जो बराबर चुप बैठ जाने वाला बच्चा हो उसमें प्राणनशक्ति है ही नहीं, वह करेगा क्या ? जिस समय से हम बच्चे में संस्कार डालने लगते हैं कि 'लोटा तुम नहीं नौकर ले आयेगा' वहीं से

तुमने संस्कार डाल दिया कि लोटा लाना अच्छा काम नहीं है। फिर तुम बच्चे की शिकायत करते हो कि 'उससे पानी माँगो तो भी नहीं देता।' लेकिन सिखाया किसने, यह भूल गये।

जीवन शब्द के अर्थ में एक है क्रिया और एक है प्रेम या प्रीति। मनुष्य को प्राणों के प्रति स्वाभाविक प्रेम है। इसीलिये जब किसी को दृष्टांत देते हैं तो कहते हैं कि 'तुम हमारे प्राणप्रिय हो' अर्थात् प्राणवत् प्रिय हो। प्राणों में स्वाभाविके प्रीति होने के कारण ही तो कहा जाता है कि प्राणप्रिय हो। परमेश्वर मेरा उपजीव्य है अर्थात् परमेश्वर के द्वारा ही मैं प्रीति प्राप्त करना चाहता हूँ और उस परमेश्वर के द्वारा ही मेरे में सारी क्रिया आ रही है। दूसरी तरफ, मेरा समग्र प्रेम परमेश्वर के लिये है और मेरी सारी क्रियायें भी परमेश्वर के लिये हैं।

अथर्ववेद के अन्दर इसीलिये परमेश्वर के इस रूप का वर्णन करते हुए बताया 'महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रांतं सलिलस्य पृष्ठे।' एक उपमान के द्वारा समझाते हैं कि वह परमात्मा कैसा है ? भुवन यह सारा संसार हुआ जिसे त्रिभुवन कहते हैं। इस सारे संसार के मध्य में परमात्मा रहता है। मध्य मायने क्या ? किसी वृत्त का मध्य कहीं नहीं हुआ करता। अथर्ववेद में एक दृष्टांत के द्वारा समझाया है : पुरोहित यजमान से प्रश्न करता है कि पृथ्वी का मध्य कहाँ है ? वह जवाब देता है कि यज्ञ की वेदी ही संसार का अर्थात् इस पृथ्वी का मध्य है 'इयं वेदिः भुवनस्य मध्यम्।' प्रश्न होता है कि हरएक यजमान अपनी-अपनी वेदी को मध्य कहेगा और वेदियाँ तो कई जगह हैं। तब उसका समाधान बताया गया कि वस्तुतः पृथ्वी गोल होने के कारण सभी

स्थान मध्य हैं। किसी भी स्थान को मध्य मान लो, कोई फरक नहीं पड़ता है। इसलिये जब मध्य कहते हैं तो यह नहीं सोचना कि मध्य की जगह कहाँ से ढूँढ कर निकालें जहाँ परमात्मा बैठा है! यह भुवन गोल होने के कारण प्रत्येक बिन्दु में परमात्मा है।

यदि वह इस प्रकार भुवन के मध्य में है तो हम सब लोगों को दीखता क्यों नहीं है ? जो तप में स्थित होता है उसके लिये ही वह मानो क्रमण करके आ गया है, चलकर आ गया है। वह वहीं है लेकिन जब हम तपस्या करते हैं तब वह हमारे सामने प्रकट होता है। कई जगह पौराणिक कथाओं में आता है कि प्रह्लाद के सामने, ध्रुव के सामने भगवान् प्रकट हो गये, अतिक्रांत हो गये, संक्रांत हो गये अर्थात् पास आ गये। 'आ गये', तो क्या परमेश्वर सर्वव्यापक नहीं है जो आ गये ? उसका जवाब यहाँ श्रुति देती है 'तपसि क्रांतम्।' जैसे घोर बादल छाये हुए हैं, बारह बजे दिन का समय है। अकस्मात् कोई आकर तुमसे कहता है 'सूर्य निकल आया।' सवेरे से घोर बादल हैं, श्रावण का दिन है, बारह बजे कोई कहता है कि सूर्य निकल आया। बिना सूर्यदर्शन के भोजन नहीं किया जाता। झट दौड़कर बाहर आते हो कि अच्छी खबर दी। सूर्य निकलते समय कहाँ दीखना चाहिये ? ध्रुव पूर्व में ही सूर्य उदय होगा। लेकिन तुम निकलते हुए ही अपनी नज़र ऊपर की तरफ टिकाते हो। क्योंकि दिन के बारह बजे हैं। क्या किसी से पूछते भी हो कि आज सूर्य उल्टी तरफ क्यों उदय हो रहा है ? इसका कारण यह है कि सूर्य तो उदय था, लेकिन बादलों के कारण *तुम्हारी* नज़र में नहीं आ रहा था। इसलिये 'सूर्य निकल आया' का मतलब है कि तुम सूर्य को देखने में समर्थ हो रहे हो।

इसी प्रकार जब कहते हैं 'तपसि क्रांतं' तो इसका तात्पर्य है कि परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक है लेकिन ध्रुव प्रह्लाद इत्यादियों के तप में स्थित होने पर वह क्रांत हो गया।

तप क्या है ? परमात्मदर्शन के लिये तप का स्वरूप ही बताया 'यस्य ज्ञानमयं तपः' विचार ही तप है। सर्वव्यापक परमात्मा को विचारदृष्टि से ही, विचार की स्थिति होने से देखा जाता है, अनुभव किया जाता है। अविचार से दूर-से हुए और विचार से फिर वहीं स्थित-से हो गये। रोज़ ही अनुभव करते हो कि सत्संग आदि विचारकाल में लगता है परमात्मा से नज़दीक कोई चीज़ नहीं और फिर जहाँ पहुँच गये नयेबाँस, चाँदनी चौक अथवा कनाटप्लेस में तो लगता है कि परमात्मा जैसी दूर कोई चीज़ नहीं ! विचार में ही वह संक्रान्त है, बिल्कुल पास है।

केवल तप कहने से शायद किसी अन्य तप को ग्रहण कर लिया जाये इसलिये कहा 'सलिलस्य पृष्ठे' सलिल मायने कर्म। जिस समय कर्मों की तरफ पीठ दे दो तब परमात्मदर्शन होता है। जिस समय तुम क्रिया कर रहे हो, कुछ कर रहे हो तब तो नाम-रूप सामने रहेंगे, वहाँ परमात्मा कहाँ सामने रहेगा ! जिस समय क्रिया को छोड़कर बैठोगे, विचार करोगे तभी तो प्रकट होगा।

उस परमात्मा से फिर हमारा सम्बन्ध कैसा है ? उपजीव्य-उपजीवकभाव संबंध है। जो कोई भी दैवीगुण-सम्पन्न पुरुष होते हैं वे उसका आश्रयण करते हैं, उसका सहारा लेते हैं। जैसे वृक्ष के तने से अनेक शाखायें निकली हुई हैं, उन शाखाओं का जीवन वही वृक्ष है। वस्तुतः वे शाखायें उस वृक्ष से अलग हैं ही नहीं। दीख रहा है मानो बीच का तना वृक्ष हो और निकलने वाली शाखायें

अलग हों, ऐसी प्रतीति होती है, लेकिन वस्तुतः उससे अलग नहीं हैं। श्रुति उपजीव्य-उपजीवकभाव से एक कदम आगे चलती है। यहाँ केवल सामान्य उपजीव्य-उपजीवकभाव पेड़ और लता की तरह नहीं है। हम उससे सर्वथा अभिन्न हैं, इसलिये केवल वही हमारा एकमात्र उपजीव्य है। जब परमात्मा के इस उपजीव्य-भाव को आदमी समझता है तब दूसरी उपजीव्य चीज़ों से वृत्ति स्वभावतः हटने लगती है, यही 'सलिलस्य पृष्ठे' का अर्थ है। कर्म के द्वारा मनुष्य कुछ न कुछ पाना चाहता है, कर्म से तो कुछ न कुछ मिलेगा ही, कर्म का तो फल होना ही है। जब परमात्मा ही हमारा एकमात्र उपजीव्य है तब बाकी फलों के प्रति क्या कोई दृष्टि रह जायेगी? आचार्य जगद्धर कहते हैं—

'विचिन्तयञ्जीवनमेव जीवनं
समर्थयन् पार्थिवमेव पार्थिवम्।
विभावयन् वैभवमेव वैभवं
कदाऽऽश्रये शंकरमेव शंकरम्।।'

जीवन शब्द का एक अर्थ जल भी होता है। इसका कारण है। बिना जल के कभी जीव नहीं रह सकता। जीव कहाँ उत्पन्न हुआ ? जल में ही उत्पन्न हुआ। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखो तो सबसे पहले जीवभाव की उत्पत्ति समुद्र के अंदर हुई। पौराणिक दृष्टि से देखो तो समष्टि जीव भगवान् नारायण जल में ही रहते हैं। लौकिक दृष्टि से देखो तो शुक्र शोणित जिससे यह शरीर उत्पन्न होता है वह भी क्या है ? जल ही है। इसलिये किसी भी दृष्टि से देखा जाये, मनुष्य का अथवा प्राणिमात्र का जीवन जल ही है। इसीलिये जीवन के द्वारा अर्थात् जल के द्वारा

ही मनुष्य की जीवनीशक्ति, प्राणनशक्ति बढ़ती है। जितना जल कम होता जायेगा उतनी प्राणशक्ति कम होती चली जायेगी। इसीलिये कहा गया है 'अजीर्णे भेषजम् वारि जीर्णे वारि बलप्रदं' यदि कोई भोजन पच नहीं रहा हो, पेट में कोई खराबी हो तो जल पियो, औषधि का काम करेगा। पेट के अजीर्ण इत्यादि दोषों को दूर करने का सर्वोत्तम साधन जल है। कभी भी अनुभव करके देखो कि जब शरीर से कमज़ोर हो जाते हैं, अब और आगे नहीं चला जाता है, तब पानी पी लो, फिर तुम्हारे में शक्ति आ जायेगी, और काम कर सकोगे। उस पानी को स्वादिष्ट बनाने के लिये उसमें चाय की पत्ती, दूध डाल देते हैं, चीनी डाल देते हैं। पुराने लोग उसमें नीबू निचोड़ देते थे, कुछ लोग उसमें नमक डाल देते हैं, लेकिन हर हालत में जल ही प्रधान है। यदि चाय ताकत देने वाली हो तो थोड़ी सी चाय की फँकी लगाकर देखो, देखें कैसे ताकत आती है ! ताकत देने वाला अंश तो जल है दूसरी चीज़ों से उसकी ताकत स्फुट हो जाती है। जैसे जल का मिठास हरड़ या बहेड़ा खाने से जीभ पर प्रकट हो जाता है, वह मिठास पानी का है हरड़ का नहीं, लेकिन वह खाने से पानी का मिठास व्यक्त हो जाता है; उसी प्रकार चाय इत्यादि को लेकर मनुष्य समझता है कि 'चाय से हमारे में फुर्ती आई', वह चाय से नहीं, उससे तो व्यक्त हो गई, आई जल से ही है। वस्तुतः शक्ति देने वाली चीज़ जीवन ही है, जल ही है।

इसलिये जगद्धर कहते हैं कि जल ही जीवन का स्रोत है यह समझकर केवल गंगा जल को ही मैं जीवन का आधार मानूँ जो भगवान् शंकर के सिर पर रहने वाला है। उपजीव्य वही गंगाजल

है जो भगवान् शंकर पर रहने वाला है। भगवान् शंकर की पार्थिव मूर्त्ति बनाते हैं, श्रावण के महीने में बराबर पार्थिव लिंग बनाते ही हैं। जो पार्थिव भगवान् शंकर की मूर्त्ति है उसी को पार्थिव अर्थात् सब कुछ देने वाला राजा समझते हुए रहूँ। भगवान् शंकर के सिर पर रहने वाले जल को ही अपना एकमात्र जीवन समझते हुए प्रार्थना भी यदि करता हूँ तो केवल भगवान् शंकर के पार्थिव लिंग मात्र से ही करता हूँ, उसी को मैं राजा अर्थात् सब चीजों को देने वाला समझता हूँ। जितने भी संसार के वैभव हैं वे सारे के सारे विनाशी हैं इस बात को समझता हूँ और वे सारे के सारे अपने स्वरूप में वै अर्थात् निश्चित रूप से 'भव' भगवान् शंकर का ही रूप हैं; 'शिवः सर्वमिदं जगत्' इस बात का चिंतन करते हुए शं अर्थात् कल्याण करने वाले भगवान् शंकर का ही सहारा लूँगा, उनके सिवाय और किसी पर मेरी उपजीवक दृष्टि नहीं जायेगी।

एक प्रश्न मन में कई बार आता है : भगवान् को हम अपना एकमात्र उपजीव्य कैसे माने ? साधना-प्रारंभ में बहुत-सी चीज़ों की इच्छा हो जाती है। शुरू-शुरू में जब परमेश्वर की उपासना करते हैं क्या तब भी हमारे अन्दर उनमें वास्तविक उपजीव्यभाव आ सकता है ? यह कई बार शंका होती है। शास्त्रकार कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि तुम उनको सचमुच उपजीव्य मानो तभी वे उपजीव्य हों। शाखा का उपजीव्य वृक्ष है, चाहे शाखा इस बात को समझे या न समझे, शाखा का पोषण सिवाय उस वृक्ष या तने के और कोई करने वाला नहीं है। समझे तो भी उतना ही उपजीव्य और न समझे तब भी उतना ही उपजीव्य है। इसलिये

जगद्धर ही कहते हैं—

'अन्यार्थमप्युपहिता शितिकण्ठसेवा
लोकस्य कल्पलतिकेव फलत्यवश्यम्।
उद्दीपिता खलु परस्य कृतेऽपि येन
तस्यापि दर्शयति दीपशिखाऽर्थसार्थम्।।'

यदि किसी अन्य उद्देश्य से या किसी अन्य के द्वारा प्रवृत्त होकर भी तुम इस प्रकार से परमेश्वर का आश्रयण लो तो भी तुम्हारा कल्याण होना ही है। अन्य अर्थ से जो तुम्हारा किया हुआ परमेश्वर का सेवन है वह तुम्हें भी फलेगा। यहाँ 'अन्यार्थ' के दोनों तात्पर्य हैं; यजमान ने ब्राह्मण को अनुष्ठान दे दिया कि 'हमारे लिये रुद्राभिषेक कर देना', यह यजमान के लिये किया हुआ कर्म है। अथवा यजमान बनकर स्वयं ही भगवान् शंकर का अभिषेक कर रहा है कि 'मुझे धन की प्राप्ति हो जाये' यह भी अन्यार्थ है, अन्य अर्थात् धन के लिये कर रहा है। इसलिये चाहे दूसरे यजमान के लिये कर रहे हो और चाहे धन आदि किसी अन्य प्रयोजन के लिये कर रहे हो, ऐसा भी जो किया हुआ भगवान् नीलकंठ का, महेश्वर का सेवन है वह वैसे ही है जैसे कल्पवृक्ष या कल्पलता के सामने तुम किसी अन्य काम से गये। गर्मी लग रही थी इसलिये छाया लेने के लिये उसके नीचे बैठ गये, यहाँ अन्य उद्देश्य है। लेकिन क्या वहाँ बैठने पर तुम्हारे मन में आई हुई कामना पूरी नहीं हो जायेगी ? इसलिये कहते हैं कि भगवान् ज़रूर ही फल देते हैं। दूसरा दृष्टांत देते हैं : तुम घर जा रहे हो, तुम्हें रास्ते का अंदाज़ है लेकिन किसी नये आदमी को रास्ता दिखाने के लिये तुमने टार्च हाथ में ले लिया। जब तुम रास्ते पर

चल रहे हो तब यद्यपि वह दीपशिखा या बैट्री तुमने दूसरे के लिये उद्दीपित की लेकिन वह दीपशिखा क्या तुम्हें रास्ते में चलते हुए गड्ढे और साँप आदि को नहीं दिखायेगी ? ऐसा तो नहीं कि 'मैंने तो बैट्री इसके लिये जलाई थी, मुझे थोड़े ही रास्ता दीखेगा।' इसलिये चाहे यजमान अथवा धन के लिये भी तुमने भगवान् शंकर का पूजन किया तो वह अपना फल उत्पन्न न करे यह कैसे हो सकता है ?

और भी आगे कहते हैं—

'दम्भादपि ध्रुवमनंगजितः प्रयुक्तः
सेवाविधिः प्रमदसम्पदमादधाति।
वेश्याजनस्य न सुखाय किमंगराग-
मालादुगूलधवलः कृतकोऽपि वेषः।।'

मान लो तुमने ढोंग रचने के लिये ही भगवान् शंकर का पूजन किया तो क्या उसका फल होगा ? कुछ लोग कहते हैं कि ढोंग करोगे तो उल्टा पाप होगा। अन्यत्र तो ढोंग करने से पाप होगा, इसमें संदेह नहीं, लेकिन भगवान् शंकर के पूजन में पाप नहीं होगा। इसलिये दंभ,. ढोंग, दिखावे या पाखण्ड के कारण भी यदि तुमने अनंगजित् भगवान् शंकर की सेवा की, उनकी तरफ अपनी वृत्ति को बनाया, तो भी वह अत्यंत हर्ष देने वाली सम्पत्ति ज़रूर दे देंगे, निस्संदेह, ध्रुव अर्थात् निश्चित रूप से देंगे ही। उसमें वेश्या का दृष्टांत देते हैं : जैसे वेश्या शृंगार करती है, अंगराग चंदन इत्यादि अथवा अत्तर-फुलेल इत्यादि लगाती है, बढ़िया सुन्दर माला वस्त्रादि पहनती है। सब किस लिये पहनती है ? वह कोई अपने शौक के लिए थोड़े ही पहनती है। अपने लिये नहीं बल्कि सब

ग्राहकों के लिये पहन रही है। लेकिन क्या चंदन इत्यादि लगने पर उसे ठंडक महसूस नहीं होगी या माला पहनने पर उसे अच्छा नहीं लगा अथवा सुन्दर वस्त्र इत्यादि पहनने पर उसे शरीर में सुखद महसूस नहीं होगा ? जैसे यद्यपि वह वेश्या केवल पाखण्ड के लिये, ठगने के लिये यह सब काम कर रही है, उसे तो अपने ग्राहक को ठगना है, तथापि ठगने के लिये किया हुआ काम भी उसे फलदायक हो जाता है, सुख पहुँचा देता है। इसी प्रकार परमेश्वर के उपजीव्यभाव को मानकर करो तब ही फल हो यह नियम नहीं।

'यद्यर्चितः स भगवानपि जीविकार्थं
तत्राऽपि किल्बिषविपाकमपाकरोति।
योऽपि द्युसिन्धुपयसि प्लवते निदाघ-
घर्मच्छिदे भवति सोऽपि हि धौतपापः।।'

गर्मी के मौसम में बहुत से लोग हरिद्वार इसलिये नहीं जाते हैं कि परमेश्वर या गंगा में उनकी श्रद्धा है। वे तो वहाँ इसलिये जाते हैं कि दृश्य सुन्दर है, सरकार ने बहुत सुन्दर वहाँ अब घाट इत्यादि बनवा दिये हैं, घूमने के लिये जगह अच्छी बनवा दी है और गंगा जी में गोता लगाने पर शरीर को ठंडक मिलती है। गंगास्नान के लिये जाने वाले तो वही लोग अब भी जाते हैं जो पहले जाते थे। बाकी सब कहते हैं कि अब जगह वहाँ सुन्दर बन गई है, देखने के लायक है। इसका मतलब है कि परमेश्वर या गंगा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन वहाँ जाकर गंगा में गोता लगायेंगे तो क्या उनके पाप नहीं धुल जायेंगे ? उद्देश्य उनका भले ही दूसरा है। इसलिये परमेश्वर के उपजीव्यभाव को

समझ कर करो तो और न समझकर करो तो, फल अवश्यंभावी है, फल को तो वह उत्पन्न करेगा ही।

यह जो सर्वव्यापक महद्यक्ष है यह कभी किसी कार्य-कारणभाव में न आकर अपने उपजीव्यभाव को प्रकट करता है। प्रायः मनुष्य के सोचने का तरीका यह रहता है कि इस कारण से यह कार्य हुआ। हमेशा देखोगे कि दो-चार स्तरों तक तो 'अमुक कारण, अमुक कार्य' ऐसा पाओगे पर फिर अकस्मात् देखोगे कि वह नियम काम नहीं करेगा। जैसे मान लो सिर में दर्द है तो ऐस्प्रो ले ली, सिर-दर्द ठीक हो गया। विश्वास जमा कि सिरदर्द की दवा ऐस्प्रो है। दो-चार बार तो ऐसा होगा लेकिन फिर ऐस्प्रो लेते भी रहोगे पर कुछ नहीं होगा। डाक्टर से पूछोगे 'आपकी बताई दवाई ऐस्प्रो काम नहीं करती ?' तो वह कहेगा 'ऐसा करो, नावल्जीन ले लो।' साधारण आदमी समझता है कि दवाई बदल गई। विवेकी समझता है कि कार्य-कारणभाव है नहीं। जब तक परमेश्वर की इच्छा थी कि ऐस्प्रो से ठीक हो तब तक उससे ठीक हुआ, अब यदि उसकी इच्छा हो गयी कि नावल्जीन से ठीक हो तो उससे ठीक होगा और थोड़े दिनों के बाद उसकी इच्छा होगी तो क्रोसीन से ठीक होने लगे जायेंगे ! अनुगत कारण कौन-सा है ? आदमी व्यापार करता है, कभी माल खरीदता है तो फायदा होता है, कभी बेचता है तो फायदा होता है, यद्यपि दोनों एक-दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध हैं। विनिगमना क्या करोगे कि कैसे हुआ ? सौदा लेकर व्यापारी उस पर बैठा रहता है अर्थात् बेचता नहीं घर में रख देता है तो भी फ़ायदा होता है। बैंक वाले रुपया माँगें तो जल्दी बेचना पड़ेगा। किसी समय बैठा रहेगा तो दीवालिया भी हो जायेगा। कलकत्ते

में एक व्यापारी करोड़पति थे। अब तो उनका शरीर शांत हो गया, बहुत बड़े आदमी थे। बड़े धार्मिक व्यक्ति थे, बड़ी धर्मशालायें बनाई। एक बार उन्होंने 'इंडियन कॉपर' का ताँबा खरीद कर रख दिया, सोचा अब भाव बढ़ेगा, अब बढ़ेगा। लेकिन सौ रुपये की खरीदी हुई चीज़ चार आने हो गई ! दीवालिया हो गये। उन्हीं के मकान में एक किरायेदार रहते थे। उसने छः आने सेर सिंकोना खरीदा, उसी समय विश्वमहायुद्ध हुआ और उसका भाव बढ़कर आठ रुपया सेर हो गया ! उसकी कुनैन बनती है, बर्मा में उसकी ज़रूरत थी, और कहीं था नहीं। वह उसी में करोड़पति हो गया। इसमें क्या कार्य-कारणभाव मानोगे ? जैसे-जैसे मनुष्य इस पर विचार करता है वैसे-वैसे उसकी समझ में आ जाता है कि कभी ऐस्प्रो से तो कभी नावल्जीन से तो कभी क्रोसीन से ठीक हो जायेगा। कभी खरीदने से लाभ हो जायेगा और कभी बेचने से लाभ हो जायेगा, कभी स्टाक रखने से और कभी स्टाक निकालने से फ़ायदा हो जाता है। क्या कारण है कुछ पता नहीं लगता। असली कारण एकमात्र शिवेच्छा है तदतिरिक्त और कोई कारण नहीं है।

देवताओं ने अमृतमंथन किया, उसमें से भयंकर विष निकला। जब भयंकर विष निकला तब सोचा गया कि इस विष का पान कौन करे ? बढ़िया-बढ़िया चीज़ लेने वाले तो संसार में बहुत-से होते हैं। कौस्तुभमणि और लक्ष्मी निकली तो भगवान् विष्णु ने कहा कि 'हम रख लेंगे।' ऐरावत हाथी और उच्चैःश्रवा घोड़ा निकला तो इंद्र ने रख लिये। लेकिन विष को कौन ग्रहण करे? भगवान् विष्णु ने कहा कि 'वे उधर भगवान् शंकर बैठे हैं; अमृत

मंथन किया गया है, इन्हें भी तो कुछ मिलना चाहिये, अब तक इन्हें कुछ नहीं मिला है।' भगवान् विष्णु के साथ सब लोग गये और दण्डवत् प्रणाम करके खूब प्रेम दिखाया। उन लोगों से भगवान् शंकर ने पूछा कि क्या करना है ? उन्होंने कहा कि 'यह जहर पीना है।' भगवान् शंकर पी गये। बाद में अमृत निकला तो देवताओं ने पी लिया, दैत्यों को नहीं दिया, दोनों का युद्ध हुआ। सब कथा जानते ही हो। युद्ध होकर देवता जीत गये क्योंकि वे तो अमृत पिये हुए थे। जब जीत गये तब उनके मन में हुआ कि सब दैत्यों को *हमने* खतम कर दिया इसलिये हमारे जैसा कौन है ! विष्णु इत्यादि जितने भी देवता थे वे सारे अतिगर्वित हो गये कि 'हमारे जैसा जीतने वाला कोई नहीं। हमने सब दैत्यों को खतम कर दिया।' भगवान् शंकर को वे लोग भूल गये। जब जीते तो *हम* जीते।

भगवान् शंकर ने विचार किया कि दैत्यों के नाश का हेतु तो उनका गर्व ही था। अब ये भी गर्व कर रहे हैं तो कम से कम इन्हें एक बार समझाना चाहिये। भगवान् शंकर किसी के गर्व को नहीं रहने देते। भगवान् शंकर सबके अधीश्वर हैं और गर्व का नाश करते हैं। भगवान् शंकर सारा काम स्वयं तुम से ही करवाते हैं। तुम्हारे हाथ से ही दान करवाते हैं, स्वयं अपने हाथ से आकर दान थोड़े ही करते हैं। सारा काम तुम्हारे हाथ से करवाते हैं। वे इतना ही कहते हैं कि 'केवल इस उपजीव्यभाव को याद रखना कि हम करवाते हैं। हमारा-तुम्हारा उपजीव्य-उपजीवकभाव है। उसकी जगह बीच में गर्व को मत ले आओ कि 'मैं करने वाला हूँ।' वेदांत की भाषा में कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान मत लाओ।'

क्योंकि वह गर्व को हरण करने वाले हैं इसलिये भगवान् शंकर ने यक्ष का रूप धारण किया जैसा यहाँ श्रुति में बताया 'महद्-यक्ष।' असली महद्यक्ष तो सर्वत्र मौजूद है ही। जहाँ देवता थे वहीं यक्षरूप से भगवान् शंकर प्रकट हो गये। देवताओं से प्रश्न किया 'तुम लोग यहाँ बड़े ऐंठे खड़े हो, क्या बात है ?' जब आदमी गर्व में होता है तब उसका खड़ा होना, उसकी आँखें इत्यादि सब चीज़ें बदल जाती हैं ! भगवान् ने पूछा 'तुम इतने तने क्यों खड़े हो, क्या बात है ?' उन्होंने कहा 'हम सब बड़े-बड़े देवता लोग हैं, हमें नहीं जानते ? जितने तुम्हारे संसार में दैत्य थे उन्हें हमने मार दिया, अब सब सुखी रहो।' उस यक्ष ने कहा ''हम लोगों ने ऐसा कर लिया' यह मत कहो। उपजीव्य-उपजीवकभाव रखो। गर्व मत करो। एकमात्र जो परम प्रभु है वही कर्त्ता-भर्त्ता और हर्त्ता है।' सब देवता कहने लगे 'वह परम प्रभु हम लोग ही तो हैं। सब दैत्यों को हमने मारा इसलिये हम ही वह हैं; और कौन परप्रभु है ?'

उस यक्ष ने कहा 'बड़ी अच्छी बात है। यह लो मैं एक तिनका सामने रखता हूँ।' वहीं घास का एक तिनका रख दिया और कहा 'तुम सब अपने शस्त्र चलाकर इसको काटकर दिखाओ तो हम तुम्हें सशक्त मान लेंगे। तुम लोग कहते हो कि 'संसार के सारे दैत्यों को मारकर सारे संसार को सुखी कर दिया, हमसे बड़ा और परप्रभु कौन है ?' तुम इस तिनके को काटो तो हम मान लेंगे।' उन लोगों ने विचार किया कि तिनके को तो तुरंत काट देंगे, इसमें क्या देरी लगती है ! साधारण आदमी भी हाथ से काट देता है। पहले तो छोटे-छोटे देवताओं ने कोशिश की लेकिन वह क्या कटना

था ! वह तो शंकर जी का रखा हुआ था। जब छोटों से नहीं हुआ तब इंद्र ने कहा कि 'हम वज्र मारकर देखते हैं।' सब देवताओं ने जोर भी लगा दिया, अपने को वीर मानने वाले विष्णु इत्यादि जितने भी वहाँ देवगण थे, बड़ा पुरुषार्थ करके जितने भी उनके आयुध थे, उन सारे आयुधों को चलाया, विष्णु ने चक्र चलाया, वरुण ने पाश, इन्द्र ने वज्र चलाया, सब ने सारे शस्त्रों को फैंक-फैंक कर प्रयत्न कर लिया, लेकिन सब प्रयत्न विफल हुआ। वह तिनका तो वैसा का वैसा बना रहा। अब वे सारे मन में सोचने लगे—'यह क्या हो गया ? हम लोग स्वयं को अपने मन में बहुत शक्तिशाली समझते थे लेकिन हमारी शक्ति तो कुछ नहीं निकली।' देवताओं को विस्मय हुआ। उस विस्मय को दूर करते हुए आकाशवाणी ने कहा 'यह जो तुम्हारे सामने खड़े हैं ये ही भगवान् शंकर, महेश्वर परमेश्वर हैं। ये ही कर्त्ता-भर्त्ता-हर्त्ता सब हैं। तुमने जो अपने मन में समझ लिया कि 'मैं करने वाला, मैं दैत्यों का नाश करने वाला, मैं सारे संसार को सुखी करने वाला', यह जो सोचा, इसी भ्रम को मिटाने के लिये तुम्हें यह लीला दिखाई।'

भगवान् शंकर की माया शक्ति है ही ऐसी। माया शक्ति क्या है ? यह नहीं कि बंधन में डालने वाली कोई औरत खड़ी हुई है ! माया कहते ही लोग औरत का विचार करने लगते हैं। माया मायने अज्ञान। तुम जब अपने हाथ से वजन उठा रहे हो तो 'मैं उठा रहा हूँ' यह अज्ञान है। इसी से मन में कर्त्तृत्व आता है। 'दूसरे को अपने हाथ से मैंने मुक्का मारा'—यह अज्ञान मनुष्य में कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व लाता है। 'मैंने कमाया तब घर वाले खा रहे हैं' यह अज्ञान है। तुम्हारे हाथ से बाल्टी उठाने वाला भी वही

है, उसकी शक्ति से उठाया; तुम्हारे हाथ से मुक्का मारने की शक्ति वाला भी वही, कमाकर घर लाकर देते हो, कमाने की शक्ति वाला भी वही है। इसी बात का अज्ञान ही माया है। जब कठिनाई आती है तब थोड़ी देर के लिये आदमी मन में कुछ सोच भी लेता है, लेकिन जैसे ही सफलता मिलती है वैसे ही अपने शरीर-मन से स्वयं को कर्त्ता समझने लगता है; सोचता है कि 'मैंने किया—इसी के कारण हो गया।' यही उसकी माया है। अगर वे सामने आकर खुद करते तो हम लोगों को अज्ञान नहीं होता लेकिन चूँकि तुम्हारे द्वारा करते हैं इसलिये अज्ञान होता है। एक मोटा दृष्टांत ले लो : तुम लोग अपने व्यापार में सरकार से रुपया लेते हो वह तो तुम्हें दीखता है कि सरकार ने रुपया दिया। अथवा ऋण लो तो दीखता है। लेकिन तुम्हारा व्यापार करने के लिये जो ट्रक सामान लेकर आता है उसके लिये सड़क बनाई गई—उससे तुम्हें नहीं लगता कि तुम्हारे लिये सरकार ने कुछ किया ! तुम्हें पानी की आपूर्ति के लिये जो स्रोत बनाये वे तुम्हें नहीं लगता कि सरकार ने कुछ किया। जहाँ साक्षात् करता हुआ दीखता है वहाँ तो आदमी को भान रहता है और जहाँ ऐसे नहीं दीखता वहाँ भ्रम हो जाता है। परमेश्वर जितना कुछ करता है वह सब तुम्हारे ही द्वारा करता है। इसीलिये यह भ्रम हो जाता है। यही अज्ञान है। इस माया के प्रभाव से ही सब लोग मोह में पड़ जाते हैं, अविवेक में पड़ जाते हैं।

उस उपजीवन का स्वरूप क्या है ? ज्ञान ही उसका स्वरूप है। यह जो उपजीव्यभाव का ज्ञान है, 'उसकी शक्ति से यह हो रहा है', यह ज्ञान ही उपजीवन है। संसार के सब ज्ञानों को किया

जा रहा है क्योंकि आत्मरूप ज्ञान अन्दर बैठा हुआ है। आदमी सोचता है कि 'आँख से देख रहा हूँ।' यदि ऐसा हो तब तो मुर्दा भी देख ले ! आजकल स्कूल में बच्चों को पढ़ाते हैं—'आँख क्या है ? एक फोटोग्राफिक कैमरा है। हाथ क्या है ? पुली और लीवर से बना हुआ यन्त्र है।' लेकिन यह नहीं समझते कि हज़ारों फोटोग्राफिक कैमरा लगा दो, क्या किसी फोटो का *ज्ञान* उन्हें हो रहा है ? आँख का देखना फोटोग्राफिक कैमरे का देखना नहीं है। वहाँ तो फिल्म पर छाया है, देख कौन रहा है ? ऐसे ही हाथ 'पुली-लिवर-सिस्टम' चाहे बता दो लेकिन ऐसे हज़ारों पुली-लिवर लगा दो तो क्या उठा लेगा जब तक कि *उठाने वाला* न हो ? साधारण आदमी को भ्रांति ज्ञान होता है कि 'आँख से देखते हैं।' दीखता तो अंदर बैठे हुए आत्मतत्त्व से ही है। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं' वह है तब सब प्रकाश है।

आकाशवाणी ने कहा 'हे देवताओ ! यह ज्ञान ही उनका स्वरूप है।' इस बात को समझकर उन सबने भगवान् शंकर को प्रणाम किया, स्तुति की और पहचान लिया। अब ठीक समझ में आया कि गर्व बेकार था। यह समझकर उन्होंने प्रार्थना की कि 'हमारे इन सब अस्त्र, शस्त्र और उनमें रहने वाली शक्तियों के प्रवर्त्तक तो तुम हो। उन सब चीज़ों को करने वाले ही नहीं, निवर्त्तक भी तुम ही हो।' हटाने वाले भी अर्थात् ऐस्प्रो के अंदर सिर दर्द को दूर करने की शक्ति भी तुम्हारी ही है और ऐस्प्रो से सिर दर्द दूर न करने वाली, निवृत्ति वाली शक्ति भी तुम्हारी ही है। यह सब प्रवर्त्तन-निवर्त्तन करते हुए भी उस परमात्मा का कुछ घटता नहीं है। यह नहीं कि इतनी प्रवृत्ति कर ली तो उनकी

शक्ति कुछ कम हो गई ! वही अद्वितीय सर्वव्यापक है। यही वह यक्षस्वरूप है। जब इस उपजीव्य-उपजीवकभाव को समझ लिया कि वृक्ष की शाखाओं की तरह ही हमारी सत्ता है, तब फिर निरंतर हमारे अंदर आनंदरूप परमात्मा का जो भूमा-रूप है, उसका स्फुरण होने लगता है।

इन आठ प्रकार के साधनों में एक या अनेक अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार करने से उस भूमा आनंदभाव की प्राप्ति हो जाती है।

प्रवचन—१९

सृष्टि समझाने के लिये सृष्टि से पूर्व की अवस्था बताना आवश्यक समझ कर श्रुति ने सृष्टि के कारण पर प्रकाश डाला। सृष्टि का कारण सत् और असत् दोनों से विलक्षण जो अनिर्वाच्य तत्त्व है उसे बताया। कार्य भी असत् हो तो उसकी सृष्टि सम्भव नहीं और सत् हो तो उसकी भी सृष्टि सम्भव नहीं। असत् की सृष्टि इसलिये सम्भव नहीं कि वह है ही असत्, असत् मायने ही 'नहीं है' और जो नहीं है वह कभी बन नहीं सकता क्योंकि उसकी जाति ही है 'नहीं', जैसे गधे के सींग। जो सत् है वह बन नहीं सकता क्योंकि वह तो पहले ही है। इसलिये जगत् का स्वरूप सत्-असत् से विलक्षण अतएव इसका कारण भी सत्-असत् से विलक्षण है।

'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' से बताया कि कारण सत् और असत् दोनों से विलक्षण है। प्रश्न हुआ कि यद्यपि सत्-असत् से विलक्षण ये नाम-रूप सृष्टि से पूर्व न रहे हों तथापि व्यावहारिक कुछ तो रहा होगा ? उसका जवाब दिया 'नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।' पारमार्थिक तो एक ब्रह्म ही वहाँ था। उस समय

व्यवहारयोग्य कुछ नहीं था क्योंकि व्यवहारवाला ही नहीं था। न रज अर्थात् लोक थे और न परव्योम अर्थात् जीव थे। न दृश्य था न द्रष्टा था, न भोक्ता और न भोग्य था। इसलिये व्यावहारिक कुछ नहीं था। जीव और जगत्, दृश्य और द्रष्टा ही व्यावहारिक हैं।

अगला प्रश्न होता है कि माना दृश्य और द्रष्टा नहीं थे, पर आगे प्रकट हुए तो वहाँ सब ढका हुआ रहा होगा ? 'किमावरीवः कुह कस्य शर्मन् ।' तेल निकलने के पहले तेल नहीं था। यदि पहले ही तेल होता तो पेरना क्यों पड़ता ? क्यों घानी के बैल को घूमना पड़ता ? यदि कहो तेल नहीं था तो भी घानी के बैल का घूमना व्यर्थ होता क्योंकि जो नहीं है वह पेरने से निकलता नहीं जैसे तिल पेरने से घी नहीं निकलता क्योंकि तिलों में घी है नहीं। तिल की अवस्था में न कह सकते हो 'तेल था' और न कह सकते हो तेल नहीं था।' तेल तेल के रूप में नहीं भी था, तिलरूप में था भी। अब तक इतना विचार कर लिया।

आगे विचार करो कि वस्तुतः क्या था ? तेल खली के द्वारा ढका हुआ था। 'न था और न नहीं था' का मतलब है कि किसी से ढका हुआ था। खली के द्वारा आवृत था। इसी प्रकार मक्खन छाछ के द्वारा ढका हुआ था तब मथ कर मक्खन को बाहर निकालना पड़ा। इसी प्रकार यदि यह सृष्टि उस समय न थी, न नहीं थी तो ढकी रही होगी, कोई इसे ढाँकने वाला होगा ? श्रुति ने कह दिया—'किमावरीवः' वहाँ तो एक अद्वितीय शुद्ध चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मा ही है, कोई ढाँकने वाला कहाँ से आयेगा? कोई मनुष्य हो तो चालीस इंच की कमर वाला और

उसे तुम अड़तीस इंच चौड़ा कपड़ा दे दो तो वह क्या करेगा ? सामने, अगल बगल पीछे कहीं न कहीं से नंगा दीखेगा, क्योंकि चालीस इंच कपड़ा हो तब पूरा ढके। इसी प्रकार उस शुद्ध ब्रह्म से और कौन व्यापक चीज़ है जो उसे ढाँके ? इसीलिये इस मंत्र के द्वितीयार्द्ध का तात्पर्य बताते हुए भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

'किन्त्वर्वागेव शुक्तौ रजतवदपरो नो विराड् व्योमपूर्वः
शर्मण्यात्मन्यथैतत् कुहकसलिलवत् किं भवेदावरीवः।।'

क्योंकि उससे ज़्यादा व्यापक कोई चीज़ नहीं और है वहाँ शुद्ध चिन्मात्र इसलिये कोई उसे ढाँकने वाला हो तो 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति खंडित हो जायेगी। श्रुति कहती है कि वहाँ एक अखण्ड, सजातीय-विजातीय-स्वगत सारे भेदों से रहित शुद्ध चिन्मात्र था। तब फिर उसे कौन ढाँके, कैसे ढाँके ? 'शर्मन्' अर्थात् शर्मणि ब्रह्मणि, किम् आवरीवः अर्थात् उस परब्रह्म परमात्मा रूपी अधिष्ठान के ऊपर क्या ढक्कन लगा सकते हो ?

यदि ऐसा था तो उसमें से यह निकला कैसे ? विचित्र प्रश्न है। तिल में तेल के दृष्टांत से समझाया लेकिन वहाँ लगता है कि खली से ढका हुआ तेल था, पेरने से जब खलीरूप ढक्कन हटा तब तेल प्रकट हुआ। ऐसे ही उत्पत्ति से पूर्व भी संसार रहा तो होगा ही—यह शंका होती है। इसके समाधान में श्रुति बड़ा सुंदर दृष्टांत देती है : 'कुहकस्य अंभः' उसी को भगवान् भाष्यकार ने 'कुहकसलिलवत्' कहा है। कुहक ठगने वाले को कहते हैं। कुह मायने जिसे कुहरा कहते हो। ठगने वाला हमेशा तुम्हारी आँखों के सामने कुछ न कुछ पर्दा डाल देता है, कुहरा बना देता है।

इन्द्रजाल दिखाने वाला जादूगर तुम्हारी आँखें बाँध देता है। कैसे बाँधता है ? किसी न किसी तरह तुम्हारी आँखों का काम करना बाँधता है।

भगवान् कृष्ण ने जिस समय जयद्रथ को मरवाना था तब उपस्थित सूर्य को कुहरे से ढाँक दिया था। अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि 'यदि आज शाम तक जयद्रथ को नहीं मारूँगा तो मैं स्वयं जल मरूँगा।' प्रतिज्ञा करने के साथ ही भगवान् ने उसे टोका भी कि 'क्या बोल गया ?' अर्जुन ने कहा कि 'जो बात मुँह से निकल गई सो निकल गई।' भगवान् ने रात्रिभर उसे बैठाकर तपस्या करवाई। गोबर से ज़मीन लिप्त कर उस पर बैठाकर रात भर उससे भगवान् पशुपति की उपासना कराई। सवेरे कौरव लोगों ने पूरी तैयारी की। ऐसा व्यूह बनाया कि चाहे जितना प्रयत्न करो उसमें प्रवेश करना भी मुश्किल था। अर्जुन ने जबर्दस्त युद्ध किया। जो उसकी एक प्रतिज्ञा थी उसे भी छोड़ा। अर्जुन की प्रतिज्ञा थी 'न दैन्यं न पलायनं' 'युद्ध के अंदर जो मुझे आह्वान करेगा उससे कभी मैं मुँह मोड़ कर जाऊँगा नहीं।' व्यूह के द्वार पर उनके गुरु द्रोणाचार्य खड़े हो गये। सबने पहले से हिसाब लगा रखा था कि 'इतने घण्टे तो मैं ही निकाल दूँगा।' भगवान् ने अर्जुन से कहा 'अब यहाँ से चल।' अर्जुन ने कहा 'मेरी प्रतिज्ञा है कि सामने आ रहे युद्ध वालों को मैं छोड़ूँगा नहीं।' भगवान् ने कहा 'अरे गुरुजनों के सामने प्रतिज्ञा की अड़ थोड़े ही रखी जाती है। इन्हें नमस्कार करो और चलो यहाँ से। दीनता तो वहाँ बुरी होती है जहाँ कोई दूसरा हो, इन्हें तो नमस्कार करके आगे चलो।' द्रोणाचार्य समझ गये कि बात क्या है, कहने लगे 'तू कहता था

युद्ध के बीच से नहीं जाऊँगा ?' अर्जुन ने कहा 'गुरुओं से कोई युद्ध हुआ करता है !' उसके बाद अर्जुन ने भंयकर युद्ध किया। अट्ठारह अक्षौहिणी में से ग्यारह अक्षौहिणी सेना दुर्योधन के पास थी और सात अक्षौहिणी युधिष्ठिर के पास थी। उस दिन अर्जुन ने अकेले ही एक दिन में सात अक्षौहिणी सेना मार डाली। 'अक्षौहिणी सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः।' ग्यारह में से सात एक दिन में मारी। पाण्डवों की पूरी फौज उतनी थी। बाकी सत्रह दिन में सबने मिलकर विरोधियों की चार अक्षौहिणी सेना मारी। उस दिन अर्जुन का पराक्रम प्रबल था।

इतने पर भी जब अर्जुन जयद्रथ तक पहुँचा तब सायंकाल का समय आ गया। सम्भावना हो नहीं रही थी कि जयद्रथ मर पायेगा क्योंकि उसे छिपाकर रखा गया था। भगवान् ने विचार किया कि अर्जुन तो बस युद्ध में अटका रहेगा, जयद्रथ तक पहुँचेगा ही नहीं तो उसे मारेगा क्या ? कृष्ण तो कहे ही जाते हैं कुहकशिरोमणि ! उन्होंने अपने चक्र के द्वारा सूर्य को आच्छादित कर दिया। सूर्य ढक गया। सबको ऐसी प्रतीति करा दी कि सूर्य डूब गया। सूर्य का दीखना बंद हुआ तो शाम हो गई। सब कहने लगे 'अर्जुन ! देख ले, सूर्य तो डूब गया।' अर्जुन का मुँह छोटा हो गया। भगवान् ने कहा 'यह तो सब होता ही रहता है।' इतने बड़े भयंकर युद्ध में वह व्यूह ऐसा प्रबल बना था कि भीम और सात्यकी को छोड़कर अन्य कोई पाण्डव पक्षीय योद्धा उनके पास नहीं पहुँच पाया था। उन सबने प्रबल प्रयत्न किया कि अर्जुन की सहायता को पहुँचें लेकिन केवल सात्यकी और भीम दो ही पहुँचे। प्रतिज्ञानुसार जल-मरने के लिये अर्जुन चिता की तैयारी

करने लगा। चिता के लिये लकड़ी का जुगाड़ दुर्योधन ने भी कर दिया ! दुश्मन भी मदद कर रहे थे कि इसकी प्रतिज्ञा पूरी हो जाये ! चिता तैयार हो गई, सब लोग तमाशा देखने को तैयार हो गये कि अर्जुन जलेगा। उस तमाशे को देखने जयद्रथ भी आ गया। जैसे ही जयद्रथ उस तमाशे को देखने आया, भगवान् ने अर्जुन से कहा 'तैयारी कर ले।' अर्जुन ने पूछा 'अब क्या होना है ?' भगवान् ने कहा—'सो तो बाद में पता लगेगा, सावधान पहले हो जा।' भगवान् ने चक्र को वापिस हटा लिया। जैसे ही चक्र हटा, वैसे ही सूर्य दीखने लग गया। उसी समय जिस पाशुपतास्त्र को रातभर तैयार किया था अर्जुन ने, उसका प्रयोग किया। जयद्रथ को एक विचित्र वरदान मिला हुआ था कि जब इसका सिर ज़मीन पर गिरेगा तब जो इसके सिर को गिराने का कारण बनेगा उसके सिर के भी सौ टुकड़े हो जायेंगे ! यह अंतिम उपाय जयद्रथ के हाथ में था, कि उससे भी अर्जुन नष्ट हो सकता था। लेकिन यह बात भगवान् ने पहले ही अर्जुन को कह दी थी कि 'देखना, निशाना ऐसा लगे कि कुरुक्षेत्र में कटा हुआ जयद्रथ का सिर सिन्धुदेश के अन्दर सिंधु नदी में तपस्या कर रहे इसके पिता की गोद में जाकर गिरे।' वे उस समय सिन्धु देश में (कराची के आसपास) तपस्या कर रहे थे। एक पत्थर फैंककर दो चिड़ियाँ भगवान् को मारनी थीं। जयद्रथ का पिता बड़ा प्रबल प्रतापी था जो शाप में भी और युद्ध में भी समर्थ था। इसलिये वह भी साथ में मरे तभी तो काम बने। अन्यथा जयद्रथ को मारने वाले को वही समाप्त कर देता, अर्जुन के लिये समस्या बनी रह जाती। इसलिये जयद्रथ का सिर ऐसा काटा कि वह उसके पिता की गोद में जा कर गिरा।

संध्या का समय था, जिस समय सूर्य अस्त होता है उसी समय अंतिम अर्घ्य दिया जाता है। जैसे ही खून से लथपथ कटा हुआ सिर उनकी गोद में गिरा, वे घबराये कि 'क्या आकर गिरा', तुरंत खड़े हो गये। इसी से वह सिर ज़मीन पर गिरा तो उनके सिर के भी सौ टुकड़े हो गये ! एक ही वार में दोनों काम बना दिये। इसे इंद्रजाल कहो, चाहे आँखें बाँधना कहो, किसी भी प्रकार, चाहे चक्र के द्वारा चाहे किसी अन्य चीज़ के द्वारा, तुम्हारी आँखों के सामने एक कुहरा-सा आ जाये—यही ऐन्द्रजालिक का काम है।

'कुहकस्य अंभः' इसी प्रकार मृगी का जल बनता है। कुहक से बना हुआ अर्थात् माया या ठगी से बना हुआ जल अर्थात् मृगमरीचिका है। मारवाड़ देश में जाओ तो दूर तक तुमको जल दिखाई देगा, लगेगा 'इस सरोवर में स्नान करके ठण्डे हो जायेंगे', लेकिन वहाँ पानी का नाम-निशान भी नहीं है। राजस्थान में नहीं भी गये होगें तो मोटर चलाते हुए अलकतरे की सड़क पर देखा होगा : गर्मी के मौसम में सड़क पर जब सूर्य चमक रहा होता है तब दूर में लगता है 'वहाँ पानी बह रहा है'; पास जाओ तो कुछ नहीं। दृष्टांत को ठीक से समझना : बालू में जो तुमको जल दीख रहा है वह जल क्या बालू के कणों में छिपा हुआ है ? उस जल को क्या कोई चीज़ ढाँक रही है कि जिस ढक्कन के खुल जाने से वह पानी दीखता है और फिर ढाँक दिया जाता है ? तिलों के अन्दर तेल तो खली के द्वारा छिपा हुआ है, दही के अन्दर मक्खन तो छाछ के द्वारा छिपा हुआ है, परन्तु यह बताओ कि मृगी का जल किस से ढका हआ है ? क्या वहाँ कोई ढाँकने वाला है ? रस्सी में जो तुम्हें साँप दीखता है, क्या ऐसा होता है कि

वह साँप दीख जाता हो और फिर आवरण पड़ गया तो न दीखता हो ? सीप में जो तुमको चाँदी दीखती है वह चाँदी क्या किसी आवरण से ढकी रहती है ? इसलिये अतिधन्य वेद कहता है कि उस शुद्ध ब्रह्म के अन्दर कोई आवरण नहीं जिसमें यह सारा संसार ढका पड़ा हो। जैसे रस्सी में साँप ढका हुआ नहीं, वैसे ही यहाँ ब्रह्म में जगत् छिपा हुआ नहीं। फिर भी प्रकट होता है। कैसे होता है ? यह आगे बतायेंगे। ढाँकने वाली चीज़ होती क्या है ? वह 'अंभः' शब्द से खुद वेद कह रहा है। अंभ मायने कर्म, वहाँ कर्म भी तो नहीं था जो ढाँकता। जीव स्वभाव से व्यापक है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदांत कोई भी आस्तिक दर्शन ऐसा नहीं जो आत्मा को व्यापक न मानता हो, सभी आत्मा को व्यापक मानते हैं। अनुभवसिद्ध भी यह है। श्रुति कहती है कि मन बहुत तेज़ी से चलने वाला है। जितनी तेज़ी से मन जाता है उतनी तेज़ी से तो और कोई चीज़ नहीं जाती फिर भी जहाँ-जहाँ मन नहीं है वहाँ-वहाँ आत्मा पहले ही पहुँचा हुआ है। ऐसा नहीं होता कि मन पहुँच गया और आत्मा नहीं पहुँचा ! इसलिये आत्मा की सर्वव्यापकता अनुभवसिद्ध है। दूसरी दृष्टि से देखो : आत्मा का चिह्न क्या है ? सत् 'है' ही आत्मा का स्वरूप है। अब यदि कहते हो कि 'कहीं आत्मा नहीं' तो इसका मतलब है कि 'कहीं' कहलाने वाला स्थान है; आगे वहाँ क्या है—नहीं है यह बाद में समझा जायेगा पर 'कहीं' है ज़रूर। 'है' ही तो परमात्मा है ! यदि 'कहीं है' तो यह नहीं कह सकते कि वहाँ परमात्मा नहीं, और यदि 'कहीं' नहीं, तो परमात्मा को कहाँ नहीं बता रहे हो ? जहाँ भी 'है', वहाँ तो आत्मा है ही और जहाँ 'नहीं है' वह स्थान ही जब नहीं, तो

वहाँ परमात्मा होने का सवाल ही नहीं उठता ! व्यापक तो उसी में होगा जो कुछ हो, 'नहीं' में क्या व्यापक होना है ? इसलिये आत्मा की व्यापकता युक्ति, अनुभव और श्रुति तीनों तरह से सिद्ध है।

प्रश्न होता है कि यदि आत्मा सर्वव्यापक है तो फिर हम लोगों को सब जगह की बातों का ज्ञान क्यों नहीं होता ? सीधा-सा प्रश्न है; आत्मा ज्ञानरूप, आत्मा व्यापक, तो फिर आत्मा क्यों कहीं जानता है, कहीं नहीं जानता ? इसमें कारण या हेतु क्या है ? कारण यही है कि तुम्हारे कर्म ही उसकी ज्ञान-शक्ति को प्रतिबद्ध करते हैं। तुम्हारा जो पुण्य या पाप कर्म उदय होगा तदनुकूल पदार्थों को तुम जानोगे और जिस के अनुभव के लायक तुम्हारा कर्म नहीं है वह चीज़ ढकी रहेगी। आप लोग तो सत्संगी हो लेकिन कभी अपने किसी कुसंगी मित्र से पूछना जो सिनेमा देखने जाता है। सिनेमा के अन्दर जो कुछ भी तुमको दीखता है वह सारा फिल्म के अन्दर भरा हुआ है। आदि से अंत तक की सारी कहानी का चित्र खींच लिया गया है। भूत वर्तमान भविष्य वहाँ कुछ नहीं है। खिंचा हुआ सारा चित्र उसके अन्दर मौजूद है और जो उसे प्रकाशित करने वाला प्रकाश है वह भी वहाँ वैसा ही मौजूद है। फिर सारा ही एक-साथ क्यों नहीं दीख जाता ? क्योंकि वह रील गोल-गोल बँधी हुई है। उसको जब चलाओगे तो उसी क्रम से एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा चित्र प्रकाश के सामने आयेगा। अब एक कल्पना है : यदि सारी फिल्म-रील को खोलकर लम्बी कर दो, फिर उस पर रोशनी डालो तो बाइस्कोप, चलचित्र नहीं दीखेगा। जब क्रम से देखोगे तब ही दीखेगा, नहीं तो कोई

क्रिया नहीं दीखेगी, केवल सफेद और काला दीखेगा, और कुछ नहीं।

जैसे वहाँ फिल्म की रील है, वैसे ही यहाँ जितने भी अज्ञान के कार्य हैं सारे मौजूद हैं, देखने वाला आत्मा भी है। तुम साक्षी रूप से वैसे ही हो; लेकिन जैसे तुम्हारे कर्मों का क्रम है उसके अनुसार जब जो कर्म उदय होता है तब वह चीज़ दीखती है, बाकी सब ढका पड़ा रहता है। नया कुछ बनना नहीं है, केवल ढका पड़ा है क्योंकि तुम्हारे कर्म उदय नहीं हो रहे हैं। यदि निर्विकल्प समाधि के अन्दर तुम सारी फिल्मों को जोड़ कर देखना चाहो तो क्या दीखेगा ? केवल एक धुँधला मायाविशिष्ट चेतन ही दीखेगा। सारी फिल्म खोलकर वहाँ विशेष जगत् नहीं दीखना है क्योंकि क्रमबद्ध हो तभी वह दीखे। इसी प्रकार एक दूसरा यंत्र होता है 'टेप-रिकार्डर'। जिस क्रम से हम बोल रहे हैं इन शब्दों के भी वह चित्र इसी क्रम से उतार लेता है। पट्टियों पर शब्दों के चित्र उतर जाते हैं। बाद में चलाओ तो वैसी ही बात बोलेगा। एक बार हमने सोचा कि 'बहुत देर तक कहाँ तक सुनेंगे, जल्दी-जल्दी चले तो सारा सुन लें।' उसमें एक खटका लगा भी रहता है जिसे दबाने से वह तेज़ी से चलाया जा सकता है। जब तेज़ चलाया तो उसमें चिड़ियाँ बोलने लग गईं ! ३५ की स्पीड के तवे को (रिकार्ड को) ७५ की स्पीड में बजा लेना, पता लग जायेगा। हमने कहा ये चिड़ियाँ कहाँ से बोलने लग गईं ? किसी ने बताया कि 'यह तेज़ी में चल रहा है इसलिये ठीक नहीं बोल रहा है।' हमने समझ लिया कि यह भी वही सृष्टि वाली बात हुई कि विशिष्ट क्रम से चलेगा तभी अर्थग्रहण होगा, नहीं तो बेकार

है। प्रारब्ध के अनुसार, कर्मभोग के अनुसार वह-वह चीज़ खुलती चली जाती है। ढाँकने वाली चीज़ तो कर्म हैं।

वेद तो 'समाधि भाषा' का प्रयोग करता है इसलिये अंभ को 'कुहकस्य' बताया। ये कर्म जितने हैं ये कुहक हैं अर्थात् भ्रम से तुम्हें दिखाई देते हैं। क्यों ? ये कर्म हैं किसके ? आचार्य सर्वज्ञात्म कहते हैं

'कर्तृ कर्म परिहृत्य नेष्यते कर्म कर्तृरहितं न च क्वचित्।
कर्तृकर्मरहिता न च क्रिया न क्रियाविरहितं क्रियाफलम्।।'

कहीं पर भी कर्म को छोड़कर कर्ता नहीं देखने में आता है। किसी को कर्ता तब तक नहीं कह सकते जब तक पहले कर्म सिद्ध न हो। मोटी भाषा में, कोई कहे 'मैं जा रहा हूँ' अर्थात् मैं गमन क्रिया का कर्ता हूँ। उससे पूछो 'कहाँ को जा रहे हो ?' वह कहे कि 'कहीं को नहीं जा रहा हूँ।' तो इसका मतलब है जा ही नहीं रहा है, बेकार कह रहा है। 'मैं खा रहा हूँ।' क्या खा रहे हो ? 'कुछ नहीं'। कुछ नहीं खा रहे हो तो तुम्हारा कर्तापना कहाँ हुआ ! कभी भी कर्म को सामने रखे बिना, कर्म को यदि हटा दोगे तो कर्ता की सिद्धि नहीं। दूसरी तरफ, कर्ता के बिना कोई कर्म नहीं हो सकता। कोई कहे 'हमारी मोटर चली गई।' 'कौन ले गया ?' 'कोई नहीं ले गया।' मोटर गैराज में बन्द हो, शादी ब्याह में कोई माँगने आये, नहीं देनी हो तो कहते हैं कि 'चली गई !' 'कौन ले गया? उनके यहाँ पता लगावें।' कहते हैं— 'ले तो कोई नहीं गया, मोटर ही चली गई।' तो कोई नहीं मानेगा। इसी प्रकार सब क्रियाओं में समझ लो। कर्म के बिना जैसे कर्ता की सिद्धि नहीं वैसे ही कर्ता के बिना कर्म की सिद्धि नहीं और

जब तक कर्ता-कर्म दोनों नहीं हों तब तक क्रिया नहीं हो सकती। एक खाने वाला और एक जिसको खा रहा है वह भी होगा तभी खाने की क्रिया होगी। इसी प्रकार सब क्रियाओं में समझ लेना। किसी को सूँघोगे, कोई सूँघेगा, तभी सूँघने की क्रिया होगी। कोई बोलेगा, किसी बात को बोलेगा तभी बोलने की क्रिया होनी है। और जब तक क्रिया नहीं होगी तब तक कर्म का फल कहाँ से होगा ! यों कर्ता-कर्म-क्रिया परस्पर सापेक्ष होने से इनका होना ही संभव नहीं फिर भी दीखते हैं तो भ्रम से ही दीख सकते हैं। कर्ता हो, कर्म हो, क्रिया हो तब कर्म का फल प्रारब्ध पैदा हो और तब वह प्रारब्ध किसी चीज़ को ढाँके।

'शर्मणि' उस शुद्ध परब्रह्म परमात्मा के अंदर पहले तो कर्ता ही नहीं, वह तो अद्वितीय है इसलिये कर्ता नहीं। कोई ऐसी चीज़ हो जहाँ वह पहले न हो तब वह उसका कर्म बने। जैसे रोटी थाली में है तब खाने का कर्म बनेगा। पेट में पहुँची रोटी तो खाने का कर्म नहीं बन सकती है ! जैसे कोई कहे 'मैं खा रहा हूँ', क्या? 'कल रात को खाई खिचड़ी खा रहा हूँ !' जो चीज़ तुमसे अलग है वही तुम्हारी क्रिया का विषय अर्थात् कर्म बनेगी। व्यापक होने से उस अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा में कर्म भी नहीं बनता। कर्ता नहीं बनता क्योंकि अद्वितीय है तो क्रिया कहाँ से बनेगी ? और जब क्रिया नहीं तो क्रिया का फल कहाँ से बनेगा ? वह चीज़ कहाँ है जिसके द्वारा उसे ढाँका जाये। ढाँकना असंभव है।

फिर हमें क्यों प्रतीति होती है ? 'कुहकस्य' नहीं हुई चीज़ को हुई मानकर बिना मतलब अपने को कर्मफल का भोक्ता समझते रहते हो। यही तो कुहक है। हो तो तुम शर्मन् लेकिन

कर्ता-धर्ता बन गये हो। शुद्ध चेतन होते हुए भी तुमने कर्मों के साथ अपने को 'कुहकस्य' अर्थात् मिथ्या अभिमान से बाँध रखा है इसीलिये तुम्हें लगता है कि 'मैं कुछ जानता हूँ और कुछ नहीं जानता।'

भगवान् की कुहकता का दूसरा दृष्टांत भी इसी प्रकार का है जैसा अभी जयद्रथ के कथानक से बताया। युद्ध के प्रारंभ में दुर्योधन ने विचार किया कि मेरा शरीर यदि वज्र का हो जाये तो मैं इस युद्ध में बच जाऊँ। उसने सोचा किससे यह प्रश्न पूछें। विदुर के पास गया, पता था कि ये धार्मिक व्यक्ति हैं, भले आदमी हैं। विदुर से जाकर कहा 'मेरी इच्छा है कि मेरा देह वज्र का हो जाये तो मैं इस युद्ध में बच जाऊँ।' विदुर ने सोचा—गजब हो गया! इसे यदि मैं उपाय बता दूँ तो भगवद्-लीला सारी गड़बड़ हो जायेगी। यह बच गया तो युद्ध का क्या परिणाम होना है ! यही तो सारे दोषों का बीज है। विदुर ने अपने सिर की बला टाली और कहा 'युधिष्ठिर से जाकर पूछो, वे जानते हैं।' दुर्योधन ने कहा 'आप ही किसी तरह पता लगा दो, मेरे को दुश्मन के घर भेज रहे हो?' विदुर ने विचार किया—यह जायेगा नहीं और इसका काम नहीं बनेगा क्योंकि इसे पता नहीं लगेगा, भगवद्-लीला भी हो जायेगी और यह दोष भी मेरे सिर पर नहीं आयेगा कि कोई पूछने आया और मैंने बताया नहीं। इसलिये उससे कहा कि 'कुछ करो, लेकिन जाना तो युधिष्ठिर के पास ही पड़ेगा तभी तुम्हारा काम बनेगा।' युधिष्ठिर के पास दुर्योधन ने जाना भी स्वीकार कर लिया, उसे तो अपना कार्य सिद्ध करना था। जो लोग सवेरे दो घंटे बैठकर कांग्रेस को, जनता पार्टी को गालियाँ

देते हैं वे ही चुपचाप जाकर उन्हीं को दस पंद्रह लाख रुपया दे आते हैं। फिर कहते हैं 'तुम सबका नाश हो।' उनको रख कौन रहा है ? इसलिये 'स्वार्थी दोषं न पश्यति' स्वार्थी पुरुष को किसी में दोष दिखाई नहीं देता। दुर्योधन ने भी इसलिये युधिष्ठिर के पास जाना स्वीकार कर लिया। युधिष्ठिर के पास जाकर कहा— 'महाराज ! मेरा शरीर वज्र का हो इसका उपाय बता दो।' युधिष्ठिर बेचारे धर्मयुद्ध में स्थिर रहने वाले थे। 'युधिष्ठिर' का मतलब ही होता है जो युद्ध में स्थिर रहे। कई बार प्रश्न होता है कि वे युद्ध करने में तो प्रसिद्ध नहीं थे ? उत्तर है कि वे *धर्म-युद्ध* में स्थिर रहते थे। उनकी बुद्धि कभी अधर्म की तरफ नहीं जाती थी। दुर्योधन पूछने आया तो उससे कहा 'ज़रूर ! तेरा शरीर वज्र का हो जायेगा। बड़ा सरल उपाय है, कोई बड़ा जप-तप करने की ज़रूरत नहीं है। यदि तेरी माँ तेरे शरीर को नंगा देख ले तो उसकी आँखों के अन्दर ऐसी शक्ति है कि तेरा शरीर वज्र का हो जायेगा।' क्योंकि वह हमेशा आँखें बंद रखती थी इसलिये उसकी दृष्टि में शक्ति थी। किसी भी इन्द्रिय को यदि नियन्त्रित रखोगे तो उसमें संयमजन्य शक्ति आयेगी। किसी भी इन्द्रिय का निरोध करने से उसकी संयमजन्य शक्ति से असम्भव काम भी सम्भव हो जाता है। इसलिये शास्त्र बार-बार संयम का उपदेश देता है।

दुर्योधन ने जाकर माँ से कहा ऐसा-ऐसा युधिष्ठिर ने कहा है। माँ ने कहा 'उसने बिल्कुल ठीक कहा है। युधिष्ठर कभी ग़लत बात नहीं कहते। तुम मेरे पास बिल्कुल नंगे आ जाओ, मैं तुम्हें देखूँगी तो तुम्हारा शरीर वज्र का हो जायेगा, कम-से-कम एक बेटा तो बचेगा।' दुर्योधन ने विचार किया कि इतनी बड़ी उमर

में माँ के पास नंगा जाना है तो रात्रि में चुपचाप चला जाऊँगा। कुहक तो भगवान् कृष्ण थे ही, उनसे कुछ छिपा तो रहता नहीं है। उन्होंने सोचा कि युधिष्ठिर ने फिर घपला कर दिया क्योंकि अगर दुर्योधन ही नहीं मरेगा तो दुष्कृद्-विनाश का काम कैसे सिद्ध होगा ! काम ही यह करना है। जिस समय दुर्योधन गांधारी के पास जा रहा था, भगवान् वहीं रास्ते में खड़े हो गये। भगवान् ने ज़ोर से कहा 'कौन है ?' दुर्योधन झिझका, कहा 'मैं दुर्योधन हूँ।' भगवान् ने कहा 'ठीक है, हमारे तो तुम रिश्तेदार हो।' दोनों समधी थे क्योंकि बलराम की बेटी दुर्योधन के बेटे को ब्याही थी। इसलिये भगवान् ने कहा 'झिझक क्यों रहे हो, पेड़ के पीछे क्यों जा रहे हो ? आओ हम लोग गले मिलें, समधियाना करें।' वह पेड़ के पीछे छिप रहा था, भगवान् स्वयं जाकर उससे मिले, नंगा देखा तो पूछा 'यह क्या कर रहे हो ?' कहने लगा—'माँ के यहाँ जा रहा हूँ।' 'ऐसे कैसे माँ के पास जा रहा है ?' उस बेचारे ने सारी बात बता दी कि ऐसे-ऐसे माँ मुझे देखेगी तो मेरा शरीर वज्र का हो जायेगा। भगवान् ने कहा 'कुछ तो धर्म-मर्यादा का विचार किया करो। युधिष्ठिर ने कहा वह भी ठीक है लेकिन कम-से-कम एक लंगोटी तो पहन ले, कुछ तो लिहाज रखा कर, माँ के सामने ऐसे ही चल दिया ! ऐसा ही युधिष्ठिर कहने वाला और ऐसा ही तू मानने वाला !' बात दुर्योधन के दिमाग में भी जँची कि अभी तो ये यहाँ मिल गये, आगे कहीं चौकीदार ही मिल गया तो बड़ा फजीता होगा ! भगवान् ने सोचा कि कहीं इसकी बुद्धि फिर न जाये इसलिये कहा 'मैं रात्रि में नहाने जा रहा हूँ, मेरे पास यह लंगोट है यही पहन ले।' वहीं उसे लंगोट भी दे दिया। बेचारे

ने पहन लिया।

माँ के पास पहुँचा तो माँ ने पूछा 'जैसा युधिष्ठिर ने कहा वैसा ही किया है ?' कहने लगा 'वैसा ही किया है माँ !' माँ ने आँखों की पट्टी खोलकर देखा तो देखने के साथ ही कहा कि 'यह युधिष्ठिर ने नहीं कहा होगा।' कहने लगा 'आपके पास आ रहा था तो कुछ धर्म-मर्यादा भी तो देखनी थी।' माँ ने कहा 'धर्म और मर्यादा का नाम बीच में यों ही ले रहा है, रास्ते के बीच में कहीं कृष्ण तो नहीं मिल गया था ?' कहने लगा—'हाँ जी वे ही मिल गये थे।' माँ ने कहा—'बस हो गया गड़बड़, बाकी सारा शरीर तो तेरा वज्र का रहेगा लेकिन इतना हिस्सा नहीं रहेगा। बेटा ! तेरे को मुझसे क्या मर्यादा रखनी थी ! मैंने तो तुझे गोद में खिलाया है।' दुर्योधन दुःखी होने लगा तो गांधारी ने कहा 'दुःखी मत हो, इसमें तेरा कसूर नहीं है। यह तो जैसी भवितव्यता होती है वैसा ही परमेश्वर अपने आप चीज़ों को बना देते हैं। इस अंग की सावधानी रखना, बाकी सब तेरा ठीक है।' यह कुहक है। कहीं चक्र से तो कहीं बुद्धि से उसका प्रयोग किया।

विचार करके देखो : दुर्योधन वह है जिससे युद्ध करना बहुत मुश्किल है। जिससे युद्ध करके जीतना मुश्किल हो उसी को दुर्योधन कहते हैं। अंतःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति से अविविक्त चेतन जिसे सामान्यतः अहम्, 'मैं' कहते समझते हैं वह ही दुर्योधन है क्योंकि इसी से युद्ध करके जीतना बड़ा मुश्किल है। दुर्योधन चाहता है कि मैं वज्ररूप हो जाऊँ। लेकिन वज्ररूप कब हो ? यदि अधिष्ठानज्ञान रहते भी अहम् का बाध न हो तभी वह वज्र बने। इसके वज्ररूप होने का और कोई उपाय नहीं है।

लेकिन अंतःकरण को वज्ररूप बनाना तो भगवान् को इष्ट है नहीं! इसलिये जैसे ही अधिष्ठान का ज्ञान होता है, वैसे ही अविवेक निवृत्त होकर अहम् का बाध हो जाता है, फिर अहम् 'न था, न है, न होगा' ऐसे ही प्रतीत होता है, न कि 'अहम् है' यह प्रतीति होती है। अतः अहम् वज्र नहीं हो पाता।

धर्मयुद्ध में स्थिर रहने वाले युधिष्ठिर उपाय बताने वाले हैं। इस समग्र युद्ध में स्थिर रहने वाला वेदवाक्य है। अनादि काल से यह युद्ध चल रहा है। वेद रावण को भी उपाय बता देता है कि 'तू भी इस प्रकार की तपस्या करेगा तो युद्ध में विजयी होगा', भस्मासुर को भी उपाय बता देता है। युधिष्ठिर की तरह वेद के पास जो भी जाये उसे उपाय बता देते हैं। युधिष्ठिर, वेद कोई ग़लत बात नहीं कहेगा। अविविक्त चेतनरूप अहम् को वज्र होना ही नहीं है किन्तु उसी अहम् के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से जो वास्तविक अहम् है, अस्मत्पद का लक्ष्य है, उसकी सनातन वज्रता, अविनाशिता अनावृत होती है। इसलिये उसीके अनावृतरूप के ज्ञान के लिये शास्त्र कहता है। अहम् को अर्थात् अविविक्त चेतन को जैसे ही जानते हैं, चूँकि वह वज्र का नहीं है इसलिये वह विगलित हो जाता है जिससे तुरंत कर्ता, कर्म, क्रिया आदि सारे व्यवहार लुप्त होकर केवल एक अखण्ड चिन्मात्र रह जाता है। यह जो अहम् है बस यही परमात्मा के द्वारा सारे कर्मों को कराता हुआ प्रतीत होता है। यही परमात्मा की कुहकता है। अहम् हटा तो काम बना। अहम् हटाने के तरीके पर आगे कुछ विचार करेंगे।

प्रवचन—२०

सृष्टि से पहले जो अवस्था थी उसका निरूपण यहाँ श्रुति कर रही है। उस समय कोई चीज़ न व्यक्त थी और न सर्वथा अभावरूपता थी। जैसे पारमार्थिक कोई पदार्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं था वैसे ही व्यावहारिक भी कुछ नहीं था। व्यावहारिकता का जो कारण है उस कर्म के स्वरूप को बताते हुए देखा कि जिस प्रकार मृगी को दीखने वाला जो जल है वह दीखने से पहले ढका नहीं रहता है उसी प्रकार वस्तुतः वहाँ कोई आच्छादक-आच्छाद्यभाव नहीं था। 'कुहकस्य' यह एक शब्द शतश्लोकी व्याख्यानुसार मानकर विचार किया।

'कुहकस्य' में दो पद माने जा सकते हैं—'कुह' और 'कस्य', 'कुह' अर्थात् कहाँ और 'कस्य' मायने किस का। तात्पर्य है 'कहाँ, किसका आवरण हो सकता था ?' 'किमावरीवः' अर्थात् आवरण करने वाला क्या था और 'कस्य आवरीवः' क्या वह चीज़ थी जो ढाकी जाती ? यहाँ प्रश्न में तात्पर्य नहीं है, निषेध में तात्पर्य है। कई जगह प्रश्न आक्षेपार्थक होता है। जैसे रात में चौकीदार का काम है जगे रह कर देखभाल करना। वह रात में पड़ा खुर्राटे भरते

हुए मिले तो उसे उठाकर कहते हो कि 'तू क्यों सो गया? यहाँ 'क्यों' का मतलब प्रश्न नहीं है। उससे *पूछ* नहीं रहे हो। तुम उसे कह रहे हो कि *नहीं* सोना चाहिये था, निषिद्ध कर्म किया है। इसी प्रकार यहाँ श्रुति कहती है कि 'कस्य आवरीवः' वहाँ क्या था जिसे ढाँका जा सके और 'कुह' अर्थात् वह ढाँकने वाली चीज़ किस पर अथवा कहाँ रहती ? 'किम्' शब्द से स्थानार्थक 'ह'-प्रत्यय लगकर 'कु तिहोः' सूत्र से 'कुह' शब्द बन जायेगा।

यह थोड़ा सूक्ष्म विचार है कि यहाँ श्रुति ने दो चीज़ें पूछीं कि वह स्थान क्या था जहाँ ढाँका जाता और किसे ढाँका जाता ? इसका मतलब है कि अधिष्ठान के अन्दर दो चीज़ों का प्रतिपादन श्रुति कर रही है। यह विचारणीय बात है। अधिष्ठान तत्त्व के अन्दर अर्थात् जिसमें हमें भ्रांति होती है वहाँ दो चीज़ों की सम्भावना है। एक वह हिस्सा जिस पर ढक्कन रखा जाता है और दूसरा वह हिस्सा जो ढाँका जाता है। लोक में ही समझ लेना : किसी प्रैशर कुकर पर ढक्कन बन्द करते हो। अथवा टिफिन बाक्स समझ लो जिसमें कहीं यात्रा करने जाते समय भोजन लेकर के जाते हो। ऊपर से लगने वाला ढक्कन जिस बर्तन को ढाँकता है उस बर्तन की दीवारों के कुछ आधा, पौना इंच हिस्से को यों घेर लेता है कि वह हिस्सा तुम्हें बिल्कुल नहीं दीखता। उससे नीचे का बर्तन बाहर से दीखता रहता है। प्रैशर कुकर आदि में तो पूरी तरह छिप जाने वाली जगह तक एक 'रिम' बना रहता है जहाँ ढक्कन अटक जाता है। वहीं रबर का वाशर फँस जाता है। ढक्कन से अतिरिक्त भी टिफिन बाक्स के डिब्बों में दो हिस्से होते हैं—एक वह हिस्सा जिसके ऊपर ढक्कन बैठता है और दूसरा उसके नीचे

का सारा हिस्सा जिस *पर* कुछ बैठा हुआ नहीं है, उसके अंदर रखी चीज़ ढाँकी गई है।

जहाँ तक ढक्कन गया, बर्तन का वह हिस्सा 'कुह' अर्थात् 'कहाँ' से बताया और जो नीचे वाला हिस्सा ढका गया वह 'कस्य' से बताया। कहाँ ढक्कन रखा जाये और किसको ढाँका जाये—यहाँ ये दो प्रश्न श्रुति कर रही है। शास्त्रीय भाषा में इन्हें अधिष्ठानांश और आधारांश कह कर अलग किया जाता है। वैसे तो जब टोपिये या बटलोई पर भी ढक्कन रखते हो तब भी यही होती है लेकिन वहाँ पतली-सी जगह पूर्णतः आवृत होने से भेद नज़र नहीं आता।

'किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्' इसमें इन दो चीज़ों पर ठीक से विचार करना। सामने रस्सी पड़ी है, रस्सी तुम्हें दीख रही है लेकिन मंदांधकार है, *रस्सी* नहीं दीखती। ऐसा घनांधकार होता कि वह रस्सी सर्वथा न दीखती तो तुम्हें सर्प का भ्रम ही न होता। संशय तो हो सकता था, भय भी हो सकता था। अंधकार में चलता हुआ आदमी सोचता है 'शायद सर्प हो।' जंगल में जाने से लोग इसीलिये डरते हैं कि शायद सर्प मिल जाये, शायद रीछ मिल जाये। लेकिन वह भ्रम नहीं है, वह तो संशय हुआ, सम्भावना है। इसीलिये वहाँ 'यह रीछ है, यह शेर है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। लेकिन जहाँ तुम्हें रस्सी में साँप दीख रहा है वहाँ प्रतीति है कि 'यह साँप है।' सम्भावित शेर की प्रतीति है 'शेर हो सकता है'। रस्सी में साँप दीख रहा है, तब प्रतीति 'साँप *हो सकता* है' ऐसी नहीं वरन् 'यह साँप है' ऐसी प्रतीति है। रस्सी दीख रही है, मंदांधकार से रस्सी *जैसी है वैसी* नहीं दीख रही है। किस रूप से दीख रही है ? वस्तुरूप से दीख रही है। वस्तुरूप से रस्सी का ज्ञान होता

है।

यह नहीं कहना कि चीज़ दीखेगी तो पूरी ही दीखेगी ! बड़ा सुन्दर वर्णन किसी संस्कृत के कवि ने किया है : भगवान् द्वारिका में दरबार में बैठ हुए थे–

'चयस्त्विषाम् इत्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमाद् अमुं नारद इत्यबोधि सः।।'

दिन के समय उनको अकस्मात् एक तारा, प्रकाशपुंज दिखाई दिया। भगवान् ने लोगों से कहा कि 'वह तारा दीख रहा है।' बाकी सबने भी कहा–'हाँ जी, तारा दीख रहा है।' थोड़ी देर में लगने लगा कि तारा नहीं कोई ठोस चीज़ है मानो शरीर हो। भगवान् ने कहा–'यह तो कोई देहधारी लगता है।' सबने कहा 'हाँ, ऐसा ही दीख रहा है।' तब तक वह और पास आ गया तो लगा कोई आदमी है। सबने कहा–'हाँ जी, कोई आदमी या देवता दीख रहा है।' तब तक और नज़दीक आ गया तो भगवान् ने पहचान लिया 'अरे ! यह तो देवर्षि नारद आये हैं !' पहले केवल प्रकाशमात्र का ज्ञान, प्रकाशपुंज का ज्ञान, फिर शरीर आदि अवयवसंस्थान का ज्ञान और अंत में 'यह नारद है' यह ज्ञान है। *दीख* तब भी तारा थोड़े ही रहा था ! तब भी दीख तो नारद ही रहे थे। लेकिन नारद नारदरूप में नहीं दीख रहे थे। ठीक इसी प्रकार जब मंदांधकार में रस्सी दीखती है तो रस्सी ही दीख रही है लेकिन रस्सी रस्सीरूप से नहीं दीख रही है। केवल एक लम्बा मोटा पदार्थ दीख रहा है। दीख तो रस्सी ही रही है लेकिन लम्बा

मोटा पदार्थमात्र दीख रहा है, वह 'रस्सी है' यह ज्ञान नहीं है।

ऐसा क्यों ? क्योंकि अंधकार का आवरण है। एक बार हम कलकत्ते में थे। एक वृद्ध पंडित जी हैं, बड़े अच्छे विद्वान् हैं लेकिन हैं बड़े सीधे-सादे। उनकी पत्नी ने हमें सोने की कोई चीज़ दी थी, वह उसे वापिस करनी थी। हमने पंडित जी से कहा 'यह चीज़ आप अपनी पत्नी को दे दीजियेगा।' दो-एक दिन के बाद उनकी पत्नी आई, हमने पूछा कि 'तुम्हारी चीज़ तुम्हें वापिस मिल गई होगी ?' उसने कहा 'मुझे नहीं मिली।' उससे कहा 'तुम्हारे पति के हाथ भेजी थी।' अगले दिन पंडित जी आये, हमने पूछा 'आप वह सोने की चीज़ पत्नी हो देना भूल गये ?' कहने लगे 'नहीं जी, मैंने दे दी थी।' कब दी थी ? 'उसी दिन दे दी थी।' हमने सोचा कि बड़ा घपला हो गया। पति के हाथ में चीज़ दी पत्नी को देने को। वह कहती है नहीं मिली, यह कहते हैं कि दे दी, और निश्चित रूप से कहते हैं कि उसी को दी थी। हमने पूछा 'कहाँ दी थी ?' उन्होंने कहा कि 'कहीं ब्रह्मभोज में निमंत्रण में गये हुए थे उसी में वह भी आई हुई थी, मैंने वहीं दे दी थी।' अब तो स्थान भी निश्चित हो गया। अगले दिन दोनों साथ आये। हमने पंडिताइन से कहा 'पंडित जी कहते हैं कि तुम्हें दे दी थी, तुम ही कहीं भूली होगी।' वह कहने लगी 'नहीं मुझे इन्होंने दी ही नहीं।' हमने पंडित जी से कहा 'यह क्या बात है ?' तब पंडितजी अपनी पत्नी से कहने लगे 'उस दिन उस ब्रह्मभोज में तुम लाल साड़ी पहनकर गई थी ?' उसने कहा—'नहीं, मैं तो हरी साड़ी पहनकर गई थी।' पंडित जी ने कहा 'लेकिन सवेरे तो तुमने लाल साड़ी पहनी हुई थी ?' उसने कहा 'ब्रह्मभोज में निमंत्रण था तो

साड़ी बदलकर जाना ही था।' तब वह पंडित जी कहने लगे 'मुझे क्या पता ? मैंने तो लाल साड़ी वाली को दे दी।' पुराने बुड्ढे आदमी हैं। हमने सोचा यह तो बड़ी मुश्किल हुई। किंतु वहाँ हमारे कुछ परिचित लोग थे तो ब्राह्मणों में पूछ-ताछ करने से उस औरत का पता लग गया, चीज़ वापिस मिल गई। उनकी पत्नी लम्बी, वह औरत नाटी, उनकी पत्नी दुबली, वह मोटी, फिर यह भ्रम कैसे हुआ ? वह वैसी ही साड़ी पहने हुए थी जैसी उनकी पत्नी ने उस दिन सुबह पहनी थी। यदि चेहरा खुला होता तब तो उन्हें भ्रम नहीं होता लेकिन प्राचीन लोगों को स्त्री को ध्यान देकर देखना बुरा लगता है इसलिये उन्होंने झट दी और हटे वहाँ से। आवरण था इसलिये यह गड़बड़ हुई।

ऐसे ही यहाँ रस्सी के साथ आँख का सम्बन्ध है। रस्सी के जानने की सारी सामग्री मौजूद है। रस्सी और साँप में कोई समानता नहीं। साँप के शरीर में कई रंग होते हैं, गले का रंग अलग, आँखों का रंग अलग, शरीर का रंग अलग, शरीर में भी पेट का रंग अलग, बगल का रंग अलग, पीठ का रंग बहुत काला, मुँह चौड़ा, पीठ पतली—ये सब भेद हैं, लेकिन अंधकार के आवरण के कारण ये भेद दीख नहीं रहे हैं। ये सब गुण रस्सी में नहीं हैं। दूसरी तरफ, रस्सी ऐंठी हुई, बटी हुई; बट साँप में नहीं हैं। दोनों में भेद तो हैं लेकिन अंधकार के पर्दे के कारण तुम्हें वहाँ ये भेद दिखाई नहीं देते, दोनों को अलग करने वाली चीज़ दिखाई नहीं देती। इसलिये केवल लम्बी मोटी वस्तुरूप से रस्सी का ग्रहण होता है। हमारे मन में, आजकल वाले कहेंगे भेजे में, brain matter या दिमाग में 'फाइलें' बनी हुई हैं ! हर चीज़ की एक फाइल

बनी हुई है। बिल्कुल आधुनिक ढंग से वर्गीकरण (categorisation) करके क्रमबद्ध रूप से लगी हुई हैं। पुराने लोग किताबें कैसे रखते थे ? मोटी-मोटी एक साथ, उससे पतली एक साथ रखते थे। जब पहले-पहले हमने निर्णय किया कि ये किताबें क्रम से रखी जायें, तब हमने विषयवार व्यवस्थित कर दीं—वेदांत की एक साथ, न्याय की एक साथ, सांख्य की एक साथ, फिर वेदांत में भी भाष्य की पुस्तकें एक साथ, वार्तिक और पंचपादिका की बाद में। हमारे एक पुराने महात्मा थे, वे कहने लगे 'सब किताबें गड़बड़ रख दीं। एक मोटी, एक पतली, एक बड़ी, एक छोटी ! कुछ तरीका होना चाहिये ! देखने में कितनी भद्दी लगती हैं ?' हमने कहा 'ये विषय के हिसाब से रखी गई हैं।' कहने लगे 'विषय तो किताब खोलकर देख लेना चाहिये, उसके लिये ऐसा क्यों करना ?'

परमेश्वर दिमाग में, मन में जितनी चीज़ें रखते हैं वे सब क्रमबद्ध रहती हैं। जैसे ही 'यह लम्बी मोटी चीज़ है' यह देखा, वैसे ही लम्बी-मोटी चीज़ों से सम्बद्ध सारी फाइलें खुल गयीं। इसी को न्याय की भाषा में कहते हैं 'एकज्ञानम् अपरज्ञानस्मारकम्'। जैसे ही तुम्हें कोई ज्ञान होता है, तुरंत तत्सम्बन्धित जितने ज्ञान हैं सब उपस्थित हो जाते हैं। उपनिषद् दूसरा दृष्टांत देती है : मछुआ अपने जाल को फैलाये रखता है। उसकी एक तार खींचते ही सारा जाल बन्द हो जाता है। ऐसा नहीं कि उसे एक-एक मछली को अलग-अलग बाँधना पड़े। जिसे फँसना था वह फँस गई, छोटी-बड़ी सब उसी में घुस जाती हैं, जब तार खींचा तब सभी मछलियाँ उसमें सिमट जाती हैं। इसी प्रकार हमारे मन में या मस्तिष्क के अन्दर, जब एक ज्ञान आया सब तत्सम्बन्धित जितने

ज्ञान हैं सब उपस्थित हो जाते हैं। 'लम्बी मोटी चीज़ें' रस्सी भी होती हैं और साँप भी होता है। फाइल तो 'लम्बी मोटी' वाली खुली, और तो कोई ख़बर तुम्हारे पास थी नहीं। अगर किसी अच्छे पुस्तकालय में जाओ तो वहाँ ग्रंथों के लिखने वालों के नामों की एक अलग फाइल होती है। अगर तुम्हें पता है कि किताब सुरेश्वराचार्य ने लिखी है, विषय का पता नहीं है, तो लेखक वाली फाइल से पता लगाओ, उसमें उस लेखक की सब पुस्तकें मिल जायेंगी। विषय के अनुसार किताब जाननी हो तो विषयवार वाली फाइल जाकर देखो। इसी प्रकार यहाँ न तो 'बटदार लम्बी मोटी चीज़' वाली फाइल खुली क्योंकि बटदारता का ज्ञान नहीं हुआ, न पतली पीठ वाली फाइल खुली क्योंकि वह भी ख़बर नहीं थी। ख़बर तो केवल इतनी ही थी कि 'एक लम्बी मोटी चीज़ है।' उस फाइल के अन्दर साँप, रस्सी, माला, भूछिद्र, दंड, जलधारा आदि सारी चीज़ें दर्ज हैं। प्रश्न होता है कि साँप वाली फाइल क्यों निकली ?

मनुष्य के अन्दर भय की सम्भावना झट उपस्थित हो जाती है। भीति या भय मनुष्य का बड़ा स्वाभाविक धर्म है। यह भय तब तक दूर नहीं होता जब तक आत्मज्ञान नहीं हो जाता। इसीलिये महर्षि याज्ञवल्क्य जनक को तत्त्वज्ञान का उपदेश देते हैं और जब देखते हैं कि इसे ज्ञान प्राप्त हो गया तब कहते हैं कि 'अब तू अभय पद को प्राप्त हो गया' 'अभयं वै जनक प्राप्तोसि।' अभय कहो, ज्ञान कहो एक ही बात है। बिना आत्मज्ञान के भयरहितता नहीं हो सकती। शरीर के दुःख का भय, इन्द्रियों के दुःख का भय, धनहानि का भय, पुत्रहानि का भय,

समाज में बदनामी का भय, राज्य का भय; न जाने कितने भय हैं, अपमान का भय, अपयश का भय, 'लोग मुझे बुरा कहेंगे' इसका भय, 'मेरे कारण किसी को दुःख न हो जाये' इस का भय, इत्यादि कई तरह के भयों से मनुष्य आक्रान्त है। दो-चार भयों को हटा भी दो लेकिन बाकी भय बैठे रहते हैं। आत्मज्ञान होने पर अभय हो जाता है। ऐसा क्यों होता है, और कोई उपाय भयनिवृत्ति का क्यों नहीं ? श्रुति ने कहा 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' यह सूत्र है। जो दूसरा होता है उससे भय होता है। तुम्हारी एक कपड़े की दुकान बढ़िया चल रही है। तुम्हारी दुकान के सामने एक और दुकान खुली हुई थी, थोड़े दिन बाद तुमने उसे ले लिया और वहाँ भी तुमने अपनी कपड़े की दुकान खोल दी। तुम्हारे सामने एक प्रतियोगी बैठ गया, लेकिन उस दुकान की बिक्री से तुम्हें भय नहीं होता क्योंकि यहाँ बिके चाहे वहाँ, तुम एक ही मालिक हो। मालिक का द्वैत नहीं इसलिये भय नहीं है। और यदि कोई तीसरा खोल ले, तो वह यदि सात बजे बन्द करेगा तो तुम सात बजकर दो मिनट पर बन्द करोगे, 'अंतिम ग्राहक कोई ऐसा न आ जाये कि हमारे से बच जाये !' हमेशा ध्यान रखते रहोगे कि वह यदि किसी चीज़ को दो रुपये में बेचता है तो तुम एक रुपया निन्यानवे पैसे में बेचो, कहीं उसकी बिक्री न बढ़ जाये। क्योंकि मालिक दूसरा है। जहाँ दूसरा होगा वहाँ भय न हो यह नहीं हो सकता। इसीलिये दूसरा नहीं होगा तभी भय दूर होगा। 'वै' द्वारा कह दिया कि दूसरा हो और भय न हो यह कभी नहीं हो सकता। जो दूसरा है वही भय देता है। शरीर में भी द्वितीयता है इसलिये शरीर भय देता है। शरीर अपने से दूसरा है इसीलिये तो सोचते हो कि 'जब

मैं मर जाऊँगा' अर्थात् जब मैं इस शरीर से रहित हो जाऊँगा तब क्या होगा ? यह भय तो कभी नहीं आता कि 'जब मैं अपने आप से रहित हो जाऊँगा तब क्या होगा' ! शरीर भी द्वितीय है तो भी भय का कारण हो गया। दूसरा हो और भय न हो यह हो ही नहीं सकता। और जहाँ अद्वितीयता आ गई तो 'कस्मान्नु बिभेमि' फिर मैं किससे भय करूँ ?, फिर तो भय की सम्भावना ही नहीं रह गई।

तुमने वहाँ वस्तु लम्बी-मोटी देखी और फाइल खुली। माला भय का हेतु नहीं, जलधारा भी भय का हेतु नहीं। इन सब चीज़ों की अपेक्षा सर्वाधिक भय का कारण साँप है इसलिये झट उसके संस्कार का उद्‌बोध होता है। उसमें निमित्त-कारणता प्रारब्ध की है अर्थात् यदि दुःख का प्रारब्ध उदय न होता तो भयदायक चीज़ क्यों मन में आती ? साँप को देखकर भय होगा, भय दुःख देगा; इसलिये कोई-न-कोई पाप कर्म आया इसमें कोई संदेह नहीं। तुम्हें जैसे ही सर्प का ख़्याल आया, सर्प के भय ने उसी समय तुम्हारी विचारशक्ति को ग्रस्त कर लिया। भय आते ही मनुष्य की विचारशक्ति लुप्त हो जाती है। अच्छे से अच्छा ऑप्रेशन करने वाला डॉक्टर, अपनी पत्नी का ऑप्रेशन नहीं कर पाता। क्या कारण है ? शरीर तो सबका एक जैसा है। पत्नी के प्रति अपनत्व का भाव है कि 'यह मर गई तो', यही बुद्धि को ग्रस्त कर लेगा तो समुचित काम नहीं करने देगा, यह प्रतिबंधक हो जाता है।

एक बहुत बड़ा डॉक्टर अमरीका का है, उसने एक पुस्तक लिखी है, उसमें वह कहता है कि 'मेरा बेटा बीमार हो तो ज़रूर उसका ऑप्रेशन करना होगा तो खुद नहीं तो किसी से करवा दूँगा,

यदि पत्नी बीमार पड़ी तो आवश्यकता होने पर उसका भी करा दूँगा लेकिन यदि मुझे किसी ऑप्रेशन की ज़रूरत पड़ी तो मुझे चीखते-चिल्लाते खींचकर ही कोई ले जा सकता है, मैं अपना ऑप्रेशन करने की हामी नहीं भरूँगा क्योंकि मैंने जितने ऑप्रेशन किये हैं, उसमें कितने ख़तरे हैं इसे मैं जानता हूँ।' चाहे जितना कष्ट हो, मृत्यु से तो कम ही हुआ करता है। जहाँ मनुष्य को भय हुआ वहाँ विचार में प्रतिबद्धता आ जाती है। यह नहीं समझना कि केवल विदेशों में ही ऐसा हो, यहाँ भी यही बात है। आगरे में एक हमारे बड़े अच्छे मित्र हैं जो मैडिकल कॉलेज में सर्जिकल विभाग में अध्यक्ष हैं, उनका काम ही हजारों ऑप्रेशन करना है। उनके गुर्दे में पत्थर हो गया लेकिन उन्होंने ऑप्रेशन नहीं करवाया। उनकी पत्नी ने भी हमसे कहा कि 'इन्हें समझाइये !' हमने उनसे कहा तो वे बोले—'स्वामी जी ! हमसे यह मत कहिये !' अंत में उन्होंने कुछ आयुर्वैदिक औषधि ली और ठीक हो गये, साल-डेढ़ साल लगा। हमने उनसे पूछा 'आप ऑप्रेशन से क्यों घबराते हो ?' कहने लगे—'मैं ही घबरा सकता हूँ ! दूसरे को क्या पता कि किसी ऑप्रेशन में कितने खतरे हैं।'

भय मनुष्य की विचारशक्ति को ग्रस्त कर देता है, विचार नहीं करने देता। तुमने लम्बी मोटी चीज़ देखी, देखने के साथ ही सर्प समझ कर तुमको भय हुआ। अब आगे मन विचार नहीं करेगा क्योंकि अब तो सर्प के कारण विचार वहीं ग्रस्त हो गया। अब तुमको वहाँ साँप तब तक दीखता रहेगा जब तक रोशनी न आ जाये या वहाँ से तुम भाग न जाओ।

अब यहाँ ज्ञान का विचार करो—तुमको दीखा कि 'यहाँ एक

वस्तु है, एक पदार्थ है, यह लम्बा है मोटा है'—ये सब ज्ञान तुम्हें हुए। इन सबके द्वारा तुमको रस्सी दीखी। इसलिये साँप का ढक्कन किस पर आकर बैठा है ? रस्सी के लम्बे मोटे वाले हिस्से पर। और ढाँक किसको रहा है ? रस्सी के बट वाले हिस्से को अथवा सफेद रंग वाले हिस्से को ढाँक रहा है। कहाँ पर बैठा है अर्थात् कुह ? उसके बैठने की जगह लम्बाई-मोटाई है। किसको ढाँक रहा है, 'कस्य' ? ऐंठन को ढाँक रहा है। इसी को शास्त्रीय भाषा में आधार और अधिष्ठान नाम से कहते हैं। आधार वह जिस पर ढक्कन बैठता है। और अधिष्ठान वह जिसको ढाँकता है। प्रश्न यह किया कि 'कुह' अर्थात् उस आधार को बताओ और 'कस्य' उस अधिष्ठान को बताओ। जैसा पहले ही बताया, कि यह प्रश्न नहीं, आक्षेप है।

क्यों आक्षेप है ? यदि तुमको 'यह रस्सी है' यह दीख रहा हो, भ्रमज्ञान यह साँप है इसकी प्रतीति न हो रही हो तो वहाँ न आधार न अधिष्ठान है। जब तुमको दीख रहा है कि 'यह रस्सी है' तब क्या यह कहा जा सकता है कि 'किसको ढाँक रहा है? कौन ढाँक रहा है ? कहाँ ढाँक रहा है ?' कोई प्रश्न नहीं बनेगा। जब 'यह साँप है' ऐसा ग़लत ज्ञान हो रहा है तभी ये सारे प्रश्न बनते हैं। 'किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्' वहाँ तो शुद्ध चिन्मात्र था इसलिये वहाँ अध्यास था कहाँ ! यदि पहले कही हुई चीज़ें होतीं; 'नासीद्रजः नो व्योमा परो यत्' लोक आदि होते, दृश्य-द्रष्टा होते, परव्योम होता, तब तो आगे प्रश्न बनता कि 'उस चिन्मात्र का कौन-सा हिस्सा अधिष्ठान और कौन-सा आधार था ?' लेकिन यहाँ तो वे सब थे ही नहीं, इसलिये आधार-अधिष्ठान-भाव से

रहित केवल तत्स्वरूपमात्र वहाँ था। यह जो तत्स्वरूपमात्रता है यह किसके प्रभाव से भूली हुई है ? अज्ञान के प्रभाव से।

अध्यास का असली कारण अज्ञान है। अध्यास मायने भ्रमज्ञान या ग़लत ज्ञान, रस्सी में साँप को देखने की तरह। रस्सी में साँप क्यों दीखा ? रस्सी के किसी अंग के न दीखने के कारण, रस्सी के किसी रूप के न दीखने के कारण; इसके सिवाय और तो कोई कारण है नहीं। न दीखने का कारण क्या है ? आँख तुम्हारे पास है ही इसलिये आँख की खराबी कारण नहीं है। कभी आँख ठीक होने पर भी अन्यत्रमना, अन्यमनस्क हो जाते हैं। तुम किसी विचार में बैठे हुए हो; ३१ मार्च के ही दिन तुम विचार-मग्न होते हो क्योंकि उस दिन इन्कम टैक्स की रिटर्न भरनी पड़ती है ! रिटर्न तैयार कर रहे हो। उस समय कोई तुम से पूछे कि 'अभी टेलीफोन की घंटी बजी थी, आपने सुनी ?' कहते हो 'नहीं सुनी'। क्या बात है ? बैठे हुए घंटी भी सुनाई नहीं देती; कान तो ठीक है, कान में कोई खराबी नहीं है, लेकिन मन जो दूसरी तरफ गया हुआ है। आँख ठीक है, उसमें भी कोई दोष नहीं है मन भी ठीक है वह भी कहीं गया हुआ नहीं है। इसलिये द्रष्टा वाला हिसाब सब ठीक है। न दीखने में ज़्यादा दूरी भी कारण हुआ करती है। बहुत ज़्यादा दूर वाली चीज़ भी नहीं दिखाई देती। वह रस्सी बहुत दूर भी नहीं है। बहुत पास चीज़ हो तब भी नहीं दिखाई देती। इसीलिये यदि अपनी आँख में कोई भुन्गा या कीड़ा पड़ जाये तो कहते हो 'निकाल दो।' उससे पूछो 'तू अंधा है क्या, खुद ही देखकर क्यों नहीं निकालता ?' कहेगा 'अपनी आँख में पड़ी हुई चीज़ कैसे देखूँ ?' अत्यंत सन्निहित चीज़ भी नहीं दीखती।

रूपरहित पदार्थ भी नहीं दीखता। इन्द्रिय का ठीक न होना, मन का ठीक न होना, आदि द्रष्टा का दोष होता है। पदार्थ का नज़दीक और दूर होना अथवा रूपहीन होना आदि पदार्थ के दोष हैं। जैसे हवा को चाहे जितना प्रयत्न करो, नहीं देख सकते क्योंकि उसका रूप ही नहीं है। जिस चीज़ को देख रहे हो वह दूर भी नहीं, अत्यंत पास भी नहीं, रूपहीन भी नहीं; इसीलिये न पदार्थ में दोष है, न द्रष्टा में दोष है फिर भी दीख नहीं रही है, कारण क्या है ? प्रकाश नहीं है। जितनी रोशनी अपेक्षित है वह रोशनी नहीं है। बस, और कोई कमी वहाँ नहीं है। इस मन्द-अंधकार के कारण ही तुमको मिथ्या ज्ञान, भ्रम हो रहा है।

ठीक इसी प्रकार यहाँ देखने के लिये जो तुम्हारा अंतःकरण चाहिये वह भी ठीक है, उसमें कहीं कोई ग़लती नहीं है। ब्रह्मदर्शन के लिये अंतःकरण ही चाहिये, यह तुम्हारे पास है ही। उसमें कोई कमी भी नहीं है। द्रष्टा का हिसाब बिल्कुल ठीक है, कोई गड़बड़ नहीं है। न वह अत्यंत दूर है कि कहीं गोलोक आदि में बैठा हो इसलिये नहीं दीख रहा है, ऐसी बात भी नहीं है। इसलिये वह भी दोष उसमें नहीं है। दीखने की योग्यता भी उसमें है। देखना मायने यहाँ अनुभव को समझना; यदि उसमें दर्शनार्हता ही न होती तो श्रुति कहती ही क्यों 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' ? जैसे श्रुति यह थोड़े ही कहती है कि 'हवा को देखा करो' या यह थोड़े ही कहेंगी कि 'आग को पिया करो'। इसलिये द्रष्टव्य है, उसमें दर्शन की योग्यता है। फिर न दीखने का कारण क्या है ? दिखाने वाला वेद का प्रकाश नहीं है। जैसे वहाँ रस्सी को देखने के लिये सूर्य का प्रकाश या मशाल अथवा बैट्री का प्रकाश चाहिये वैसे ही यहाँ

ब्रह्म को देखने के लिये वेद का प्रकाश चाहिये। वेद का प्रकाश जब तक नहीं मिलेगा तब तक वह दीखेगा नहीं। यही अज्ञान है। अज्ञान इस बात का ही तो है कि जाना जाने की योग्यता ब्रह्म में और जानने की योग्यता प्रत्यगात्मा में, दोनों की योग्यता में कोई कमी नहीं है; वह भी नित्य अपरोक्ष है, यह भी नहीं कि उसका परोक्ष ज्ञान हो; न प्रमेय में कमी, न प्रमाता में कमी; बस प्रमाण तुम्हारे पास नहीं है, दिखाने वाली चीज़ नहीं है। इसको दिखाने वाला वेदवाक्य है वही इसका प्रदर्शन कर सकेगा। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' कहकर तुरंत श्रुति ने साधन बताया 'श्रोतव्यः' श्रवण करना ही उसका एकमात्र साधन है। श्रवण न करने से ही वह प्राप्त हुआ भी अप्राप्त की तरह हो रहा है। जाना हुआ भी न जाने की तरह है।

प्राचीन काल में विशाला नगर में, जिसे आजकल विदिशा कहते हैं गोवर्धन नाम का एक पंडित रहता था। वह बड़ा सदाचारी था, पूजा-पाठ में ही लगा रहता था। वेदपाठ भी उसने सीख रखा था लेकिन अविचारी होने के कारण कभी श्रवण नहीं करता था। श्रवण में उसकी रुचि नहीं थी। बहुत से लोग ऐसे होते हैं कि उनको कहो कि 'तीन घंटा माला फेरो' तो फेर लेंगे। उनसे कहो कि 'एक श्लोक का विचार करो' तो कहेंगे 'यह मत कहिये, यह हमसे नहीं होगा।' उनकी पत्नी परमेश्वर की भक्त थी और नित्य निरंतर विचार में रहती थी, सत्संग आदि में प्रवृत्त रहती थी। गोवर्धन के पिता भी बड़े सत्संगी थे। जब तक गोवर्धन के पिता जीवित रहे तब तक तो वह उसी तरह से अपने सदाचार इत्यादि में लगा रहा। कई बार उसके पिता समझाते कि 'वहाँ आजकल

बड़ा अच्छा चातुर्मास का सत्संग हो रहा है उसमें तो चलो। आजकल काम भी क्या है।' वह कहे कि 'आजकल मैं श्रावण का पूजन कर रहा हूँ इसलिये सवेरे सत्संग का समय नहीं मिलता।' थोड़े समय के बाद पिता मर गया। अब तक जो कुछ कभी-कदाचित् उनके पास बैठकर विचार करता था वह भी गया। विचारहीन सदाचार टिका नहीं करता। कई बार तुम लोगों के मन में आता है कि हमारे पिता या हम जिस सदाचार को करते थे वह हमारे बच्चों में क्यों नहीं आया ? हमारे पिता या हमारे दादा तो विचारपूर्वक आचार करते थे और हमने विचार छोड़कर के केवल आचार को सीखा। इसलिये हमारा आचार निष्प्राण है। उसमें प्राण की शक्ति नहीं है। इसीलिये वह हमारी संतति को प्रभावित नहीं कर पाता। बार-बार जो हम लोग कहते हैं कि वेदांत के आधार पर ही धर्म की शिक्षा चलती है उसका कारण ही यह है। लोग समझते हैं कि विचार तो बाद में कर लेंगे। बाद में करने से कुछ नहीं होगा। निर्विचार आचार की प्रवृत्ति में प्राण नहीं रह जाता।

पिता के मरने पर गोवर्धन का सत्संग बिल्कुल छूट गया। उसी के पड़ोस में नंदनंदन नाम का एक आदमी रहता था जो महा सांसारिक प्रवृत्ति का, कुमार्ग की प्रवृत्ति का था। पहले भी वह उसे अपनी तरफ खींचने का मौका ढूँढता रहता था लेकिन पिता रहते काल में तो उसके मन में कोई संदेह नहीं बनता था, नंदनंदन कोई संदेह डाले भी तो गोवर्धन पिता से पूछकर या किसी महात्मा से सत्संग में पूछकर संदेह हटा लेता था। अब वह प्रसंग नहीं रहा तो उसमें भी कुमार्ग की प्रवृत्ति आने लगी। प्रत्येक अंतःकरण में

अनंत जन्मों के भोग के संस्कार तो पड़े ही हुए हैं। फिर भी कभी कोई बातचीत हो तो उसकी पत्नी उसे प्रेम से समझाये, वह फिर ज़रा ठीक हो जाये। पड़ोसी नंदनंदन ने सोचा कि बड़ी तोप तो गई लेकिन पिस्तौल अभी भी घर में पड़ी हुई है ! उसे उल्टे संस्कार डालने लगा कि 'तेरी औरत रोज़ सत्संग में दो-तीन घंटे के लिये जाती है, पता नहीं वहाँ क्या करती रहती है !' कुमार्गी तो कुमार्ग की ही बात सोचेंगे। नतीजा यह हुआ कि वह पत्नी पर रुकावट करने लगा। एक दिन पत्नी ने सोचा कि 'रोज़-रोज़ झंझट होती है तो न ही जाओ।' अब उस कुमार्गी के संस्कार और दृढदृढतर होते गये, कुमार्ग बढ़ता चला गया। अंत में शराब तक पीने लग गया, मांस तक खाने लग गया। जितने दुष्कर्म थे उनमें उसकी प्रवृत्ति हो गई। पत्नी कभी कुछ कहे तो तुरंत लड़ाई-झगड़ा करने को तैयार रहे। कहे 'दुनिया कहाँ की कहाँ जा रही है !' क्या-क्या कहते हैं सब जानते ही हो; 'शराब में क्या है, यह भी फलों का रस है, इसमें हर्जा ही क्या है'। कुसंगी यही सिखाते हैं कि 'देवता लोग ऋषि लोग भी पीते थे। राम भी शिकार करने गये थे, फिर मांस में क्या हर्जा है' इत्यादि क्या-क्या बातें कहेंगे, कोई ठिकाना नहीं। उनसे कहो कि 'सवेरे से शाम तक झूठ क्यों बोलते हो' तो उसके लिये भी उनके पास प्रमाण है कि 'द्रोणाचार्य को मारने के लिये भगवान् ने युधिष्ठिर से झूठ बोलने को कहा या नहीं कहा ?'

धीरे-धीरे वह बड़ी दुःखी हो गई। भगवान् शंकर से प्रार्थना करने लगी कि 'यह कहाँ था और कहाँ पहुँच गया ! मेरा और कोई सहारा नहीं।' परमेश्वर को छोड़कर न जीव की कोई गति

है और न कोई भर्त्ता अर्थात् भरण करने वाला है क्योंकि कोई भरण कर ही नहीं सकता, किसी के पास सामर्थ्य ही नहीं है। न कोई प्रभु ही बन सकता है। प्रभु उसे कहते हैं जो कहे कि 'तुम्हारी जिम्मेवारी मेरे ऊपर।' कौन किसी की जिम्मेवारी लेता है ! भगवान् ही साक्षी है। वह प्रार्थना करती 'मेरे मन की कोई ऐसी चीज़ नहीं जो आपसे छिपी हुई हो। तुम्हारे सिवाय और किसके पास रोऊँ, मुझे सहारा देने वाला और कौन है ? सुहृद् अर्थात् मेरा कल्याण करने वाला तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं।' भगवान् से निरंतर यही प्रार्थना करती रही। भगवान् से की हुई प्रार्थना निरर्थक नहीं जाती।

महात्मा के मन में आया कि 'बहुत दिन से वह लड़का भी नहीं आया और उसकी घर वाली भी नहीं आई। जाकर देखूँ तो सही कि ज़िन्दा है या सब मर गये हैं।' परमेश्वर की प्रेरणा से उनके मन में संकल्प उठा था। जैसे ही वहाँ पहुँचे; देखा कि वह तो शराब- कबाब वाला हो गया है। महात्मा को बड़ा क्रोध आया कि 'इसके पिता इतने अच्छे और यह ऐसा नालायक हो गया।' पुराने महात्मा लोग थे, दण्ड बैठक करके तैयार रहते थे। उन्होंने उसे जो झापड़ मारने शुरू किये तो मारते ही चले गये। नंदनंदन को तो जहाँ दो-चार पड़े वह तो ऐसा भागा कि पता नहीं चला लेकिन यह कहाँ भागकर जाये ? थोड़ी देर में इसका नशा उतर गया। महात्मा ने कहा 'यह क्या कर रहा है, व्यापार नहीं, कमाना-खाना नहीं!' वैसे भी जब धन घट जाता है तब दुष्कर्मों में उत्साह कम हो जाता है। उसे पूर्व की स्मृति भी थी। कुछ इधर-उधर की बातें हुई फिर महात्मा ने पूछा 'धन का क्या हाल

है ?' बोला 'यहाँ तो कर्ज़ा हो गया है !' उन्होंने उसका हाथ पकड़ा और कहा 'चलो आश्रम!' उसने कहा 'बाद में आऊँगा।' कहने लगे 'कुछ नहीं, अभी चलना पड़ेगा।' पकड़ कर ले गये। धीरे-धीरे समझाते रहे। पहले तो मनुष्य शराब आदि में शौक से प्रवृत्त होता है, बाद में प्रवृत्ति शर्म से होती है और अंत में प्रवृत्ति दुःख से होती है। पहले तो मज़े से पीता है, फिर 'दोस्त क्या कहेंगे कि तूने छोड़ दी' इस लज्जा से पीता है और जब धन ख़त्म हो जाता है तब 'इस दुःख को कैसे भुलाऊँ' इसलिये पीता है। आदमी सोचता है कि जब सारा बरबाद कर ही दिया तो अब क्या है! वह तीसरी स्थिति में पहुँचा हुआ था। धन ख़त्म हो गया, कोई मित्र भी साथ नहीं दे रहा था। लेकिन महात्मा ने धीरे-धीरे उसे समझाया, बोध कराया कि ब्राह्मण होकर यह क्या कर रहा है। जैसे ही उसकी समझ में बात आई, धर्म पर स्थिर रहने लगा। धीरे-धीरे काम करने लगा और ठीक हो गया।

विचार करो; वेद कहता है कि अज्ञान हानिकारक है, इस अज्ञान से ही मनुष्य को दुःख होता है। सारी असत् प्रवृत्तियों का मूल कारण, मूल बीज हमेशा अज्ञान है। शास्त्र कहते हैं कि विचारपूर्वक आचार ही दृढ होता है अन्यथा दृढ नहीं होता। इसलिये यह जो प्रश्न किया गया 'किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्', उसका कारण 'अंभः' कर्म को बताया कि यह जो ढका रहता है यह अज्ञान से ढका रहता है। उस अज्ञान के कारण ही मनुष्य इस चीज़ को समझता नहीं है और जैसे-जैसे बाह्य प्रवृत्ति में जाता है वैसे-वैसे अज्ञानांधकार बढ़ जाता है। इस अज्ञानांधकार को कम करने के तरीके पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन—२१

सृष्टि की पूर्व अवस्था का वर्णन आगे सृष्टि के विस्तार को बताने के उद्देश्य से किया जा रहा है। 'क्या सृष्ट हुआ' यह तभी पता लग सकता है जब पहले यह पता लगे कि क्या नहीं था। क्या चीज़ पैदा हुई—यह पता तब लगे जब पहले यह पता लग जाये कि उसके पैदा होने के पहले वह थी या नहीं। 'थी या नहीं' दोनों का निरूपण श्रुति एक विलक्षण पद्धति से करती है। श्रुति का तात्पर्य यह है कि जब तक द्वैत न हो, दो चीज़ें न हों, तब तक कार्य और कारण का भाव ही सामने उपस्थित नहीं होता। मन में कार्य-कारण-भाव कब उपस्थित हो ? जब पहले यह देखा जाये कि एक चीज़ पहले है और एक चीज़ बाद में है; अर्थात् काल होना चाहिये, पदार्थ होना चाहिये, पदार्थ में परिवर्तन होना चाहिये। यह सब यदि हो गया तो फिर सृष्टि क्या होनी है ! सब तो हो ही गया। अगले मंत्र में काल की सृष्टि का निरूपण करेंगे। लेकिन अभी तो काल की सृष्टि होने के भी पहले की बात है। कुछ लोग जगत् का कारण काल को मानते हैं जिस पर अगले मंत्र में विचार होगा। यहाँ तो वेद कह रहा है कि काल की भी

सृष्टि होती है इसलिये काल भी जगत् की सृष्टि का कारण नहीं है।

जो-जो सृष्टि के अंतःपाती हैं वे सृष्टि का मूल कारण नहीं हो सकते यही हमारे कार्यकारण-भाव के अन्वेषण में दार्शनिक आधारशिला है। जब एक चीज़ पहले हो और एक बाद में हो, जैसे मिट्टी पहले है घड़ा बाद में, तब कहा जा सकता है कि मिट्टी घड़े का कारण है। गाय के दो सींग एक-साथ निकलते हैं। वहाँ यह नहीं कह सकते कि एक सींग दूसरे सींग का कारण है। यद्यपि हैं साथ-साथ लेकिन साथ-साथ होने मात्र से कार्यकारण-भाव नहीं होता। नियत-पूर्ववृत्तिता होनी चाहिये, नियम से एक चीज़ पहले होनी चाहिये। जो जिसके हमेशा पहले होगी वह कारण होगी। पहले का विचार ही काल से उत्पन्न होगा। इसलिये कार्यकारण-भाव बिना काल के हो ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, पदार्थ में परिवर्तन भी चाहिये। यह मिट्टी यहाँ कल पड़ी थी, परसों पड़ी थी, आज पड़ी है। यहाँ काल का भान तो है लेकिन काल होने पर भी उस मिट्टी में कोई परिणाम या परिवर्तन नहीं, इसलिये उसको भी कारण नहीं कह सकते। काल भी होना चाहिये, पदार्थ भी होना चाहिये, उसमें परिवर्तन भी होना चाहिये। यदि ये सारी चीज़ें हो गईं तो सृष्टि हो ही गई !

जगत्कारण-विषयक सारे वैज्ञानिक अन्वेषण—इस दार्शनिक सिद्धांत को नजरन्दाज़ करके चल रहे हैं। सृष्टि का मूलभूत कारण सृष्टि में अंतःपाती नहीं हो सकता, सृष्टि से भिन्न जाति का होगा—इस दार्शनिक विचार को न समझने के कारण वे सृष्ट पदार्थों में ही सृष्टि का कारण ढूँढते हैं। सृष्ट पदार्थों में आपस

में क्रमबद्धता तो हो सकती है, एक-दूसरे के प्रति कारणता तो हो सकती है, लेकिन आदि कारणता या मूल कारणता नहीं हो सकती। आपस की जो कारणतायें हैं वे प्रत्यक्ष, अनुमान से सिद्ध हैं इसलिये वैज्ञानिकों का अन्वेषण प्रत्यक्ष-अनुमानमूलक होने से ठीक है। सृष्टि के अन्दर होने वाली चीज़ों का जो कार्यकारणभाव वे बताते हैं वह माना जा भी सकता है। लेकिन जब वे उछलकर आगे कहते हैं कि 'इस सृष्टि का भी हम कारण देखेंगे' तब भूल कर जाते हैं क्योंकि जितने प्रत्यक्ष और अनुमान के नियम हैं वे सब तो सृष्टि को देखकर ही बनने हैं और जो सृष्टि का कारण होगा वह सृष्ट पदार्थों से परे होगा।

सृष्ट पदार्थों के कार्यकारणभाव को सृष्टि में देखना पड़ता है अर्थात् संसार के व्यावहारिक कारणों का अन्वेषण प्रत्यक्ष और अनुमान से करना पड़ता है। सृष्ट पदार्थों के सन्दर्भ में विशेष कारण सर्वत्र सृष्ट-जातीय चीज़ ही माननी पड़ती है, सिर्फ अदृष्ट कारण कहकर नहीं छोड़ा जा सकता। सृष्टि का जो आदिकारण उसने जैसी सृष्टि पैदा की वैसी सृष्टि सृष्ट पदार्थों में आपस में नहीं हो सकती। मिट्टी से घड़ा बना; घड़े में पानी कैसे भरा जाये, तेल लगाकर रखा जाये, एक-बार पानी भरकर कुछ देर के लिये छोड़ दिया जाये, इत्यादि नियम मिट्टी से घड़े बनाने के नियमों से भिन्न जाति के हैं। अथवा दूसरा दृष्टांत लो; पुत्र के उत्पन्न करने में माता-पिता एक जैसे कारण हैं। पुत्रोत्पत्ति की सृष्टि के लिये माता-पिता की अलग-अलग कारणता नहीं है। दोनों की मिलकर युगपत् कारणता है। पैदा होने के बाद उस बच्चे को बड़ा करने में भी कारणता है लेकिन भिन्न प्रकार से। पत्नी उसको

पेट में अपने खून से बड़ा करती है, पति उसकी दोहद-तृप्ति इत्यादि करके उसकी जो आवश्यकता है उसे पूरा करता है। पैदा होने के बाद भी यह भेद चलता रहेगा। दोनों मिलकर नहीं पढ़ा सकते। दोनों एक ही उपदेश दें यह तो सम्भव है, एक ही का मतलब है एक जैसा। पिता ने जैसी शिक्षा दी माता वैसी ही शिक्षा दे, यह तो हो सकता है लेकिन दोनों की इकट्ठी शिक्षा नहीं होती। अगर दोनों मिलकर एक साथ एक वाक्य बोलने लग जायें तो कुछ अर्थबोध नहीं होगा ! इसलिये पुत्रोत्पत्ति के प्रति दोनों की एक जैसी कारणता होने पर भी पुत्र सृष्ट हो जाने के बाद उनकी कारणता में भेद है। नियम यह हुआ कि किसी भी चीज़ की सृष्टि होने के नियम अलग होते हैं और सृष्ट होने के बाद उनके आपस की एक-दूसरे की कारणता के नियम अलग होते हैं।

विज्ञान तब भूल करता है जब मूल कारण को सृष्ट कारणों के अनुरूप देखना चाहता है। सामान्य व्यक्ति तब भूल करता है जब मूल कारण के प्रसंग को सृष्ट कारणों के अन्दर भी वैसा ही लगाना चाहता है। जमुना जी यदि किनारे को काट देती हैं तो आदमी कहता है कि 'यह किनारा अब गिरा चाहता है।' किनारे में गिरने की इच्छा कहाँ से आयेगी ? मूल सृष्टि के कारण के अन्दर चेतनता थी इसलिये यहाँ भी उसी कारणता का प्रयोग कर देता है। सृष्टि के कारणों के अन्दर एक-दूसरे के प्रति कारणता होने में स्वतंत्रता का अभाव है। सृष्ट पदार्थ तो एक दूसरे से बँधे हुए हैं, हर चीज़ का कोई पूर्व कारण है और जब पूर्व कारण है तब पर स्वतंत्र नहीं हुआ। अगर हम पैदा हुए तो उसका कोई कारण है। उसके बाद हमारे माता-पिता ने बजाय संस्कृत पढ़ाने

के अंग्रेज़ी स्कूल में डाल दिया। भारतवर्ष में पैदा होकर भी कोई पूछता है 'आपका नाम क्या ?' तो कहते हैं 'मिस्टर टंडन'। यह हमारी परतंत्रता हुई। यदि हमें हिन्दू स्कूल में डाला गया होता तो कहते 'श्री टंडन'। भारत में न पैदा होकर कहीं विदेश में पैदा हुए होते तो हमारी विचारधारा भी वैसी ही होती। जब हम इस सृष्टि के अंतःपाती हैं तब परतंत्र हैं। दूसरी तरफ, सृष्टि का मूल कारण स्वतंत्र है क्योंकि यदि उसे परतंत्र कहोगे तो वह जिसके परतंत्र होगा वही मूल कारण हो जायेगा ! हमने किसी को हुक्म दिया कि 'तुम जाकर हरिसिंह को मार डालो।' उसने किसी जल्लाद से जाकर कहा कि 'हरिसिंह को मार दो।' उसने अपनी तलवार तेज़ करके हरिसिंह की गर्दन पर मार दी। हरिसिंह की गर्दन कट गई। यहाँ हरिसिंह की गर्दन के कटने का कारण क्या है ? इतनी शक्ति के साथ तलवार का गर्दन के साथ संयोग। संयोगमात्र से कोई नहीं मरता, बल्कि उसके साथ एक हार्सपावर जितनी तेज़ी चाहिये, तब मरेगा। यदि कोई पूछे—उसके मरने का कारण क्या है ? तलवार और उस शक्ति का संयोग। तलवार के गिरने का कारण क्या है ? जल्लाद की शक्ति या जल्लाद का हाथ। उसका कारण जल्लाद का मन। जल्लाद के मन का कारण कौन ? जिसको हमने कहा 'हरिसिंह को मार दो' उसके द्वारा दी गयी प्रेरणा, चाहे जिस किसी ढंग से, प्रलोभन आदि से प्रेरित किया हो। उसका कारण कौन ? हमारा कहना। हमारे कहने का कारण कौन ? हम खुद। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना है इसलिये व्यावहारिक जगत् में इस खून का अंतिम स्वतंत्र कारण हम माने जायेंगे जिसने हुक्म दिया। यह स्वतंत्रकारणता है और

बाकी सब कारणतायें परतंत्र कारणतायें हैं। उन परतंत्र कारणताओं को देखकर यदि तुम इस स्वतंत्र कारण को, मूल कारण को स्वीकार नहीं करोगे तब भी ग़लती और इस स्वतंत्र कारणता को देखकर बाकी सब क्रियाओं को स्वतंत्र मान लो, वह भी ग़लती। इसलिये जो सृष्टि का मूल कारण है वह स्वतंत्र कारण और बाकी परतंत्र कारण हैं।

वेदांत शास्त्र के अंदर इस स्वतंत्र कारण को मूल अविद्या कहते हैं और परतंत्र कारणों को तूल अविद्या कहते हैं। मूल अविद्या स्वतंत्र है अर्थात् उसका आगे कोई कारण नहीं। जो तूल अविद्यायें होती रहती हैं उनके प्रति कार्य-कारण-भाव अनुमान से ढूँढते रहो, कोई रुकावट नहीं।

श्रुति यहाँ कहती है 'किमावरीवः कुहकस्य शर्मन् अंभः' उस परब्रह्म परमात्मतत्त्व के अंदर ढाँकने को कुछ नहीं था। जैसा पहले बताया, ढाँकने वाला हिस्सा जहाँ रहेगा वह आधार और जो हिस्सा ढका रहेगा वह अधिष्ठान होगा। अब उसके अन्दर कारणताओं का निरूपण करते हुए कहते हैं 'गहनं गभीरं किम् आसीत्'। यहाँ जो परमकारणता और अन्य कारणताओं का वर्णन किया है इसी को गहन और गंभीर कहा। यह इतना गम्भीर विषय है कि बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी इसे नहीं समझ पाते। गंभीर कहकर यह बता रहे हैं कि यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो तब समझ में आये, नहीं तो समझ में नहीं आयेगा। मोटे दृष्टांत से समझो : एक आदमी को यदि हम कहें 'अपना एक पैर उठा ले' तो वह एक पैर उठा लेगा, एक सैकेण्ड के लिये तो उठा ही लेगा। हृष्ट-पुष्ट होगा तो खट नीचे रख देगा और हल्का-फुल्का होगा तो आधा घंटा तक

भी खड़ा रहेगा ! अब उसे कहते हैं 'यह अभ्यास तो हो ही गया, अब दूसरा पैर भी उठा ले।' चाहे जितना विलक्षण हल्का-फुल्का हो, दूसरा पैर नहीं उठा सकेगा ! इसका भेद क्या किसी पैर-विशेष में है ? यह तो नहीं कि दाहिना उठ सकता है बायाँ नहीं या बायाँ उठ सकता है दाहिना नहीं उठ सकता ! दोनों में एक जैसी शक्ति है। एक के उठने की शक्ति काम आते ही दूसरे के उठने की शक्ति प्रतिबद्ध हो गई। इसी प्रकार जैसे ही सृष्टि के अंतःपाती कार्यकारणता का विचार करने लगते हैं वैसे ही मूल कारणता का विचार प्रतिबद्ध हो जाता है। यदि मूलकारणता का विचार करने लगते हैं तो सृष्ट-कारणताओं का विचार प्रतिबद्ध हो जाता है। जब तुम स्वतंत्र कारणता का विचार करते हो तब परतंत्र कारणता प्रतिबद्ध हो जाती है। जैसे जिस समय तुम एक पैर उठा रहे हो उस समय में स्वतंत्र कारणता है, दूसरे पैर का न उठना परतंत्र कारणता है। जब तुमने स्वतंत्र कारणता को व्यक्त किया तब परतंत्र कारणता प्रतिबद्ध हो गई। जब तक तुमने परतंत्र कारणता को लिया नहीं, तब तक तुम्हारी स्वतंत्र कारणता अप्रतिबद्ध है। इसलिये श्रुति कहती है 'गहनं गभीरं' यह बड़ा गहन और गम्भीर विषय है जो समझ में नहीं आता और बिना इसको समझे 'अंभः' अर्थात् कर्म की घुंडी हटती नहीं।

भगवान् ने इसीलिये कहा 'गहना कर्मणो गतिः' कर्म की गति बहुत गहन है। क्यों गहन है ? कर्म में कुछ है जो स्वतंत्र है, कुछ है जो परतंत्र है। जब कोई भी कार्य इस सृष्टि में करते हो तब कहीं तुम्हारी स्वतंत्रता है और कहीं स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्रता वाले स्थल को यदि तुम सामने स्पष्ट रखोगे तब परतंत्रता वाला

कारण तुम्हें अभिभूत नहीं करेगा लेकिन परतंत्र कारण को यदि प्रधान करोगे तो वह स्वतंत्रता को अभिभूत कर देगा। पूर्ण स्वतंत्रता है नहीं। किसी भी कर्म में पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है। हम यहाँ बोल रहे हैं, साधारण आदमी समझेंगे कि हम स्वतंत्र हैं क्योंकि जबान से बोल रहे हैं। यदि अगले क्षण जीभ को लकवा हो जाये तो होठ हिलते रहेंगे कोई आवाज़ नहीं निकलेगी। अगर अपनी ही थूक श्वासप्रणाली में चली जाती है तो बोलना बन्द हो जायेगा, खाँसी करने लग जायेंगे। यदि यह ध्वनिप्रसारण-यंत्र इस समय ज़ोर से भौं करने लग जाये तो बोलना बन्द हो जायेगा ! कितने कारण हैं, कोई हिसाब नहीं है। इसलिये इसमें हम *सर्वथा* स्वतंत्र हैं—ऐसा नहीं है। लेकिन सर्वथा परतंत्र हैं—यह भी नहीं। किसी ने हमसे कुछ कहा, हमने गाली बकी या नहीं बकी। यह नहीं कह सकते हो कि वहाँ भी परतंत्रता है। इसलिये भगवान् कहते हैं 'गहना कर्मणो गतिः' क्या कर्म है, क्या अकर्म है इन सब बातों को समझना पड़ता है और यह गहन विषय है क्योंकि जब कर्म करते हो तब स्वतंत्र जो चेतन और परतंत्र जो शरीर-मन इत्यादि दोनों मिल जाते हैं। दोनों मिलकर ही कर्म करेंगे। उसमें जहाँ तक शरीर-मन-बुद्धि हैं वे सब परतंत्र हैं। वहाँ स्वतंत्रता नहीं है। रसगुल्ला खाया है, रसगुल्ला अच्छा लगा है तो रसगुल्ले खाने को मन करता है, स्वतंत्रता कहाँ है ? बहुत चलकर आये हैं शरीर को शक्ति की ज़रूरत है तो भूख लगी है अर्थात् खाने को मन करता है। बुखार चढ़ा हुआ है, जीभ एक दम चमड़े की तरह हो गई इसलिये खाना कड़वा लगता है। दूसरा कह रहा है 'कुछ खा लो, अंग्रेज़ी दवाई बड़ी गरम होती है।' वह कहता है 'और नहीं

खाऊँगा।' स्वतंत्रता से यह नहीं कह रहा है। यदि उसकी जीभ वैसे न हुई होती तो पदार्थ में स्वाद भी ग्रहण करता और खा लेता। शरीर मन बुद्धि इत्यादि के जितने कार्य हैं उनमें परतंत्रता है। लेकिन शरीर बुद्धि इत्यादियों को प्रेरणा देने में स्वतंत्रता है। यदि प्रेरक की दृष्टि लेते हुए *सर्वथा* स्वतंत्रता समझोगे तो भी काम नहीं होगा। दूसरी तरफ यदि शरीर मन आदि को लेकर *सर्वथा* परतंत्र समझोगे तब भी काम नहीं होगा। ये दोनों भूलें लोग करते हैं।

आज का मनोवैज्ञानिक, आज का समाज-वैज्ञानिक यह मानता है कि मनुष्य परतंत्र है। कोई मानता है कि बचपन में जो संस्कार पड़ गये उनके सर्वथा परतंत्र है। कोई मानता है कि व्यक्ति समाज के नियम-परतंत्र है। अर्थशास्त्री मानता है कि सब चीज़ें अर्थ के पराधीन हैं। वह मानता है कि अर्थ की कामना सबको है। लेकिन बात किसी की पूरी तरह बनती नहीं है। ऐसे व्यक्ति देखे जाते हैं जो प्राप्त अर्थ को छोड़कर एकान्त में जाकर भजन करते हैं और ऐसे व्यक्ति देखे जाते हैं जो रात में एकांत में आकर चोरी करके दूसरे के धन को ले जाते हैं। सर्वथा अर्थ की पराधीनता कैसे मानोगे ? यहीं दिल्ली के अंदर एक औरत हमको बता रही थी कि वह कनाट प्लेस में कुछ सौदा खरीदने गई, उसके बटुए में दस हज़ार रुपये के नोट थे। उसने वहाँ जाकर चार-पाँच सौ रुपयों की साड़ी खरीदी और घर आ गई। घर आते ही उसे पता लगा कि 'मैं तो अपना बटुआ वहाँ भूल आई जिसमें रुपये थे।' बड़ी घबराई, तुरंत फोन किया तो दुकानदार ने कहा 'मत घबराओ, मैंने देख लिया था और रखा है, आप आकर ले

जाओ।' वहाँ पहुँची जैसे ही थैला हाथ में लिया वैसे ही सबसे पहले रुपये गिनने शुरू किये, पूरे रुपये थे। बड़ी खुश होकर हजार के नोट निकाल कर उस दुकानदार को देने लगी। उसने कहा 'यह आप क्या करती हैं, यह तो आपकी चीज़ है।' उसने कहा 'ऐसा ईमानदार कहाँ मिलता है ?' लेकिन दुकानदार ने कुछ नहीं लिया। यहाँ दो विरुद्ध धर्म हैं : चाँदनी चौक में जो साड़ी ढाई सौ में मिलती है, कनाट प्लेस वाले उसी को पाँच सौ में बेचते हैं। इसलिये वहाँ का व्यापारी अर्थलोलुप नहीं—यह नहीं कह सकते। लेकिन प्राप्त दस हज़ार को छोड़ भी रहा है। दस हज़ार का फायदा करने के लिये साठ-सत्तर हज़ार का सौदा बेचेगा तब फायदा होगा और साठ हजार की साड़ियाँ कितने साल में बिकनी हैं ! लोग कह देते हैं कि 'भविष्य-दृष्टि से सोचते हैं।' लेकिन वह फिर से उसी दुकान से ही सौदा ले, यह नियम नहीं। दस हज़ार से दो हज़ार रुपये तो वैसे ही व्यापारी साल भर में कमा लेगा। यदि कुछ भी हिसाब लगाकर देखो तो उसका दस हज़ार रुपया वापिस करना बिल्कुल समझ में नहीं आता। *अर्थ* तो उसे लौटा देने में कारण नहीं बन रहा है। लौटाया उसने ज़रूर। इसलिये जब कहते हैं कि 'मनोवैज्ञानिक कारणों से मनुष्य चलता है, सामाजिक कारणों से चलता है, आर्थिक कारणों से चलता है' तब केवल आंशिक सत्य कहते हैं।

दूसरी ग़लती भी हो जाती है : नौकर आता है कि 'हमारा वेतर्न बढ़ा दो।' उसे उपदेश करते हैं कि 'भोगों में क्या रखा है, दाल रोटी चलती है तो बड़ा अच्छा है, पैसे वाले बड़े दुःखी होते हैं।' यदि तुम समझते हो कि अर्थ, मनोविज्ञान,समाज कुछ भी

नहीं कर सकता है, तो यह भी ग़लत बात है। अतः नौकर भी इसी समाज में है जिसमें तुम, अगर तुम पैसों को महत्त्वपूर्ण समझते हो तो वह भी समझेगा, तुम पैसा बढ़ाने की सही-ग़लत कोशिशें करते हो तो वह भी करेगा। जब समाज में सामान्यतः धन को दुःख-हेतु माना जायेगा तब वह भी वैसा ही मानेगा।

वेद यह कहता है कि मूल कारण तो स्वतंत्र है लेकिन आगे जो शरीर आदि, मन इत्यादि के व्यवहार होंगे वे नियमानुकूल होंगे। जब कर्म करते हो तब हर कर्म में दोनों मिलकर काम करते हैं। जितनी शरीर मन आदि की तरफ़ ज़्यादा दृष्टि होगी उतनी परतंत्रता ज़्यादा होगी। जितनी आत्मा की तरफ़, परम कारण की तरफ़ दृष्टि बनेगी उतनी स्वतंत्रता होगी। सर्वथा परतंत्र तो एक परमेश्वर ही है जिसने सृष्टि का पूर्वक्षण में संकल्प किया जो आगे वाली सारी सृष्टियों का बीज हुआ। और पूरा परतंत्र तो केवल लकड़ी-पत्थर हो सकता है। हो *सकता* है; है नहीं कह रहे हैं ! उसमें मतभेद है क्योंकि उसमें भी क्रिया देखी जाती है किन्तु वह विषय दूसरा है। यह जो कर्म करते समय स्वतंत्रता और परतंत्रता का ज्ञान है इसको अवगत कराना ज़रूरी है।

पुराणों के अन्दर एक कथा आती है : महिषासुर को तो भगवती ने मार दिया; महिषासुर का एक गज नाम का पुत्र था। असुर होने से उसे गजासुर कहते थे। वह उस समय छोटा था अतः बच गया, क्योंकि जो युद्ध में जायेंगे वही मारे जायेंगे—यह भारतीयों का व्यवहार है। जो युद्ध में नहीं गये हुए हैं उन पर जाकर बम फेंकना—यह योरोपीय संस्कृति है कि जो नहीं लड़ रहा है उसको भी मारो। जिस समय में ज़ार को मारने के लिये

रूस में लेनिन इत्यादि गये थे उस समय ज़ारिनी की गोद में एक छः महीने का बच्चा था, उसने चिल्लाकर कहा कि 'इस मासूम को तो छोड़ दो।' उस समय लेनिन का वाक्य है कि 'साँप का बच्चा भी साँप ही होता है, मार दो।' यह उनकी संस्कृति है। यद्यपि देवताओं ने महिषासुर को मरवा दिया तथापि गजासुर छोटा था इसलिये बच गया क्योंकि उसे मारने का प्रसंग ही नहीं। वह बड़ा हुआ, धीरे-धीरे उसे पता लगा कि 'मेरा पिता संसार का इतना बड़ा राजा होकर भी मारा गया।' परम्परा के स्मरण से मनुष्य के अन्दर जोश आता है। बहुत साल पहले मिलिट्री के एक ब्रिगेडियर ने हमसे कहा—'स्वामी जी ! जिस समय युद्ध होता है उस समय शराब आदि पिलाकर मरने वालों को युद्ध में भेजते हैं। उन्हें जोश दिलाया जाता है क्योंकि ऐसे युद्ध में जाना जहाँ चारों तरफ गोलियाँ चल रही हों, कोई सरल काम नहीं है।' जब लोग बड़े ज़ोर से कहते हैं कि 'पाकिस्तान को ख़तम कर देना चाहिये था।' तब हम कहते हैं 'तू अपने लड़के को फौज में भरती करायेगा ?' तो सब ठंडे पड़ जाते हैं। जब तक जोश न चढ़े तब तक युद्ध भूमि पर कोई उतरता नहीं। ब्रिगेडियर ने बताया 'यदि ब्राह्मणों की संख्या अधिक होती है और साथ वाले सैनिक जाट होते हैं तो उन्हें गाली देकर कहते हैं 'ये साले जाट ! तुम ब्राह्मणों से आगे चले जायेंगे !' उधर जाटों को कहते हैं कि 'तुम जाट होकर इन ब्राह्मणों से पिछड़ जाओगे !' यों जोश दिलाना पड़ता है। आगे वह कह रहा था 'यदि फौज के अन्दर अनुसूचित जातियों वाले भर दिये गये तो उन्हें जोश क्या कहकर दिलायें ?' ठीक इस प्रकार जब गज को अपने पूर्व पुरुषों का पता लगा तब उसके

मन में आया 'मैं भी किसी प्रकार पुनः उस राज्य को प्राप्त करूँ।' लेकिन उसके पास और कुछ तो था नहीं इसलिये तपस्या करनी प्रारंभ कर दी।

'तपो हि दुर्धर्षं वदन्ति' तपस्या से असंभव काम सम्भव कर लिया जाता है। ब्रह्मा जी की प्रसन्नता उद्देश्य करके उसने तपस्या करनी प्रारंभ की। जब उसकी तपस्या पूरी बढ़ गई तो देवता ब्रह्मा जी से कहने लगे 'किसी प्रकार इसे शांत करो क्योंकि इसकी तपस्या बढ़ती जा रही है।' जैसे-जैसे तपस्या बढ़ती है वैसे-वैसे देवता लोग घबराने लगते हैं। ठीक जैसे जब लेबर यूनियन तगड़ी होती हैं तब इंडस्ट्रियलिस्ट घबराने लगते हैं। उसका जो लीडर हो उसे हज़ार-दो-हज़ार देकर अपने यहाँ नौकर बना लेते हैं। ऐसे ही देवता भी डरते रहते हैं। ब्रह्मा जी से कहा 'यह तो बहुत बढ़ जायेगा ! आप ही इसे शांत करो, नहीं तो इसकी शक्ति बहुत हो जायेगी।' देवताओं ने जाकर सिखाया तो ब्रह्मा जी तैयार हो गये। उससे जाकर कहा 'तुम्हें जो वर चाहिये वह ले लो और तुम शांत हो जाओ।' पहले तो उसने कहा 'मैं किसी से मारा न जाऊँ।' ब्रह्मा जी ने कहा यह नहीं हो सकता। सृष्टिचक्र में यह नियम हो ही नहीं सकता कि जो चीज़ पैदा हो वह खतम न हो। जैसे जिससे मिलोगे उससे बिछुड़ना ज़रूर पड़ेगा वैसे पैदा हुए हो तो मरना भी ज़रूर पड़ेगा। इसलिये यह जो तुम माँग रहे हो यह तो असंभव है। मारे न जाओ—यह कभी नहीं हो सकता। जैसे कोई यदि परमेश्वर से भी कहे कि हमें एक 'वर्गचक्र' (square circle) बनाकर दो तो परमेश्वर भी नहीं बना कर दे सकते ! गोल हो और चौखटा हो दोनों कैसे हो सकता है ! जैसे ऐसा वृत्त

नहीं बन सकता जो चार कोनों वाला हो, क्योंकि फिर वह वृत्त ही नहीं रहेगा। इसी प्रकार जो चीज़ सृष्ट हुई है वह समाप्त न हो यह हो ही नहीं सकता क्योंकि यदि समाप्त न होती तो वह सृष्ट ही नहीं हो सकती थी।

गजासुर ने विचार कर कहा 'अवध्योऽहं भविष्यामि स्त्रीपुंसैः कामनिर्जितैः' 'चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, जो कभी भी किसी कामना से आकृष्ट हो गया हो वह मुझे न मार सके।' उसे पता था कि जितने देवता इत्यादि हैं सारे कामना वाले तो हैं ही। सृष्टि का प्रारंभ होता है तो पहला बीज ही काम है 'सोऽकामयत' परमात्मा ने सबसे पहले इच्छा को पैदा किया, तभी आगे सृष्टि चली। 'तदैक्षत' उसने ईक्षण किया। इसलिये ब्रह्मसूत्र कहता है 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' परमेश्वर की इच्छा को शास्त्र बार-बार सृष्टि का कारण कह रहा है इसलिये प्रकृति इत्यादि अनुमानसिद्ध पदार्थ समग्र जगत् के कारण नहीं हो सकते। केवल एकमात्र शिवेच्छा ही जगत् का मूल कारण है, परम मूल कारण तो शिव हुआ। उसने पहले इच्छा की तब आगे दूसरी चीज़ें पैदा हुईं। 'काम के द्वारा जो-जो जीता गया है उनके द्वारा अवध्य हो जाऊँगा तो बच जाऊँगा' ऐसा सोचकर वह वरदान गजासुर ने माँगा। ब्रह्मा जी ने 'एवमस्तु' कहकर वरदान दे दिया।

इस ताकत को प्राप्त कर उसने बचे-खुचे असुरों को इकट्ठा किया, फौज बनाई, देवताओं पर चढ़ाई कर दी। अवध्य था ही, बहादुर भी था। केवल अवध्य होने से कुछ नहीं होता, वीरता भी साथ ही चाहिये।

अगर बहादुर न हो तो क्या होता है ? महाभारत में आता

है कि दुर्योधन ने एक बार द्रोणाचार्य से कहा कि 'कहीं से मैं बींधा न जाऊँ ऐसा कवच बना दो।' उन्होंने कहा 'वह बहादुरों के लिये है।' दुर्योधन नहीं माना, कहने लगा 'मैं अर्जुन से लडूँगा, मुझे कवच दो।' द्रोणाचार्य को हँसी आई, लेकिन कवच दे दिया। अर्जुन के सामने पहुँचा। भगवान् ने अर्जुन से कहा कि 'इसने बड़ी हिम्मत की, तेरे सामने आ गया।' अर्जुन ने जो बाण मारा वह उसे नहीं लगा। भगवान् ने कहा 'आज क्या बात है, आज इसी को घबराकर नहीं भगा पा रहा है ?' अर्जुन हँस पड़ा, कहने लगा 'लगता है गुरु जी ने इसे अभेद्य कवच पहना दिया है। लेकिन घबराइये नहीं, इसे भगाता हूँ।' कवच हाथों की कलाई तक आ जायेगा लेकिन बाण चलाने के लिये हथेली को तो खुला छोड़ना पड़ेगा। अर्जुन ने उसी स्थल पर बाण मारने शुरू किये तो दुर्योधन अपने हाथों को ही नहीं बचा पाया, थोड़ी देर में भाग गया। केवल अवध्य होने से काम नहीं चलता, कार्य करने की शक्ति भी चाहिये। आजकल की अवध्यता क्या होती है ? जिस सरकार के पार्लियामेण्ट में वोट ज़्यादा हों वह सरकार गिरेगी नहीं। अवध्य तो है, लेकिन इतने मात्र से काम पूरा नहीं हुआ करता, कार्य करने की क्षमता तो चाहिये। कार्य करने की क्षमता हो तब आगे काम चले।

गजासुर को अवध्य किया इतने मात्र से वह जीता ऐसा नहीं, उसमें कार्य करने की सामर्थ्य भी थी। देवता, गंधर्व, यक्ष सबको उसने जीता। यह सब ऐश्वर्य प्राप्त कर उसके अन्दर आनी तो तृप्ति चाहिये थी लेकिन इन्द्रियों को उसने नहीं जीत रखा था इसलिये इन सब कोषों को प्राप्त करके भी तृप्ति नहीं आई। सारा

भोग उसे उपलब्ध हुआ लेकिन भोग की उपलब्धि से क्या होगा जब तक इन्द्रियों के ऊपर नियंत्रण नहीं होगा। आजकल यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जिन घरों के अन्दर हाथ से ताड़ का पंखा घुमाते थे उनके बच्चों के घरों में आज वातानुकूल लगा हुआ है। जिन घरों में मील दो मील जाने के लिये दुअन्नी पैसा बस में चढ़ने के लिये नहीं दिया जाता था उन घर वालों का आज पन्द्रह साल का बच्चा स्कूटर या मोटर लेकर जा रहा है। भोग की कोई कमी थोड़े ही है ! लेकिन फिर भी उन बच्चों को देखो तो उनमें *तृप्ति* नहीं है। उल्टा, उस समय जितनी तृप्ति थी उतनी भी नहीं है। कारण ? अजितेन्द्रिय हैं। ग़लती बच्चे की नहीं है, बच्चे को हमने इन्द्रियों को जीतने की शिक्षा ही नहीं देनी चाही। स्कूल में भेज दिया तो टंटा मुका। बड़ा हुआ, नौकरी करने लग गया। यह किसने सिखाया कि जीने की क्या कला है ? इन्द्रिय, शरीर, मन पर कैसे नियंत्रण किया जाये—यह शिक्षा कहीं नहीं मिलती। महिषासुर का पुत्र गजासुर सारे ऐश्वर्य को प्राप्त कर गया लेकिन तृप्ति नहीं हुई। यही फरक है कर्म को समझने में और न समझने में। यही यहाँ श्रुति कह रही है 'गहनं गभीरं' अथवा 'कर्मणो गहना गतिः' भगवान् कह रहे हैं। तुम जब शुभ कर्म करोगे, पुण्य उत्पन्न होगा उससे तुम्हें सुख-भोग मिलेगा, यह तो सारा मिल जायेगा लेकिन भोग भोगने की अपेक्षा तृप्ति मिलने की कला और है। जो कर्म को ठीक समझेगा वह उस तृप्ति की कला को भी जानेगा।

तृप्त कौन होता है ? इसको ठीक से समझना। इन्द्रिय कभी तृप्त नहीं हो सकती। जैसे कोई चाहे कि 'हम इतना खायें कि

बाद में न खाना पड़े' यह कभी नहीं हो सकता। उस समय नहीं खा पाओगे, थोड़े समय के बाद फिर भूख तेज़ हो जायेगी। इसी प्रकार कोई चाहे कि आँख इतना देख ले कि फिर आगे देखने की ही शक्ति न रहे, कान इतना सुन ले कि कान के सुनने की शक्ति न रहे—यह कभी नहीं हो सकता क्योंकि इन सबके अन्दर वही शक्ति है जिस शक्ति से यह पुनः नवजीवन को प्राप्त कर जाते हैं। चाहे जितना थककर सोओ, सवेरे फिर सारी इन्द्रियाँ तैयार हैं। भगवान् ने जो सृष्टि की है वह हमेशा चक्र में चलती है, यह सृष्टि का नियम है। पृथ्वी चलेगी तो गोल, पृथ्वी के चारों तरफ चन्द्रमा चलेगा तो गोल, सूर्य चलेगा तो गोल, यहाँ तक कि यदि धनाणुओं के चारों तरफ ऋणाणु भी चलेंगे तो गोल, स्नायुमण्डल में ज्ञान चलेगा तो गोल; वापिस वहीं आ आयेगा—यह क्रम है। यदि यह न होता तो भगवान् को रोज़ नई चीजें बनानी पड़तीं। इसीलिये परमेश्वर की सृष्टि के पदार्थों में खाने के लिये जितनी चीज़ें तुम बोओ वे उग कर तुम्हारा भक्ष्य बनती हैं, फिर जो तुम्हारा मल आदि हुआ वही खाद बन जाता है, चक्र पूरा हो गया। जो तुमने पानी पिया वही फिर लघु शंका इत्यादि के द्वारा समुद्र में पहुँचकर बादल से शुद्ध होकर तुम्हारे पास लौट आया। इसलिये यह एक स्वचालित (automatic) मशीन-सा है, अपने-आप रोज़ चक्र चलता रहता है, भगवान् को रोज़ इसमें हस्तक्षेप नहीं करना पड़ता। इसलिये इन्द्रियाँ तृप्त नहीं हो सकतीं। मन भी सृष्ट पदार्थ होने से तृप्त नहीं हो सकता। वह फिर ताज़ा हो जायेगा।

तृप्ति तो उस मूल कारण आत्मा की होगी। गीता में कहा

'यस्त्वात्मरतिरेव स्याद् आत्मतृप्तश्च मानवः।' आत्मतृप्ति का मतलब क्या है ? मन ने स्वतंत्र होकर एक इच्छा उत्पन्न की। चक्र प्रारंभ हुआ। जब इच्छा पूर्ण हुई तब तुमने जो चक्र चलाया था वह वापिस घूमकर तुम्हारे पास आ गया। इच्छा के बाद मन, इन्द्रिय, शरीर आदि सबने प्रवृत्ति की और जब वह पदार्थ तुम्हें उपलब्ध हो गया तब वह चक्र पूरा हुआ, तुम्हारी इच्छा वापिस तुम्हारे अंदर आ गई, तब सुख हो गया। यदि उस इच्छापूर्ति के सुख की तरफ ध्यान दोगे तब तो ज़रूर तृप्ति आयेगी क्योंकि तुम्हारी इच्छा थी, पूरी हुई तो तुम्हें तृप्ति होगी। भूल होती यह है कि हम इन्द्रिय मन आदि से पूछने लगते हैं कि 'तृप्त हुए या नहीं ?' मन समझ लेता है 'यह अच्छा बेवकूफ मिला !' तुरन्त दूसरी इच्छा पैदा कर देता है ! जो मिला उससे सुख ले सको इससे पहले ही उसने दूसरी इच्छा उत्पन्न कर दी। वह इच्छा पूरी करो तब तक वह फिर तीसरी इच्छा पैदा कर देता है। इसलिये जो तुमने इच्छा की उस इच्छा की पूर्ति-काल में *तुम* तृप्ति का अनुभव न करके मन द्वारा दूसरी इच्छा उत्पन्न करके अतृप्त ही बने रहते हो। कई बार जब हम भोजन करने बैठते हैं तो लोगों को देखते रहते हैं—कई तो भोजन को धीरे-धीरे अच्छी प्रकार से एक-एक कौर का स्वाद लेते हुए खाते हैं और कई लोग भोजन करते हुए झट खाते जायेंगे और बातें करेंगे कि 'परसों उनके यहाँ अमुक चीज़ बड़ी स्वादिष्ट बनी थी।' जो खा रहे हो उधर ध्यान दो, इतना परिश्रम करके भोजन बनाया गया, उसकी आत्मतृप्ति तो लो। लेकिन नहीं लेते। अपने शरीर की तृप्ति नहीं लेते। गर्मी हो रही है, अकस्मात् ठंडी हवा चली, उस हवा से शरीर को सुख मिला,

उस सुख से आत्मतृप्ति हुई। क्योंकि हम चाह ही रहे थे कि ठंडी हवा मिले। लेकिन उस समय दो मिनट बैठकर तृप्ति का अनुभव नहीं करते। उल्टा क्या करते हैं ? 'अच्छा हुआ ठंडी हवा चली, खाता ले आओ गर्मी कम हो गई !'

वही हाल गजासुर का था। अजितेन्द्रिय होने से तृप्ति नहीं होती तो अतृप्त पुरुष दूसरों पर खीझने लगता है। घर में भी यही होता है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि हृष्ट-पुष्ट घर में सबको सुखी करता है और दुबला-पतला सबको दुःखी करता है। क्या कारण है ? हृष्ट-पुष्ट आदमी वही होगा जो खाने-पीने और पहनने में रस लेगा इसलिये उसे तृप्ति है। दूसरे को तो हमेशा अतृप्ति ही बनी रहेगी। अतृप्त आदमी हमेशा खीझता रहता है और चारों तरफ जिस-जिस को दुःखी नहीं देखता उसके पीछे पड़ता है कि उसे भी खीझ हो ! 'मुझे इतनी चीज़ मिली, सुख नहीं मिला तो इसे सुख कहाँ से मिला ?' उसके पीछे पड़ता है। एक बार रेल में हमसे किसी ने कहा कि महात्मा लोग काम नहीं करते, इस समय देश में काम की ज़रूरत है, आपका विचार क्या है ? हमने कहा कि तुम्हारा विचार तो बहुत ठीक है। जो लोग नौकरी करना चाहते हैं और उसके लिये अर्ज़ी दे चुके हैं उन सबको काम दिला दो। जब उन सबकी बेरोजगारी की समस्या ख़त्म हो जाये और फिर भी करने लायक कुछ काम रह जाये तब हम महात्माओं को भेज देंगे ! जो काम करना चाहते हैं उन्हें दे नहीं पाते हो और जो नहीं करना चाहते हैं उन्हें कहते हो 'काम करो' ! ऐसा क्यों? कारण यह है कि वे काम न करने वाले महात्माओं को देखकर खीझते हैं। जब गरीबों को देखते हैं कि वे दुःखी हैं, और स्वयं

को समझते हैं 'मैं उनसे अच्छा हूँ' तब सन्तोष होता है। लेकिन यहाँ जब देखते हैं कि 'महात्मा इतने सुखी हैं ! मैं इतना काम करता हूँ फिर भी सुखी नहीं,' तब खीझकर महात्माओं को भी दुःखी करना चाहते हैं। रात में नींद नहीं आये तो सबसे ज़्यादा पत्नी को डाँटेगा कि 'मुझे नींद नहीं आ रही और यह पड़ी खुर्राटे भर रही है !' विचार करे तो समझे कि 'कम-से-कम यह तो सो रही है, मैं नहीं सो पा रहा हूँ तो मैं दुःखी; यह तो उस दुःख से बची है।'

गजासुर को खीझ हुई कि 'मुझे तृप्ति नहीं आई' तो महात्मा-ब्राह्मणों को सताने लगा क्योंकि उन्हीं को संतुष्ट देख रहा था। महात्मा-ब्राह्मणों का प्रधान क्षेत्र काशी है। हमारी धार्मिक राजधानी हमेशा से काशी रही है, आज भी है। वह काशी गया और वहाँ जाकर सब लोगों को बहुत दुःख देने लगा। सब भगवान् शंकर के पास गये और कहा 'आप ही हमारी रक्षा करो।' भगवान् शंकर उन सबकी प्रार्थना स्वीकार करके आये। गजासुर ने बड़े ज़ोर का युद्ध किया। भगवान् शंकर तो स्मरहर हैं, वे तो काम के द्वारा जीते नहीं गये हैं। इसलिये उन्होंने उसे थोड़ी देर तक अपने मन की निकाल लेने दी। जो अच्छा पहलवान होता है वह यदि जान भी ले कि सामने वाला कमज़ोर है तब भी पहले ही पूरा वार करके उसे ख़त्म नहीं करता, नहीं तो जितने वहाँ कुश्ती देखने वाले आये हैं उन सबका मज़ा ही किरकिरा हो जाता है! इसलिये पहले उससे थोड़ा ज़ोर करवाता है। भगवत्-लीला में लोग प्रश्न करते हैं कि इतना समय उन्हें मारने में क्यों लगा ? उत्तर यही है कि लीला का एक अंग यह भी है कि उसे भी अपना

ज़ोर दिखाने का मौका मिले। जब देख लिया कि यह अपना बल क्षीण कर चुका तब एक ही बार त्रिशूल मारा, गजासुर उसमें फँस गया। वह बिंधा और महादेव ने त्रिशूल ऊँचा कर दिया। जब उन्होंने त्रिशूल से विद्ध उसे ऊपर उठाया तब उसका खून सब निकल गया। उसका विचार जाग्रत् हुआ। सोचने लगा—'जो काम को कभी नहीं जीत सका वही काममूलक सृष्टि का आदि कारण है। बाकी सब चीजें तो कामना के बाद पैदा हुईं लेकिन ये काम के द्वारा आहत नहीं हैं इसलिये ये वह परम पुरुष हैं जिन्होंने कामना को उत्पन्न किया, ये कामना से अलग हैं। और ऐसे परमेश्वर ने मुझे ऊपर उठाया ! धूप तेज़ है, मैं इनके ऊपर छाया कर रहा हूँ।' उस काल में उसने अपने को छाता समझ लिया कि भगवान् ने मुझे छाता बना लिया। छाता क्या करता है ? ढाँकता है, आच्छादन करता है। सारे जगत् का जो अधिष्ठान कारण शिव है उसने मुझे छाता बना लिया अर्थात् मैं आच्छादक हो गया।

कहने लगा 'भगवन् ! मैंने जो युद्ध आदि किया इस सबका अंतिम उद्देश्य यही था कि मुझे तृप्ति मिले। कामनाओं से तृप्ति नहीं होती है यह मैं समझ गया था। इसलिये वरदान भी यही माँगा था कि कामजित से अवध्य रहूँ। कामनाओं से अतीत होना मेरा लक्ष्य था। कभी समझता था कि कामनाओं की प्राप्ति होकर तृप्ति होगी। आज आपको देख रहा हूँ, आप दिगम्बर हैं, आपके शरीर में कोई आभरण भी नहीं है, और भी कुछ आपके पास नहीं है, फिर भी आप कामजित हैं नहीं अतः मुझे मार सकते हैं। इससे—कामना के द्वारा तृप्ति होती है—यह मेरा अविवेक नष्ट हो गया। 'देव देव महादेव तव भक्तोस्मि सर्वदा।' मैंने आपको

पहचान लिया कि कामदेव को नष्ट करने वाले परब्रह्म परमात्मतत्त्व अधिष्ठान एकमात्र आप ही हैं, आप ही देवदेव महादेव हैं, सबके प्रकाशक हैं। आपको न जानने के कारण ही मैं सृष्टि चक्र के अन्दर यह चक्कर लगा रहा हूँ। आप कामनाशक हैं। मैं भी जब कामना की पूर्ति करने जाता रहा तब भी कामना को हटा ही रहा था लेकिन पूर्णतः हटाने का तरीका नहीं जानता था, यह बात दूसरी है। मन में रसगुल्ले की कामना होने पर उसे हटाने के लिये ही रसगुल्ला खाने जाता रहा, मन में धन की कामना हुई तो उसे हटाने के लिये ही कमाने जाता रहा। संसार में हर व्यक्ति कामना को हटाने के लिये ही कर्म कर रहा है पर पूरी तरह हटाने का तरीका नहीं जानता। आपके हाथ से मैं समाप्त हुआ यह मेरे लिये महान् श्रेयस्कर काम हुआ, बहुत अच्छा हुआ।' भगवान् शंकर तो भोले बाबा हैं ही। उसकी बात सुनकर प्रसन्न हो गये। कहने लगे 'तुम वर माँग लो।' अब वह शुद्ध अंतःकरण वाला हो गया था इसलिये कहा 'मैं यही माँगता हूँ कि आप हमेशा दिगम्बर रहते हैं, आज से आप मेरे इस चमड़े को पहनकर रखा करें।' इसीलिये भगवान् शंकर गजचर्म पहनते हैं। 'जिस आपको आज तक किसी ने नहीं ढाँका उस आपको मैं ढाँके रहूँ। आप कहेंगे 'तू तो असुर है, राक्षस है और मैं परम पवित्र हूँ। फिर मेरे शरीर को तेरे जैसा अपवित्र पदार्थ ढाँक कर रखे यह तो ठीक नहीं।' लेकिन यह बात ठीक नहीं क्योंकि आपके त्रिशूलाग्नि का स्पर्श करके क्या मेरा यह शरीर पवित्र नहीं हो गया ? यदि यह पवित्रता न होती तो आपका स्पर्श मुझे मिलता कैसे ? यही इस बात को बता रहा है कि मैं आपके योग्य हूँ। गज का चर्म बड़ा कठोर होता है। आप

इसे पहने, लेकिन इसे अपने लायक बना लें। इष्ट यह है कि मेरा जो चमड़ा है यह कभी कठोर न हो। आपको जैसी सुगन्धि पसंद हो इसमें से वैसी ही सुगन्धि निकलती रहे। यह हमेशा निर्मल रहे, इसके ऊपर कोई किसी प्रकार का दाग या मैल न लगे और हमेशा ही यह आपको सुख देता रहे।' भगवान् शंकर तो औढर दानी हैं ही। कहा 'ऐसा ही होगा, ऐसे ही पहने रखूँगा।' तभी से भगवान् शंकर का नाम कृत्तिवास पड़ा। जहाँ यह युद्ध हुआ था उसी स्थल पर आज भी कृत्तिवासेश्वर का मन्दिर काशी में है।

विचार करो, इसके द्वारा पुराण किस रहस्य को बता रहा है? कर्मरहस्य को स्पष्ट करके बता रहा है। मह् धातु से निष्पन्न महिष का अर्थ होता है जो हमेशा बढ़ता है। महिष भैंसे को कहते हैं, यमराज उसके ऊपर बैठते हैं। जो हमेशा बढ़ता रहे वह काम है। चाहे जितना इसे तृप्त करने का प्रयत्न करो, यह फिर बढ़ जायेगा। जिस आदमी को दो सौ रुपये महीना मिलता है उसको जब पूछते हैं 'तुमको क्या चाहिये ? अपने मुँह से बोलो', वह कहता है कि 'सवा दो सौ मिल जायें।' पच्चीस की बढ़ोत्री माँग रहा है। उसी को जब दो हज़ार रुपया महीना मिलता है तब कभी नहीं कहता कि 'दो हज़ार पच्चीस मिले', सीधा कहता है कि 'ढाई सौ बढ़ा दो।' जब कम मिलता था तब केवल पच्चीस की माँग थी, अब ज़्यादा मिलता है तो ज़्यादा की माँग कर रहा है। जिस आदमी को दो लाख का फ़ायदा होता है वह यह कभी नहीं कहता कि 'बहुत हो गया', अब सीधा ही कहता है कि 'तीन लाख का फ़ायदा हो'। जितना कामना को पूर्ण करते जाओ उतनी ही यह ज़्यादा

तेज़ होती जाती है। जिसके ऊपर यमराज अर्थात् मृत्यु बैठे वह महिष। मृत्यु का कारण कामना ही तो है। इसी के कारण मनुष्य मरता है। अगली योनि में भी इसीलिये जाता है कि कामना से मरा है। यदि कामना न होती तो आगे कभी मरना नहीं पड़ता। दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। महिष काम को बताता है, उसका पुत्र गज है। 'गज मादने' धातु है जिसका अर्थ मद होता है। मनुष्य को जब किसी पदार्थ की प्राप्ति होती है तब उसे एक मद आता है जिसे मोटी भाषा में घमण्ड कह सकते हो। मद और घमंड में सूक्ष्म भेद यह है कि मद में अविवेक की मात्रा ज़्यादा है। इस मद ने न जाने कितनी चीज़ों को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रखा है ! हाथी जब मद में रहता है तब किसी को कुछ नहीं समझता। हम सब कामना से उत्पन्न होने के कारण मद वाले हैं। न जाने अपने मद में, अविवेक में, कितने कर्म कर लिये ! अनादि काल से कर्म करते चले आ रहे हैं, लेकिन तृप्ति नहीं होती जैसे गजासुर को नहीं हुई।

तृप्ति न होने पर वह काशी गया। काशी ज्ञान की भूमि है। काशी मायने प्रकाश अर्थात् ज्ञान, इसलिये ज्ञान वाली जगह काशी है। जब ज्ञानभूमि में जाता है, विचारभूमि में जाता है, अर्थात् जब अविवेक से तृप्ति नहीं हुई तो विचार करके देखता है कि विचार में ही कुछ तृप्ति मिले। विचार तो महात्माओं-ब्राह्मणों के पास ही मिलेगा। इसीलिये वह वहाँ गया। लेकिन पहले-पहल जब विचारभूमि में जाता है तब श्रद्धा तो होती नहीं। श्रद्धा न होने के कारण वहाँ भी वह उन्हें प्रताडित करता रहता है अर्थात् अपने मन में तरह-तरह के विकल्प उठाता रहता है। वहाँ भी शांति नहीं

लेता। लेकिन सत्पुरुषों का संग बेकार नहीं जाता। दुश्मनी से करे, कुटिलता से करे तो भी बेकार नहीं जाता है। यह तो ऐसा है जैसे पारस मणि को तोड़ने के लिये हथौड़ा मारो तो वह भी सोने का हो जायेगा। पारसमणि कभी नहीं कहेगी कि 'यह मुझे मारने आया है, मैं इसे क्यों सोना बनाऊँ ?' सत्पुरुषों के मन में यह नहीं आता। इसलिये उन्होंने भगवान् शंकर से प्रार्थना की कि 'इसको आप ठीक कर दें।' भगवान् शंकर ने उसे त्रिशूल से मारा। 'भावना-ज्ञान-कर्मभिः' सद्भाव, सद्ज्ञान और सत्कर्म—तीनों जब मनुष्य करता है तब गजासुर की अतृप्ति हट जाती है।

उसके बाद वह बचा तो रहता ही है क्योंकि जब तक प्रारब्ध-भोग करना है तब तक रहना है, लेकिन अब वह भगवान् शंकर का वस्त्र बन जाता है। इसी को शास्त्रीय भाषा में अविद्यालेश कहते हैं। परमेश्वर का वस्त्र बनने का मतलब है कि निरंतर परमेश्वर का जो मार्ग है उसी को वह सर्वत्र खोलता रहता है, बताता रहता है। जब तक प्रारब्ध रहेगा तब तक यह रहेगा लेकिन उसका खोखला शरीर अब परमात्मा का वस्त्र बन गया है। जैसे अपने स्वेटर में, वस्त्र में तुम रहते हो ऐसे ही जीवन्मुक्ति अवस्था के अन्दर ज्ञानी परमात्मा का वस्त्र बन गया क्योंकि सिवाय परमात्मा के उसमें कोई नहीं है। इसलिये उसके शरीर से हमेशा इष्ट गंध ही आती है। उसकी जो वासना होगी वह परमेश्वर को इष्ट वासना होगी। जो परमेश्वर चाहता है वही उसके मन में आयेगा। परमेश्वर-विषयक ही वासना होगी। उसका मन हमेशा ही प्रत्येक सृष्ट पदार्थ के प्रति कोमल ही रहेगा, किसी के प्रति उसके मन में कठोरता नहीं आ सकती। दण्ड देने का उसके

मन में विचार ही नहीं आता। अतिकोमल उसका सारा व्यवहार हो जायेगा। वाणी कोमल रहेगी। पैर ज़मीन पर रखेगा तो कोमलता से। संसारी लोग बूट भी खट-खट करके चलते हैं, नीचे के तल्ले वाले भले ही रोते रहें ! बाल्टी को धम्म से रखेंगे, नीचे वालों की क्या चिन्ता ! उसके अंदर कभी किसी प्रकार का मल नहीं आता, हमेशा निर्मल बना रहता है और कभी भी उसके अन्दर किसी को दुःख देने वाली प्रवृत्ति नहीं होती। कर्मों का स्वरूप है कि जब तक कामनाओं की तृप्ति के लिये कर्म करो तब तक बंधन का हेतु और जब परमेश्वरभाव के ज्ञान सहित कर्म करो तब बंधन-रहितता का हेतु। जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञ की सभी क्रियाओं में यह विशेषता प्रकट होने लग जाती है। इस कर्म का स्वरूप क्या है—इस पर दूसरे मंत्र में विचार करेंगे।

प्रवचन—२२

पूर्व मंत्र में सृष्टि के मूल कारण को सत्-असत् से विलक्षण, अनिर्वचनीय अज्ञान या अव्यक्त रूप से प्रतिपादित किया। इस अनिर्वाच्यता को समझाते हुए बताया कि न वहाँ द्रष्टावर्ग, न दृश्यवर्ग था; न भोग्यवर्ग न भोक्तावर्ग था। उस ब्रह्म के ऊपर 'आधार' के सम्बन्ध से कोई ढाँकने वाली आवरण शक्ति वाला पदार्थ नहीं था और चूँकि आवरण वाला नहीं था इसलिये उसमें 'अधिष्ठानता' भी नहीं थी। चूँकि व्यवहार उत्पन्न नहीं हुआ था, अध्यास उत्पन्न नहीं हुआ था, इसलिये तब अधिष्ठान भी नहीं था। अध्यास और आधार का संबंध कर्म को निमित्त बनाकर होता है। उस कर्म का भी अभाव था। कर्म स्वतंत्रता और परतंत्रता का संयोग है—इस पर विचार किया। केवल शुद्ध स्वतंत्र आत्मा में भी कर्म सम्भव नहीं, केवल शुद्ध अज्ञान जड के अन्दर भी कर्म सम्भव नहीं। कर्म की सम्भावना स्वतंत्रता-परतंत्रता दोनों मिलकर अर्थात् चिदचिद्-ग्रन्थि होने पर ही सम्भव है। अभी वह ग्रंथि नहीं पड़ी थी।

दूसरा मंत्र कहता है—

'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास।।२।।'

उस समय मृत्यु नहीं थी। जब तक चिदचिद् की गाँठ नहीं पड़ती तब तक मृत्यु नहीं हो सकती। मृत्यु नहीं थी तो शंका होगी कि मृत्यु का विरोधी अमरता होगी ? मृत्यु ही नहीं तो अमरता का कोई तात्पर्य नहीं है ! ये सब घटनायें जिस काल में होती हैं वह काल भी नहीं था। न उस काल में रात्रि थी और न दिन ही था। दिन और रात से ही सारे काल का प्रवाह होता है। वही नहीं थे तो आगे सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर कहाँ से होंगे क्योंकि ये सब अहोरात्र को लेकर ही प्रवृत्त होते हैं। यहाँ तक तो क्या-क्या नहीं था, वह निषेध-मुख से बताया अर्थात् प्रलय काल में क्या-क्या नहीं था। पूर्व श्लोक में बताया कि कार्य नहीं था, कारण नहीं था, दृश्य नहीं था, द्रष्टा नहीं था, आवरण नहीं था, आधार नहीं था इत्यादि; क्या-क्या नहीं था यह बताया।

क्या था ? वह अब बताते हैं 'तद् एकम् आसीत्' बस वह अखण्ड एक था। लेकिन कैसा था वह ? श्रुति की विलक्षण कल्पना है। सब चीज़ों का निषेध करके कहा कि वह अकेला था, लेकिन साँस ले रहा था ! अन् प्राणने धातु है। वायु, शरीर इत्यादि के अभाव में यहाँ 'साँस लेने' का मतलब यह लौकिक साँस लेना तो हो नहीं सकता है इसलिये यहाँ 'आनीत्' का मतलब है कि

उसके अन्दर पूर्ण रूप से सारी शक्तियाँ थीं। जैसे कोई व्यक्ति पहचान नहीं रहा है, सुन नहीं रहा, देख नहीं रहा, अपने शरीर की मक्खी को उड़ा नहीं रहा, सब कार्यों में अक्षम दीख रहा है, कोई कार्य करने में असमर्थ दीख रहा है, फिर भी साँस चल रही है तो आशा है कि ठीक हो जायेगा और सब काम कर लेगा। यदि श्वास चल रही है तो सब करने की सम्भावना उसमें है। जब साँस नहीं लेगा तब सारी सम्भावनायें इकट्ठे ही ख़त्म हो जायेंगी। जब मनुष्य का श्वास-प्रश्वास बन्द हो गया तब क्या अलग-अलग देखते हो कि इसका पैर चलेगा या नहीं, हाथ चलेगा या नहीं अथवा मुँह से बोल सकेगा या नहीं ? श्वास चलती है और बाकी कुछ नहीं हो रहा है तो संभावना है कि ठीक हो जायेगा बाकी सब कर लेगा। यदि श्वास बन्द हो गया, प्राणन शक्ति नहीं रही तो अलग-अलग नहीं देखते। नाडी को या हृदय को देखकर डॉक्टर कहता है कि मामला ख़त्म हो गया। उसके बाद अलग-अलग परीक्षा नहीं करता कि आँख, कान इत्यादि अलग-अलग मरे या नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि प्राणनशक्ति है तो कुछ न होने पर भी सब हो सकता है और प्राणन-शक्ति नहीं हो तो कुछ नहीं है। इसी प्रकार यहाँ श्रुति कहती है कि वह एक अखण्ड ब्रह्म प्राणशक्ति से युक्त था। इसका मलतब यह श्वास-प्रश्वास नहीं वरन् सकल ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने की सम्भावना है, उसमें सामर्थ्य है। ऐसा अर्थ आनीत् का क्यों किया, सीधा ही मान लो कि ज़ोर-ज़ोर से खुर्राटे भर रहा होगा ? श्रुति ने व्याख्या तुम्हारे ऊपर नहीं छोड़ी, खुद अपने मुँह से कह दिया 'अवातं' अर्थात् श्वास-प्रश्वास वाली हवा वाला अर्थ यहाँ 'आनीत्'

का मत करना, केवल हमें समझाने के लिये श्रुति ने यह कल्पना कर ली है। अन्यथा 'अप्राणः' श्रुति से विरोध हो जायेगा।

वस्तुतः विचार करके देखो तो 'आनीत्' शब्द के अन्दर ही ये सब भाव पड़े हुए हैं। 'आनीत्' शब्द में तीन अर्थ पड़े हुए हैं : अन् धात्वर्थ, कर्तृत्व और भूतकाल से संबंध—तीनों पड़े हुए हैं। तीन अर्थ बताने के लिये 'आनीत्' नहीं कहा वरन् कर्तृत्व से उपलक्षित जो निरुपाधिक परब्रह्म उसकी भूतकाल-सत्ता बताने के लिये कहा है, उसमें भी सत्ता ही विवक्षित है न कि भूतकाल। उसकी प्राणन शक्ति को समझना है, कर्तृत्वादि को नहीं। विस्तार से आगे बतायेंगे। "वह अकेला अपनी प्राणशक्ति वाला था"—यह सुनते ही द्वैतवादी ने कहा, "हमारा काम बन गया। हम पुरुष और प्रकृति—दो ही मानते हैं, एक वह था और उसकी शक्ति थी।" अतः श्रुति स्पष्ट करती है 'स्वधया तदेकं' वह शक्ति उससे अलग कुछ नहीं है, वह स्वधा है। उसकी अपनी महिमा को ही यहाँ प्राणशक्ति कहा जा रहा है, और कोई चीज़ नहीं है। विचार करो : जब कहते हो कि 'इन्होंने व्यापार अपने पैसे से किया है।' व्यापार तो पैसे से ही होगा। "अपने पैसे" का मतलब है कि किसी दूसरे का रुपया नहीं लिया। लेकिन व्यापार तो हमेशा अपने पैसे से ही करोगे। हर-एक आदमी अपने पैसे से ही व्यापार करता है। हमने तुम से दस हजार रुपये उधार लिये, हम तुमको ब्याज दे रहे हैं तो वह पैसा किसका है ? हमारा ही है। तुमको जिस दिन लौटायेंगे उस दिन तुम्हारा होगा, आज तुम्हारा नहीं है। जब तक तुम्हारा पैसा हमारा नहीं बन जाये तब तक हम व्यापार में थोड़े ही लगा सकते, पैसा हमारा बन जाये तभी हमारा काम

चलेगा। जब किसी मकान को खरीदने जाते हो तो पूछते हो कि "मकान तो खरीद रहा हूँ उसका कब्जा हमें दोगे या नहीं ?" अर्थात् उसके ऊपर हमें कब्जा दिला सकोगे या नहीं? वह कहे कि "मकान तो तुम्हें बेच दूँगा, कब्जा तुम्हें नहीं दे सकता। बड़े बदमाश लोगों के द्वारा भाड़े पर ले लिया गया है इसलिये कब्जा नहीं दिला सकता।" तब तो लाख रुपये का मकान पच्चीस हजार में बिकेगा। वह मकान बिकने पर भी *तुम्हारा* हुआ नहीं, जो प्रयोग तुम करना चाहते हो वह उससे नहीं कर सकते। दूसरी तरफ, यदि मकान की लिखा-पढ़ी कमजोर भी है लेकिन तुम्हें कब्जा मिल जाता है तो तुम सोचते हो कि "जाकर बैठ तो जायेंगे, फिर मुकदमा होगा तो देखा जायेगा।" मकान का प्रयोग तो हो गया। इसी प्रकार रुपया हमारे कब्जे में आ गया। हम जितने के काबिज हो गये उतना ही व्यापार में लगायेंगे। अगर कहें "दस लाख तुम्हें दिया, लेकिन बैंक में तुम्हारे नाम से रखा रहेगा।" तो उस दस लाख से हमारा व्यापार नहीं चलने वाला है। कोई भी रुपया *तुम्हारा* रुपया बनकर ही तुम्हारे व्यापार में लगता है। हर-एक आदमी अपने रुपये से ही व्यापार करता है। फिर भी "अपने रुपये" का मतलब है कि किसी दूसरे से उधार लिया हुआ रुपया नहीं है। अपने आप से उधार लेना उधार नहीं माना जाता। 'अपने आप से उधार' का मतलब समझ गये होगे। दुकान खोलकर बैठते हो, कुछ अपना रुपया उसमें लगाओगे ही; जैसे दूसरा लाख रुपया उधार देता है तो लिखते हो कि "एक लाख रुपया हरिराम सरावगी का आया", वैसे ही दस हजार रुपया अपने नाम का लिख देते हो। कोई साझीदार हो तो उसका भी लिख

देते हो। तुम्हारा भी रुपया जमा और दूसरे का भी जमा है लेकिन उस रुपये को उधार का नहीं माना जाता। इसी प्रकार यदि परमात्मा ने अपने से दूसरी किसी प्रकृति इत्यादि के द्वारा सृष्टि की होती, किसी दूसरे की महिमा होती तो कहा जाता कि द्वैत है। वह उसकी अपनी ही महिमा है, अपनी धारण की हुई शक्ति है। केवल 'स्वधा' कहकर श्रुति को संतोष नहीं हुआ कि कोई कहीं किसी तरह का भेद लाकर न पटक दें—क्योंकि भेदवादी तो बहुत हैं—इसलिये जोड़ दिया कि उससे अन्य निश्चित रूप से और कुछ भी नहीं था, 'तस्माद् ह अन्यद् न परः किञ्चन आस'।

सबसे पहले कहा कि मृत्यु नहीं था। मृत्यु क्या है ? पूर्व मंत्र के अंत में 'अंभः' का कर्म के रूप में विचार आया था। मृत्यु का कारण कर्म ही है। कर्म के अभाव में मृत्यु नहीं था और अमृत्यु अमरता भी कर्म का ही फल है 'अपाम सोमम् अमृता अभूम' सोम याग करके अमृत अर्थात् स्वर्ग लोक को प्राप्त कर लिया जाता है। कर्म का फल नहीं था इसलिये न मृत्यु था और न अमृत्यु था, क्योंकि मृत्यु और अमृत्यु दोनों कर्म का ही फल होते हैं। इसीलिये शास्त्रों में जो अमरता देने वाले कर्म हैं उन्हीं को अमृत कहा जाता है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं—

'अन्नं देवातिथिभ्योऽर्पितम् अमृतमिदं चान्यथा मोघमन्नं
यश्चात्मार्थं विधत्ते तदिह निगदितं मृत्युरूपं हि तस्य।
लोकेऽसौ केवलाघो भवति तनुभृतां केवलादी च यः स्यात्
त्यक्त्वा प्राणाग्निहोत्रं विधिवद् अनुदिनं योऽश्नुते सोऽपि
मर्त्यः।।'

जो अन्न देव, अतिथि, पितृ इत्यादि को निवेदित किया जाता

है, जैसा निवेदन करना गृहस्थ के लिये नित्य नियम है, उसी अन्न को अमृत कहा जाता है। जो अन्न देवता अतिथि और पितृ को नहीं दिया जाता वह अन्न ही मृत्यु हो जाता है। स्वयं श्रुति यही कहती है 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य' जो केवल अपने लिये ही अन्न को प्राप्त करता है, वह अन्न उसकी मृत्यु ही है। अन्न मायने केवल चावल इत्यादि ही नहीं वरन् सारी भोग्य सामग्री। जो किसी भोग्य सामग्री को केवल अपने लिये प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वह भोग सामग्री ही उसकी मृत्यु है। इसलिये भोजन बनाते समय पहले यह याद रखना चाहिये कि भगवान् को भोग लगाने के लिये बना रहे हैं, कोई अतिथि आयेगा उसे खिलाने के लिये बना रहे हैं अथवा श्राद्ध आदि के अन्दर पितरों के लिये बना रहे हैं। इस दृष्टि से जो अन्न बनाया जायेगा वह तो अमृत कहा जायेगा। जो मैं अपने खाने के लिये बनाता हूँ, न भोग लगाने के लिये न अतिथि के लिये, न पितरों के लिये बनाता हूँ, उसी को मृत्यु कहा जाता है। देवादि के अर्पणार्थ भोगों से भिन्न भोग-सामग्री व्यर्थ है। जो देवादि को बिना अर्पण किये अपने लिये बनाता है, वह वेदांत शास्त्रों के अन्दर मृत्यु कहा है। अपने लिये भोग में प्रवृत्ति मृत्यु है, देवता आदि के लिये उसी पदार्थ का विनियोग करना—इसी का नाम अमरता है।

बात समझने में सीधी है, क्या करने में भी सीधी है ? किसी समय भारतवर्ष में बड़ी सीधी थी। किसी समय मायने जब तक भारतीयों को यह अभिमान नहीं हो गया था कि "हम स्वतंत्र हो गये हैं।" घर में चार भाई होते थे। अपने लिये बड़ा भाई कपड़ा नहीं लाता था, अपनी पत्नी के लिये भी नहीं लाता था, उसे शरम

आती थी कि ''ले जाऊँगा तो सब क्या कहेंगे ?'' बाकी सब छोटे भाई उसके लिये लेकर आते थे और वह बाकी सब घरवालों के लिये लाता था। भाईयों के लड़कों को तो वह गोद में खिलाता रहता था लेकिन अपने लड़के को गोद में लेने में शरम खाता था कि ''लोग क्या कहेंगे ?'' यह शिक्षा थी। उसके बाद आई स्वतंत्रता जिसका तात्पर्य हुआ कि हम *स्वाभाविक* कार्य करें। आजकल प्रायः लोग पूछते हैं कि क्या वैसा व्यवहार स्वाभाविक था। हम कहते हैं. कभी हमारे साथ चलो, ताँगे का घोड़ा देखो, वह *स्वाभाविक* है। चलते हुए या खड़े-खड़े ही चाहे जहाँ मूतेगा, हगेगा, उसे कोई विचार नहीं करना है, यह स्वाभाविक स्थिति है। तुम भी जब पैदा हुए तब यही करते थे। माता कितने रुपये की साड़ी पहने हुए है, वेग को रोकना चाहिये इससे कोई मतलब नहीं। संस्कृति का मतलब ही है स्वाभाविकता को जीतकर आगे चलना। लोग 'स्वाभाविक' शब्द का प्रयोग प्रशंसा में करते हैं और वस्तुतः यह प्रयोग निंदा में है। जैसे भाष्य में आता है 'नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' अज्ञान से व्यवहार करना स्वाभाविक है। बहुत से लोग समझ लेते हैं कि 'स्वाभाविक है' का अर्थ है 'ठीक है।' वे तो निन्दा में कह रहे हैं कि ''अविवेकी लोग ऐसा किया करते हैं।'' वह प्रशंसा में नहीं कहा गया है। पुराने लोग स्वाभाविक नहीं थे यह कहना तो बिल्कुल ठीक है क्योंकि उस समय के लोग असंस्कृत नहीं थे, अविवेकी नहीं थे, विवेकी थे। उन्हें पता था कि क्या करना उचित है। उस शिक्षा का नतीजा यह होता था कि हमेशा मन में यह शरम रहती थी कि ''मैं अपने लिये न करूँ''।

आप लोगों में बहुतों को याद होगा कि यदि बच्चे को या

पति को कोई साग अच्छा लगा या कोई मिठाई अच्छी लगी तो माता या पत्नी कहती थी 'और लो', खाने वाला पूछता था कि 'पीछे बचा है या नहीं' तो वह कहती थी 'बहुत है।' सारा खिलाकर खुद समय पर अचार से ही रोटी खा लेती थी। प्रसन्नता मानती थी कि "आज इन्हें हमारा बनाया भोजन पसन्द आया।" आज वह कटोरी में डालकर पहले अपना हिस्सा रैफ्रिजरेटर में रख लेगी। इसी को यहाँ शास्त्र कहता है 'तदिह निगदितं मृत्युरूपं' यही मृत्यु है। जब घरवालों के लिये करने की शिक्षा ही नहीं मिलेगी तो दूसरों के लिये करने की क्या शिक्षा मिलेगी ? जब घर में यह शिक्षा मिलती थी तो बाहर वालों के लिये भी वही शिक्षा मिलती थी।

जब आदमी को अपना ऐश्वर्य दिखाना होता था तो कहाँ दिखाता था ? धर्मशालायें बनाकर दिखाता था, एक काशी में बना लो, एक हरिद्वार में तो एक जगन्नाथ धाम में बना लो। लोग कहते थे "बहुत बड़ा आदमी है क्योंकि कई धर्मशालायें बनायी हैं।" आज ऐश्वर्य को धर्मशाला में न दिखाकर अपने मकान में दिखायेंगे, मकान में भी टट्टीघर में मार्बल लगाकर दिखायेंगे कि हमारे पास इतना धन है। उनकी बुद्धि ही वहाँ जाती है। यह नहीं सोचते कि इससे किसी दूसरे का झोंपड़ा बना दें। किसी व्यक्ति को विवाह आदि में ऐश्वर्य दिखाने का शौक होता था तो अपना ऐश्वर्य तब भी दिखाता था लेकिन सौ ब्राह्मणों की लड़कियों का विवाह करा कर दिखाता था। लोग कहते थे, "उनके पास बड़ा ऐश्वर्य है, उन्होंने ढाई सौ गरीब ब्राह्मणों की लड़कियों का विवाह कराया है।" अब कहते हैं कि "एक ही लड़की है, मैंने

तो दस लाख रुपया लगा दिया है।" अमृत वाली दृष्टि होती तो सोचते कि इस समय न जाने देश में कितनी कन्यायें अविवाहित हैं, जिनका धन की कमी के कारण ब्याह नहीं हो रहा है। भगवान् ने मुझे इतना योग्य तो नहीं बनाया कि मैं सबके लिये कुछ कर सकूँ लेकिन पचास की सहायता तो करूँ।

यह मृत्यु और अमृत का फरक है। कर्म ही मृत्यु और अमृत दोनों रूप वाला बन जाता है। जब अमृत रूप अन्न का प्रयोग करते हैं तब वस्तुतः सुख शान्ति का अनुभव होता है, मृत्यु रूप अन्न का प्रयोग करके कभी सुख शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। मृत्यु का अर्थ केवल प्राणवियोग रूप मरना ही नहीं होता है। बहुत से लोग समझते हैं कि प्राणवियोगानुकूल कार्य हो जाये अर्थात् साँस आना बन्द हो जाये उसी का नाम मृत्यु है। वह तो मृत्यु है ही, लेकिन हम लोग संघात हैं, संघात मायने समूह। शरीर के अंगप्रत्यंगों का संघात अर्थात् समूह, इन्द्रियों का संघात, अंतःकरण का संघात, महाभूतों का संघात, कई संघात हैं, सब मिलकर हम हैं। संघात में से एक चीज निकले तो भी वह उसकी आंशिक मृत्यु ही है। पूरी मोटर खड़ी है, कहीं कोई खराबी नहीं है। पूछो, "मोटर चलाते क्यों नहीं हो ?" कहता है "स्टार्टर काम नहीं कर रहा है।" बाकी सारी गाड़ी तो ठीक है, एक स्टार्टर ही खराब है तो उसे जाने दो, चलाओ मोटर। यहाँ सारी मोटर खराब मानोगे या नहीं ? गाड़ी का एक चक्का निकल गया तो यह थोड़े ही कहोगे कि एक चक्के को जाने दो, तीने से ही काम चला लो। एक चक्के के निकलने से ही सारी गाड़ी बेकार हो गई। शरीर में भी यही बात है। किसी का सिर दुख रहा है, उससे कहो, "जाग

रहे हो, आँखें तो नहीं दुख रही हैं, परीक्षा पत्र जाँच लो, सिर को दुखने दो।" लेकिन उससे कोई काम नहीं हो सकता क्योंकि संघात एक है। इसलिये संघात के एक-एक अंश का निकलना भी मृत्यु ही है। जो अमृत का सेवन नहीं करता उसको इसीलिये कभी भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसकी यह मृत्यु निरंतर होती रहती है। जिसमें विचार जाग्रत् हो जाता है, जो विवेकी हो जाता है, उसको अमरता की प्राप्ति हो जाती है।

उज्जैन में, अवंतिकापुरी में एक शिवशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था। निरंतर सत्संग आदि में प्रवृत्त था। उसके घर में पाँच जने थे, एक वह, एक उसकी पत्नी, दो पुत्र और बड़े बेटे की बहू। रोज जाकर भगवान् महाकालेश्वर का दर्शन करना, वेदांत आदि सत्संग श्रवण करता और फिर मन्दिर से जाते समय रास्ते में कोई भी एक अतिथि मिल जाये तो उसको साथ लेकर घर आता, भोजन इत्यादि से उसका सत्कार करता था, उसका नियम था। उज्जैन का महाकालेश्वर द्वादश ज्योतिर्लिंगों में एक है इसलिये वहाँ तीर्थयात्री हमेशा दर्शन करने जाते हैं। अतः अतिथि मिल ही जाते थे। प्रतिदिन एक अतिथि की सेवा करके भोजन कराने का उसका नियम था। ऐसा करते-करते काफी समय बीत गया। सुख-दुःख तो हमेशा आता ही रहता है, स्वाभाविक है, सहज है। एक दिन उसके बड़े पुत्र को एक विषधर सर्प ने डस लिया। वह उसका कुछ इलाज कराने का प्रयत्न करे इसके पहले ही वह पुत्र चल बसा। स्वाभाविक था कि सब लोग बड़े दुःखी हो गये। एक ही पुत्र। अभी विवाह हुआ ही था, उसका बच्चा भी नहीं हुआ था, अभी जवान ही उसकी बहू थी। आज्ञाकारी और सब

प्रकार से योग्य, काम करने वाला पुत्र था। इसलिये सबको अतिदुःख होना स्वाभाविक था। सब बिलख रहे थे, तड़प रहे थे। इतने में बाहर से किसी संन्यासी की आवाज आई 'ॐ ॐ ॐ'। तीन बार ॐका उच्चारण सुनने से वह वैदिक दृष्टि वाला होने से समझ गया कि संन्यासी भिक्षा के लिये कह रहा है। उसका रोज का नियम तो था भगवान् का दर्शन करके सत्संग श्रवण करके अपने साथ ही एक अतिथि को लेकर आने का; आज भाग्य से अतिथि स्वयं अपने घर पहुँच गया, क्योंकि आज वह बाहर नहीं जा सका था। वह अपनी पत्नी से कहने लगा कि 'क्या किया जाये ? यहाँ तो कोई संन्यासी आया है।' यह कहकर वह बाहर गया और उन्हें बाहर के बैठक के कमरे में बैठा दिया। अन्दर जाकर उसने सबसे पूछा कि क्या करना चाहिये ? सब लोग कहने लगे कि 'मृत्यु तो होती ही रहती है, जिसको भी जन्म की प्राप्ति हुई है उसकी मृत्यु तो होगी, लेकिन आये हुए अतिथि का किसी प्रकार से निरादर नहीं होना चाहिये, इसको तो भोजन करा ही देना चाहिये क्योंकि 'अतिथिः वैश्वानरः'। शास्त्र कहता है कि अतिथि तो साक्षात् नारायण वैश्वानर होता है।' उन्होंने पुत्र के शव को उसी समय एक कमरे में बंद कर दिया और सब जने भोजन बनाने लग गये।

भोजन बनकर तैयार हुआ महात्मा से कहा कि भिक्षा करिये। जब वह अंदर आकर भोजन करने बैठे तो उन्होंने कहा कि 'मेरा नियम है कि जहाँ मैं भिक्षा करता हूँ वहाँ सब घरवालों के साथ बैठकर ही भिक्षा करता हूँ इसलिये तुम लोग भी अपनी थालियाँ लगाओ, साथ बैठकर खायेंगे।' एक-दो बार तो उन लोगों ने कहा

'आप भोजन कर लीजिये, हम लोग प्रसाद ले लेंगे।' उन्होंने कहा 'मेरे नियम के अनुसार साथ बैठकर ही खाऊँगा।' सब विचार करने लगे, सत्संगी थे, विचारशील थे, विवेकी थे। सोचा 'आज अपने दुःख में नहीं भी खायेंगे तो कल, कल नहीं तो परसों खाना ही पड़ेगा। आज हम लोग नहीं खायेंगे तो सम्भवतः ये अपमान मानकर चले जायें, इसलिये अपने भी इनके साथ खाने बैठ जायें।' उसी समय चार थालियाँ लग गईं। सब भोजन करने बैठ गये। उन्होंने कहा 'चार थालियाँ कैसे लगाई हैं? मुझे तो किसी ने कहा था कि आप घर में पाँच जने हो। पाँचवें को भी बुलाकर लाओ। सब बैठें तो खाना शुरू करें।' अंत में शिवशर्मा ने कहा, 'महाराज! क्या बताऊँ आज तो मेरा पुत्र मर गया।' 'कैसे मर गया ?' 'विषदंश से मर गया।'

महात्मा को बड़ा गुस्सा आया, कहने लगे, 'तू बाप बनता है और इतना निर्दयी है, कमरे में बेटा मरा पड़ा है, मुझे रोटी खिलाने लग गया। तेरे मन में कोई दुःख नहीं ? तू कैसा निर्दयी है, ऐसे के यहाँ में नहीं खाता।' उसने कहा, 'इसमें निर्दयता की क्या बात है ! यह संसार तो एक धर्मशाला है जिसके अन्दर लोग आते-जाते हैं, जितने दिन जिन्हें रहना होता है उतने दिन तक वे रहते हैं और जैसे ही काम खतम हुआ, चल देते हैं। जाते समय धर्मशाला में रहने वाला कोई धर्मशाला वाले किसी अड़ोसी-पड़ोसी से थोड़े ही पूछता है कि 'आज जायें या कल जायें ?' जब अपना काम हुआ तब चल दिया। इसलिये यह संसार तो एक धर्मशाला है जिसमें अपने-अपने शरीर रूपी कमरे में हम सब बैठे हुए हैं। जिस दिन इस कमरे से हमारा काम खतम हो गया, हम चल देंगे। इसमें

न कोई किसी के प्रति दया और न निर्दयता का प्रश्न आता है। आप नारायणस्वरूप हैं, आपने आज्ञा दी कि बैठकर खाओ तो हम खाने के लिये तैयार हो गये।'

महात्मा ने माँ की तरफ देखकर कहा 'लोग कहते हैं कि संसार में कपूत हो जाता है लेकिन माता कुमाता नहीं होती। बाप तो आदमी है, कठोर हृदय हो गया, लेकिन तू ऐसी निष्ठुर कैसे हो गई ?' उसने कहा, 'जब तक मेरा पुत्र जीता रहा तब तक उसे मैं अपने हृदय का टुकड़ा समझती थी और अपने सारे प्रेम को मैंने उसमें उंडेला। लेकिन विचार करिये, आज जब वह इस शरीर को छोड़कर चला गया तो क्या मेरा उससे कोई सम्बन्ध रह गया? जब तक जीता है तभी तक सम्बन्ध है। जैसे पेड़ पर रात्रि में चिड़ियाँ वास कर लेती हैं, आपस में बोलती भी हैं, कभी शाम के समय किसी पेड़ के नीचे बैठो तो चिड़ियाँ चैं-चैं करके झगड़ा भी कर लेती हैं। एक जहाँ बैठी हुई हो, दूसरी उसे चोंच मारकर हटा भी देती है। यह सब हो जाता है लेकिन उसके बाद जैसे ही सवेरे का समय होता है, उस वृक्ष से सभी चिड़ियाँ एक-एक करके उड़ जाती हैं। ठीक इसी प्रकार से इस संसार के अन्दर प्रारब्ध के कारण प्राणी एकत्रित होते हैं। जैसे ही प्रारब्ध समाप्त होता है सब अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं। जैसे वृक्ष पर रहते समय पक्षियों का परस्पर संबंध है, सवेरे कुछ नहीं, इसी प्रकार जब तक यह जिया, तब तक इसका और मेरा रिश्ता था, इसे मैंने सारा वात्सल्य दिया। अब तो यह गया। यदि मैं इस समय भोजन बनाकर तैयार न करती या खाने न बैठती तो जीवित पति की आज्ञा टालने का दोष होता। पुत्र तो मर चुका। आप स्वयं

नारायणस्वरूप अतिथि हैं, आपका भी अनादर होता।'

अब महात्मा ने छोटे भाई की तरफ देखकर कहा, 'ये तो माँ-बाप हैं, तुझे भाई ने बड़े प्रेम से रखा था, भाई का प्रेम तो राम लक्ष्मण का प्रेम होता है, तू तो महापापी है, सोचा मर गया तो अच्छा हुआ अब सारी सम्पत्ति मुझे मिल गई, तू ऐसा लोभी लगता है।' भाई कहने लगा 'आप बड़े हैं, पूज्य हैं जो भी दोष लगायें ठीक है, उसमें मुझे कुछ कहना नहीं है। लेकिन जितने भी सम्बन्ध होते हैं सब व्यावहारिक सम्बन्ध होते हैं। प्रत्येक जन्म में अलग-अलग सम्बन्ध होते हैं। आज जो बड़ा भाई है वह कल छोटा भाई हो जाता है। आज जो पिता है वह कल पुत्र हो जाता है। सम्बन्ध कोई प्रतियोनि स्थिर नहीं रहता। यह संसार तो एक हाट, बाजार है जहाँ गाँवों में अपना-अपना सौदा लेकर आदमी बेचने के लिये बैठा है। जिसका सौदा पूरा बिक गया वह अपनी दुकान उठाता है और चल देता है, ऐसा नहीं सोचता कि अभी पड़ोसी का नहीं बिका तो मैं भी बैठा रहूँ। यह संसार भी एक हाट है जहाँ अपना-अपना कर्म करने के लिये मनुष्य आया है, जैसे ही अपना माल बिका, वह कर्म पूरा हुआ, आदमी चल देता है। इसलिये आप जो कहते हैं कि मुझ में लोभ है वह लोभ का प्रश्न नहीं। मेरा माल मुझे और उसका माल उसे बेचना है।' महात्मा ने सोचा कि यह भी ऐसा ही निकला।

अब पत्नी से कहा, "तू महाकुलटा लगती है। संसार में सब साथ छोड़ देते हैं लेकिन पत्नी के लिये तो एक पति ही पूज्य होता है। और उसके मरने पर तेरे मन में दुःख नहीं ? पति ही तो पत्नी का धन होता है।" पत्नी ने कहा, "आप जो कहते हैं वह ठीक

है। जब तक वे रहे तब तक मैंने उन्हें परमेश्वर की मूर्ति समझा। शास्त्र कहता है पति परमेश्वर है अर्थात् परमेश्वर की मूर्ति है, परमेश्वर का विग्रह है। इसलिये जब तक वे जीवित रहे तब तक मैंने उन्हें परमेश्वर समझकर ही उनकी सारी सेवा की। लेकिन मूर्ति तो वे परमेश्वर की ही थे। सबका पति तो एकमात्र परमेश्वर ही है। परमेश्वर को छोड़कर और कोई सम्बन्ध स्थिर नहीं है। उस मूर्ति में परमेश्वर थे तो उस मूर्ति में मैंने पूजा की, वह मूर्ति नहीं रही तो महाकालेश्वर हैं ही, वास्तविक पति तो एकमात्र वही हैं। वह मूर्ति जिसने भेजी थी वह ले गया। भेजी हुई मूर्ति जब तक मेरे पास थी तब तक पूजा की। जैसे कोई तीर्थयात्रा में जा रहा हो और तुमसे कहे कि मेरे पीछे शालिग्राम की पूजा करते रहना, तुम करते रहे, जब वह वापिस आ गया तो उसने वापिस ले ली। जब तक रखा तब तक तुमने पूजन किया। इसलिये भगवन्! यह संसार तो एक नाटकशाला है। भगवान् जिसको जो स्वांग देता है उसे वह रटकर खेल लेता है। जिसका स्वांग खतम हो जाता है वह मंच से चला जाता है। जिसका अभिनय का काल समाप्त हुआ वह चल दिया और जो बच जाता है वह अपना अभिनय करता रहता है। आज के दिन तक परमेश्वर ने मुझे सधवा का स्वांग दिया था तो मैंने बढ़िया से बढ़िया वस्त्र पहनकर सधवा का स्वांग कर लिया, आज से परमेश्वर ने विधवा का स्वांग दिया है तो वह भी कर लूँगी। आप नारायणस्वरूप अतिथि घर पर आये हुए हैं, मेरे ससुर का जन्मभर का यह नियम है, मेरे पति भी जन्मभर इस नियम पर चलते रहे तो आज मैं अपने ससुर की बात न मानूँ यह कैसे बनेगा ?"

महात्मा ने कहा 'जो लड़का मरा है उसे लेकर आओ।' वे लाश को ले आये। महात्मा सिद्ध थे। उन्होंने कमण्डलु से जल छिड़ककर कहा, 'बेटा ! जी जा।' लड़का उठ खड़ा हुआ। सामने महात्मा को देखा तो पैरों पर गिर पड़ा। बाकी सब घरवाले भी उनके पैरों पर गिर पड़े कि काफी सिद्ध महात्मा हैं। वे उस लड़के से कहने लगे कि 'ये सारे तेरे घर वाले तेरी कमाई की मौज मारते हैं, सारे स्वार्थी हैं। तू मरा पड़ा था और ये भोजन पकाकर खा रहे थे। आज स्वार्थ का जो नग्न नृत्य मैंने देखा वह पहले कभी नहीं देखा।' वह कहने लगा "भगवन् ! यह तो मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मुझे मेरे माता-पिता असंग संबंध वाले मिले, इतना परमेश्वर की तरफ लगने वाले मिले, उन्हीं के कारण आज मेरी यह स्थिति है। आखिर यह संसार क्या है ? जैसे रास्ते चलते हुए लोग पेड़ की छाया में बैठ जाते हैं, उस छाया में बैठकर आराम करते हैं। जब तक जिसकी गर्मी शांत न हो जाये अथवा जिसका काम जितनी जल्दी सामने न हो उस हिसाब से बैठते हैं फिर चल देते हैं। इस प्रकार यदि परमात्मा मेरे द्वारा इन लोगों को कुछ धन आदि की प्राप्ति कराता है तो वह वृक्ष की छाया की तरह है। इसलिये यह कोई स्वार्थ का प्रश्न नहीं है। यह तो हरएक अपनी अपनी यात्रा में चल रहा है। जब तक जिसका काम सामने न आये तब तक बैठता है फिर आगे चल देता है।"

महात्मा प्रसन्न हो गये कहने लगे "तुम सब लोगों की जो यह स्थिति देखी यही अमृतमयी स्थिति है। किसी भी परिस्थिति के अन्दर चित्त का विक्षेप न होना ही अमरता है।" यह सुनते हुए सब घरवाले देखने लगे कि वह साधारण संन्यासी नहीं साक्षात्

शंकर थे। उन्होंने कहा, "तुम अमृत को प्राप्त करोगे क्योंकि यही वह स्थिति है जिसे भगवान् ने गीता में कहा, 'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' जिसमें बड़े से बड़े दुःख से भी आदमी घबराता नहीं।"

जैसे वह अतिथि को प्रधान रखकर कार्य करने का नियम रखता था वैसे जो भी इस प्रकार से कार्य करता रहता है वह अमृत को प्राप्त कर लेता है। जो स्वार्थ के लिये कार्य करता है वह मृत्यु लेता है। कर्म ही मृत्यु और अमृत रूप होते हैं। सृष्टि से पूर्व की अवस्था में न मृत्युरूप और न अमृतरूप कर्म था, दोनों से भिन्न केवल एक शुद्ध चैतन्य ही था।

प्रवचन—२३

कर्म के फल रूप से ही फलभोग के लिये सृष्टि का निर्माण है। जो कर्मफल मनुष्य को अमरता की तरफ ले जाता है वह अमृतत्व को उत्पन्न करने वाला होने से उसका कारण जो कर्म वह भी अमृत शब्द से कहा जाता है। जो मृत्यु की तरफ ले जाने वाला होता है, जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसाने वाला होता है, वह मृत्यु की तरफ ले जाने वाला होने से मृत्यु कहा जाता है। वह कौन-सा कर्म है जो मनुष्य की अमरता का साधक है, किस ज्ञान से अमृत तत्त्व की प्राप्ति होती है और कौन-सा वह कर्म है जो मृत्यु नाम से कहा जाता है तथा मनुष्य के जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमने का कारण बनता है—इन सबको मिलाकर सामवेद में चार भागों में बाँटा गया है। जहाँ यह बताया उस मंत्रसमूह का नाम ही सेतुगान है—

'सेतूंस्तर दुस्तरान्। दानेनाऽदानम्; अक्रोधेन क्रोधम्; श्रद्धयाऽश्रद्धाम्; सत्येनाऽनृतम्।'

सेतु बाँध को कहते हैं। पानी में जब बाँध बाँध दिया जाता है तब एक अखण्ड पानी कई टुकड़े वाला हो जाता है। बड़ा तालाब

हो, उसमें दो दीवालें खड़ी कर दो, तो पानी तीन भागों में बँट जायेगा। एक अखण्ड तालाब के बीच में दो दीवालें खड़ी करने से तीन की कल्पना हो जाती है। इसी प्रकार एक अखण्ड परब्रह्म परमात्मा में जब जीव-ईश्वर-भाव आया तब तीसरा जगद्भाव स्वतः उत्पन्न हो गया। दो दीवालें खड़ी करने पर तीसरे हिस्से को अलग से नहीं बनाना पड़ता। इसी प्रकार जीवभाव और ईश्वर-भाव के आने के साथ ही जगद्भाव अपने आप स्वतः आ गया। परिच्छिन्नता की दीवालों को ही सेतु नाम से यहाँ कहा गया है। श्रुति कहती है कि ये भाव ही सेतु या रुकावटें हैं। जीवभाव और ईश्वरभाव के आ जाने से अखण्ड परब्रह्म परमात्मा भेद वाला हो गया, टुकड़ों में बँट गया है। जहाँ टुकड़ा होता है वहाँ दुःख होता है, यह बार-बार श्रुतियों का उद्घोष है कि जो भूमा होता है, व्यापक होता है वह सुख होता है और 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' जो परिच्छिन्न होता है वह दुःखरूप होता है।

छोटे गाँव में एक आदमी के पास बीस हजार रुपये होते हैं तो वह वहाँ का बड़ा सेठ होता है। सारे गाँव वाले उससे डरते हैं क्योंकि गाँव वालों को तो कभी-कभी चार-पाँच सौ रुपयों की आवश्यकता पड़ती है। और उतने उसके पास हर समय मिल जाते हैं। इसलिये सब लोग समझते हैं कि न जाने इनके पास कितना धन होगा। वह भी अपने को बड़ा भारी सेठ समझता है। कभी घूमने के लिये दिल्ली आ जाये तो बीस हजार की पूँजी वाले को यहाँ लोग टटपुँजिया भी नहीं मानते। बीस लाख हों तो किसी की आँख में भी आये कि 'हाँ कुछ है'।

एक डाक्टर यहाँ से अमरीका काम करने गया। वहाँ किसी

आदमी से झगड़ा करके लौट आया कि "मैं वापिस अपने देश में जाकर काम करूँगा।" हमसे मिला। हमने कहा, "चुप करके वापिस चला जा !" वहाँ उसे पैंतीस हजार रुपया महीना मिलता था। इसके साथ कोई दूसरा अमेरिकन काम करता था, उसे उन्नति मिल गई। यह सोचता था कि मुझे उन्नति मिलनी चाहिये। वह पचास हजार रुपये महीने का काम था जो दूसरे को मिल गया। इस पर झगड़ा किया कि "मेरी योग्यता उससे अच्छी है।" मालिकों ने नहीं माना। इसने इस्तीफा लिख दिया कि "मुझे काम नहीं करना है।" जब यहाँ आकर हाल सुनाया तो हमने कहा कि "तुरंत माफी माँग कर चला जा ! यहाँ तो राष्ट्रपति भी होगा तो दस हजार मिलेंगे। तुमको लग रहा है कि पैंतीस हजार मुझे कम मिल रहे हैं और दूसरे को ज्यादा मिल गये जबकि यहाँ तो बात ही पंद्रह सौ से शुरू होती है।" यहाँ जिस डाक्टर को पाँच हजार रुपया महीना मिल जाये वह सोचेगा कि "मेरे जैसा कोई दूसरा नहीं है।" और वहाँ पैंतीस हजार मिलने पर भी होता है कि "मुझे कुछ नहीं मिला।"

इसलिये तुमको कितना मिलता है यह सुख का कारण नहीं बनता है। यदि तुम्हारे में अपरिच्छिन्न भाव आता है कि "मेरे पास सबसे अधिक है" तो वह बीस हजार भी संतोष का कारण है। "मेरे पास कम है"—यदि यह भाव है तो बीस लाख भी परिच्छिन्न होने के कारण दुःख का कारण बन जाते हैं। इसी प्रकार चाहे तुम किसी भी बड़ी से बड़ी चीज को प्राप्त करो, समग्र जगत् में व्यापक जो अखण्ड चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मतत्त्व है उससे तो परिच्छिन्नता ही रहेगी ! और जिसमें परिच्छिन्नता रहेगी वहाँ दुःख

न हो यह नहीं हो सकता। भगवान् बार-बार कहते हैं कि यह संसार कैसा है ? "दुःखालयम् अशाश्वतम्" दुःखरूप है, दुःखालय है। 'अनित्यमसुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व मां' इस संसार में सुख नहीं है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'संसारे तु सुखस्य गंधलेशोपि नास्ति' संसार में सुख की गंध का लेश भी नहीं है।

हर एक मनुष्य के मन में शंका आती है कि यदि संसार में सर्वथा सुख न होता तो हम सबको मिल क्या रहा है ? शास्त्र के इन वचनों का क्या तात्पर्य है ? तात्पर्य यह है कि यहाँ सुख मिलते काल में भी जो परिच्छिन्नता का ज्ञान है वह तुम्हें सुखी नहीं होने देगा। शरीर की परिच्छिन्नता का ज्ञान, इन्द्रियों की परिच्छिन्नता का ज्ञान, बुद्धि की परिच्छिन्नता का ज्ञान, यह जो निरंतर परिच्छिन्नताओं का ज्ञान है, यह वस्तुतः सुख को ग्रहण करने ही नहीं देगा। इसीलिये मनुष्य अपनी परिच्छिन्नता को भूलना चाहता है। किसी न किसी तरह चाहता है कि 'इसे भूल जाऊँ,' लेकिन जब तक परिच्छिन्नता है तब तक उसे भूल कर कितनी देर चलेगा ? जैसे छोटे बच्चे को भूख लगती है तो उसे भुलाने के लिये तुम चाकलेट या लालीपाप दे देते हो, दो-चार मिनट तक लेकर भूल जायेगा, फिर उसे छोड़ देगा क्योंकि उसे तो भूख लगी है, इसलिये जब तक दूध नहीं पी लेगा तब तक उसका दुःख दूर नहीं होगा, क्षणभर को भले ही चुप हो जायेगा।

इसी प्रकार अपरिच्छिन्नता की तुम्हें भूख है, व्यापकता तुम्हारी प्रकृति है वह जब तक तुम्हें प्राप्त नहीं होगी तब तक तुम्हें संतोष नहीं होगा। ये परिच्छिन्न पदार्थ क्षण मात्र को तुम्हारी चित्तवृत्ति को एकाग्र तो करते हैं, उधर ध्यान बँट जाता है, लेकिन कितनी

देर तक ? उसके बाद तुरंत याद आ जाता है कि तुम्हारी वास्तविकता क्या है और जैसे ही पता लगा कि हम वस्तुतः परिच्छिन्न हैं, बस उसी क्षण फिर दुःख प्रारंभ हो गया। सारे दुःखों का कारण यह सेतु अर्थात् परिच्छिन्न भाव है। श्रुति कहती है कि यह सेतु कैसा है ? दुस्तर है अर्थात् जो उपाय शास्त्र ने बताये उन उपायों से किसी भिन्न उपायों के द्वारा उसे तरना चाहोगे तो उसे पार करना अर्थात् परिच्छिन्न भाव से अपरिच्छिन्न भाव में जाना अशक्य है, असम्भव है। हो ही नहीं सकता।

पहला परिच्छिन्न भाव श्रुति ने 'दानेनादानं' दान और अदान को लिया। अदान परिच्छिन्नभाव और दान व्यापकभाव है। इसलिये अदान का जो परिच्छिन्न भाव है इसको यदि हटाया जा सकेगा तो दान के द्वारा ही हटाया जा सकेगा। दान का वास्तविक तात्पर्य क्या है ? भगवान् भाष्यकार लिखते हैं—

'दानं ब्रह्मार्पणं यत् क्रियत इह नृभिः स्यात् क्षमाऽक्रोधसंज्ञा
श्रद्धाऽऽस्तिक्यं च सत्यं सदिति परमतः सेतुसंज्ञं चतुष्कम्।
तत्स्याद् बन्धाय जन्तोरिति चतुर इमान् दानपूर्वैश्चतुर्भिः
तीर्त्वा श्रेयोऽमृतं च श्रयत इह नरः स्वर्गतिं ज्योतिराप्तिम्।।'

परमात्मदृष्टि से जो दिया जाता है वह प्रधान दान है। जो किसी अन्य उद्देश्य से दिया जाता है वह दान यहाँ विवक्षित नहीं है। किसी आदमी ने तुम्हारी सेवा की, तुमने उसे वेतन दिया, यह भी तो दान है। दान का सीधा अर्थ 'देना' होता है। अथवा किसी ब्राह्मण को तुमने बुलाकर दान दिया कि इसके फलस्वरूप मुझे स्वर्ग की प्राप्ति होगी। दोनों में कोई खास फर्क नहीं है, एक में अग्रिम भुगतान है और एक में बाद का भुगतान है। एक ने नौकरी

कर ली तब पैसा दिया और ब्राह्मण को पहले दिया, तप हो जायेगा तो मुझे स्वर्ग आदि सुख प्राप्त हो जायेगा। यहाँ देने के पीछे केवल देने की भावना नहीं है। यहाँ भगवान् भाष्यकार जिस दान को कह रहे हैं वह दूसरा है। यज्ञ आदि करते हो तो उसमें भी दक्षिणा देते हो, वह यहाँ नहीं समझना या विवाह में कन्यादान करते हो वह दान भी यहाँ मत समझना। जिसे कन्यादान कर रहे हो उसके बारे में तुम्हारा भाव रहता है 'वह या उसका कुल ऐसा नामी है या नहीं जिससे दुनिया में हमारा यश हो। हम भी गर्व से कहें कि वे मेरे समधी लगते हैं।' या धन की दृष्टि रखते हो कि कोई संयुक्त व्यापार कर लेंगे। दोनों जने पैसा लगाकर फैक्ट्री खोल लेंगे। वहाँ कोई ब्रह्मदृष्टि नहीं है। इसलिये दान का तात्पर्य यहाँ स्पष्ट समझ लेना पड़ेगा।

दान और अदान का ऐसा ही तात्पर्य यहाँ क्यों किया ? स्वयं श्रुति बता रही है 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य' दान से अदान को जीतो लेकिन यह दान वाली प्रक्रिया है क्या ? अदान को जीतने का प्रकार बताया कि यह विचार करो कि 'मैं कौन हूँ' क्योंकि जब तक यह पता न लगे कि 'मैं कौन हूँ' तब तक देने वाला कौन—इसी का पता नहीं लगेगा। जब यही पता नहीं लगेगा कि देने वाला कौन तब वह क्या दे इसका भी पता नहीं लगेगा। कई बार हमारे पास बात आती है, कोई व्यक्ति या महात्मा आकर सुनाता है कि "रेल में जा रहे थे, रेल के अन्दर ले जाने वाला टी. टी. आई. या स्टेशन मास्टर बड़ी श्रद्धा से हाथ जोड़कर कहने लगा "स्वामी जी, आपको कहाँ जाना है ?" हमने कहा, "अजमेर पुष्करराज दर्शन करने जाना है।" उसने कहा, "आप रेल में बैठ

जाइये।" पूछा—"टिकट ले लूँ ?' उसने कहा—"नहीं, मैं साथ चल रहा हूँ" या "कण्डक्टर को कह देता हूँ, आपको वहाँ तक पहुँचा देगा, टिकट मत लीजिये, यह हमारी सेवा है।" हम रेल में बैठकर चले गये।" हमसे आकर कहते हैं कि "वह स्टेशनमास्टर या टी.टी.आई. बड़ा अच्छा श्रद्धालु था।" हम उससे कहते हैं कि वह भी चोर और तुम भी चोर ! तुम बिना जाने चोर और वह जानकर चोर बना। न गाड़ी उसकी थी और न उसके खानदान की है। गाड़ी सरकार की है। यदि वह अपने पैसों से टिकट खरीदकर तुम्हारे हाथ में दे देता, कहता कि "यह मेरी सेवा है" तब उसकी सेवा होती। जो उस रेल का मालिक राज्य है उसे तो पता नहीं और पता लगेगा तो वह और तुम दोनों दण्ड के भागी बनोगे। उसने तो किसी दूसरे की सम्पत्ति सरका दी। जैसे बैंक में बैठा हुआ आदमी किसी को पाँच रुपये का नोट दे कि "चाचा जी ले जाओ" तो पकड़ा जायेगा या नहीं ? यदि तुम यह नहीं जानते कि तुम कौन हो ? तो गलती कर जाओगे। तुम स्टेशन मास्टर हो, नौकर हो, मालिक नहीं हो, इसको बिना जाने हुए तुम दान करते हो तो वह क्या दान हुआ ? इस प्रकार की अनेक बातों पर विचार करोगे तो पता लगेगा। यह तो एक मोटा दृष्टांत दिया, जीवन में कितने काम हम ऐसे करते हैं और आपस में एक-दूसरे से आदान-प्रदान करते हैं जिस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है; वह आदान-प्रदान हम कर लेते हैं और समझते हैं कि दान कर लिया।

इसलिये श्रुति कहती है कि यह पता लगाओ कि तुम कौन हो ? तब तुम्हें पता लगेगा कि तुम्हारा क्या है ? 'अहमस्मि

प्रथमजा' विचार करने पर पता लगता है कि सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला जीव मेरा स्वरूप है। बाकी सब चीजें तो बाद में बनीं। जीव होगा तो जीव को भोग देने के लिये सृष्टि चाहिये। ईश्वर को तो सृष्टि से कुछ लेना-देना नहीं है। इसलिये जब तक जीव न हो तब तक सृष्टि का कोई उद्देश्य नहीं है। इतना ही नहीं, जब तक जीव न हो तब तक सृष्टि को चलाने की शक्ति कौन दे ? ईश्वर का अपना तो कोई उद्देश्य है नहीं। सृष्टि को चलाने वाली तो जीव की कामनायें हैं। जीव की कामनायें ठीक प्रकार से सृष्टिक्रम में चल पायें, वह अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के साधन प्राप्त कर सके, इसी के पीछे ही तो सृष्टि होती है, ईश्वर को तो किसी चीज की जरूरत है नहीं। इसलिये न कर्मफल की दृष्टि से और न कर्म को प्रेरणा देने की दृष्टि से जीव के बिना जगत् निर्मित हो सकता है। विचार करने पर लगता है कि वस्तुतः मेरा स्वरूप प्रथमज है—जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ।

दूसरी दृष्टि से भी प्रथमज का विचार करो : जितने पदार्थ हैं उन सबका पहला सम्बन्ध मेरे साथ है, अहम् के साथ है। पहले हर पदार्थ का सम्बन्ध मेरे साथ होगा तब मुझ से हट कर दूसरी चीजों के साथ होगा। इस शरीर का पहला सम्बन्ध मेरे साथ, तब इस शरीर का सम्बन्ध पिता से, पुत्र से, माता से, पत्नी से सम्भव है। जब मैं कहता हूँ 'यह मेरा पिता है' तब मेरा मतलब क्या होता है ? इस पर ठीक से विचार करना। इस शरीर से सम्बन्ध वाला जो मैं, उस शरीर को उत्पन्न करने के सम्बन्ध वाला जो शरीर, उस शरीर से सम्बन्ध वाला जो जीव वह ही तो मेरा पिता हुआ। कहने में बड़ी सीधी-सी बात लगती है। यह कह नहीं

सकते कि उसका जीवात्मा मुझ जीवात्मा का पिता है। हम तो दोनों नित्य हैं। भगवान् ने सब प्राणियों के लिये कहा है कि "ये जितने प्राणी हैं सब पहले से मौजूद हैं। अर्जुन ! मैं भी पहले से था, तू भी पहले से था और जितने राजा-गण यहाँ दीख रहे हैं, ये सब पहले से थे। तू जानता नहीं, ये लोग जानते नहीं, मैं इस बात को जानता हूँ।" जीवात्मा को पिता मानो तो काम नहीं बनेगा। यदि कहो कि उसका जीवात्मा मुझ जीवात्मा का पिता है तो यह सम्भव नहीं क्योंकि दोनों नित्य हैं।

कहोगे उसका शरीर इस शरीर का पिता है—क्योंकि दूसरी बात यही सामने आती है। साधारणतः लोग कह भी देते हैं कि "सारे सम्बन्ध शरीर के साथ ही तो हैं, मेरा शरीर ही तो माता-पिता ने पैदा किया है" यह भी कह देते हैं। विचार करें कि यदि वह शरीर पिता है तो पिता के मरने पर जो अंत्येष्टि कर्म होगा उससे पितृहत्या का पाप लगेगा। जब शरीर को जलाओगे तब पिता को जलाओगे। यों पितृ-मातृ हत्या का पाप लगेगा। इसलिये उसका जीवात्मा मुझ जीवात्मा का पिता नहीं, वह शरीर भी इस शरीर का पिता नहीं। जब उसका जीवात्मा ही मेरा पिता नहीं तो उसका शरीर मुझ जीवात्मा का पिता क्या होगा ? फिर पिता कौन है? यह मेरा पिता है—इसका क्या मतलब है ? उसका मतलब है कि मैं जो जीवात्मा उसके सम्बन्ध वाला जो यह शरीर, इस शरीर को उत्पन्न करने के सम्बन्ध वाला जो यह शरीर, उस शरीर के सम्बन्ध वाला जो जीवात्मा वह पिता है। 'अहमस्मि प्रथमजा' पिता का विचार करोगे तो प्रथम अपने जीवात्मरूप से प्रारम्भ करना पड़ेगा। जैसे पिता का वैसे ही माता, पुत्र, पत्नी इत्यादि सर्वत्र समझ

लेना। दूरी के रिश्तों में और दूर जाना पड़ेगा। दादा में जाओगे तो अपने जीवात्मा से सम्बन्धित देह, उस देह से सम्बन्धित दूसरा देह, उस दूसरे देह से सम्बन्धित दूसरा जीवात्मा, उस जीवात्मा के शरीर से सम्बन्धित जो तीसरा शरीर, उस तीसरे शरीर से सम्बन्धित जो तीसरा जीवात्मा—इतना लम्बा अर्थबोध है। इस तरह सारे संबंधों का प्रारंभ शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध होने से है। इसीसे आगे के सम्बन्ध चलेंगे।

इस जीवात्मा का इस शरीर के साथ सम्बन्ध प्रथमज है, यह ठीक है, लेकिन सम्बन्ध है कौन-सा सम्बन्ध ? शरीरका मुझसे क्या सम्बन्ध है ? 'ऋतस्य' इस शरीर के साथ मेरा सम्बन्ध कर्मफल-भोग का सम्बन्ध है। जब तक ऋत अर्थात् कर्मफल भोगना है बस तभी तक यहाँ हो। इसीलिये यजुर्वेद कहता है 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य' अपने आप जो मैंने किया, उसका जो ऋत अर्थात् कर्मफल है बस उसका पान करना है। यह पान भी स्वेच्छा से नहीं है। इसलिये श्रुति ने द्विवचन का प्रयोग किया है 'पिबन्तौ' एक जन्म पाने वाला है, और दूसरा दिलाने वाला है। एक कर्मफल का भोग कर रहा है और दूसरा करवा रहा है। यदि केवल कह देते 'ऋतं पिबति', 'अपने कर्मफल का भोग करता है' तो भोगने में स्वतंत्र होते। यदि यह अधिकार दे दिया जाये—जैसा अधिकार हमारी पार्लियामेंट को दे दिया गया है, तो रोज़ कानून बदलते जायेंगे। पार्लियामेन्ट ने अब तक चालीस-बयालीस संविधान-संशोधन कर लिये हैं क्योंकि वही संविधान बनाये, वही उसमें सुधार कर ले। यदि जीव को इस प्रकार कह देते कि 'कर्म करो भी तुम और फल भोगो भी तुम' तो कर्म करते समय एक कानून

बनायेगा और फल भोगने का समय आने पर संशोधन कर देगा। भगवान् ऐसा नहीं करते। जीव को कर्म करने का अधिकार है लेकिन कर्मफल को भोगने में वह स्वतंत्र नहीं है। उस कर्मफल के भुगवाने के लिये परमेश्वर बैठा हुआ है। साथ ही बैठा हुआ है, 'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे' हृदय गुहा में ही बैठा हुआ है। यह जानने से आदमी को ज़रा ज्यादा डर लगता है। इसीलिये इसका सामना नहीं करना चाहता।

भगवान् मन्दिर में बैठे रहें तो बड़ा अच्छा है। वहाँ जाकर सत्य भी बोलेंगे, दान भी करेंगे, नमस्कार कर लेंगे। लेकिन यदि वे गुहा में प्रविष्ट हैं ऐसा जान लिया तो न यह दिन में और न रात में चोरी करने देगा। न रात में और न दिन में झूठ बोलने देगा। किसी समय भी यह पाप नहीं करने देगा। इसलिये लोग कहते हैं कि भगवान् को मन्दिर में रखो, अन्तर्यामी भगवान्—टेढ़ा मामला है। लेकिन बैठा हुआ वह वहीं है। जिस हृदय-गुहा में तुम बैठे हुए हो वहीं वह बैठा हुआ है। इतना ही नहीं, जिस बुद्धि के द्वारा तुम कर्म करने का विचार करते हो उसी बुद्धि के द्वारा वह फल भुगवाने का विचार करता है। कोई दूसरी बुद्धि उसके पास नहीं है। नहीं तो कम से कम इतना ही बचाव रहता कि जब तक वह कर्मफल भुगवाने की सोच रहा होता तब तक हम चुपचाप कोई रास्ता सोच लेते, उसे पता नहीं लगता। वह तो वहीं बैठा हुआ है, जिस बुद्धि में कर्म करते हो उसी बुद्धि के द्वारा वह फल भुगवाने का प्रयत्न करता है। उससे कुछ नहीं छिप सकता। अपने प्राचीन ग्रन्थों में देखोगे कि 'सत्येन शपे' सत्य की शपथ खाते थे। गीता में भगवान् ने बहुत बड़ी बात कह दी—

'सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे'—मैं प्रतिज्ञा करके सच्ची बात कह रहा हूँ। तब न गंगा जल और न गीता उठानी पड़ती थी। क्योंकि प्रत्येक सनातनी यह जानता था कि ईश्वर हमारे सन्निकट है। उन्हें यह नहीं लगता था कि हाथ में गंगाजल लेकर झूठ बोला तो पाप और बिना लिये तो पाप नहीं। यदि हाथ में गंगा-गीता लोगे तो झूठ बोल सकते हो लेकिन जब कहते हो 'सत्येन शपे' तब क्या करोगे ? यदि तुम्हारी बुद्धि में रहने वाले अंतर्यामी साक्षात् भगवान् के बैठे रहने पर तुम झूठ बोल सकते हो तो बाहर हाथ में मूर्ति लेकर झूठ बोलने में क्या देर लगेगी ? वह परमात्मा कैसा है ? 'गुहां प्रविष्टः' कर्म फल देने वाला और कर्म का भोग करने वाला दोनों एकाधिकरण में हैं, एक साथ रह रहे हैं।

इसीलिये देने का तात्पर्य क्या हो गया ? इस ऋत के अन्दर ही दान का तात्पर्य निहित है। तुम्हारा स्वरूप हुआ प्रथमज जीवात्मा; इस जीवात्मरूपता का जब तक दान नहीं करोगे तब तक वास्तविक दान बनेगा नहीं। इस जीवात्मरूपता के सिवाय और कुछ *तुम्हारा* माल है ही नहीं। बाकी जितना माल अपना मान रहे हो उस पर तो केवल काबिज हो, वह तुम्हारा है नहीं। जो तुम्हारा यह जीवात्मभाव है यही वस्तुतः दान का विषय है। इसलिये कहते हैं कि ब्रह्म को अर्पण जो किया जाये वह दान है। ब्रह्म को अर्पण क्या लड्डू पेड़ा किया जायेगा ? यह भी किया जायेगा, ऐसा नहीं है कि नहीं किया जायेगा। इसीलिये भगवान् कहते हैं—

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।।'

'मदर्पणं' ब्रह्मार्पण, मेरे अर्पण अर्थात् ब्रह्म को अर्पण करो। जो भी कार्य तुम कर रहे हो उस सबका दान करना है। क्यों करना है ? क्योंकि उन सब क्रियाओं में जीवात्मभाव से तुम जो अपनी छाप लगा रहे हो उसका अधिकार तुम्हें दिया तो ब्रह्म ने है। कर्मफल भोग के लिये तुम्हें शरीर आदि की प्रवृत्ति दी गई है। 'दी गई है' अर्थात् तुम्हारे हाथ में की गई है कि तुम इसका प्रयोग करो। यह किसने कह दिया कि तुम इसके मालिक बन जाओ ? जो प्रवृत्ति करने का अधिकार है उससे यदि परमेश्वर के लिये करते हो तो यह दान बन गया। जो खाते हो, लड्डू पेड़ा आदि जो भी खा रहे हो, उससे उपलक्षणा सब भोगों की कर लेना, उन भोगों को करते हुए निश्चय रहे 'मैं न भोग करूँ, ब्रह्म को अर्पण ही कर रहा हूँ'। लड्डू मुँह में गया, मुँह में जीभ ने स्वाद लिया, स्वाद बुद्धि को पहुँचा। बुद्धि को पहुँचा हुआ जो स्वाद है, वह तुम जीवात्मा को मिलेगा कि 'यह स्वादिष्ट भोजन है'। यह तुम्हारे कर्म का फलभोग है। कर्मफल का भोग तुम जीवात्मा को हुआ, बाकी लड्डू तुम्हारा नहीं था, जीभ के साथ लड्डू का सम्बन्ध भी तुम्हारा नहीं था। यह सब तो तुम्हें काम करने के लिये मिला हुआ था। जीभ का स्वाद लेना भी तुम्हारा नहीं, वह वरुण देवता का था, उन्होंने अनुग्रह किया। वहाँ से अंतःकरण में वृत्ति बनी, वह भी तुम्हारी नहीं थी। वह सब तुम्हें व्यवहार करने के लिये दिया गया था। उससे जो होने वाली तृप्ति है, वह भोग, सुख का भोग ही तुम्हारा है।

यदि उस सुख को अपने लिये न भोग कर परमात्मा को दे दो तब दान सम्पन्न हुआ। किस रूप में दोगे ? 'मैं न भोगूँ, साक्षी

हूँ, मैं केवल देख रहा हूँ, मैं इस सुख को भोगने वाला नहीं', यह निश्चय रखना उस सुख के भोग का साक्षी को दान देना है, ब्रह्मार्पण है। हवन करते हो, हवन करने से पुण्य उत्पन्न होता है। सब साधन तो मेरे नहीं हैं, वे मुझे काम करने के लिये मिले हुए हैं। 'उनसे किये हवनादि का फल मुझ जीवात्मा को न मिले क्योंकि मैं उसका अर्पण साक्षी को करता हूँ।' यह हवन का ब्रह्मार्पण है। दान, तप इत्यादि सभी क्रियाओं में यह नियम समझ लेना। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि इसके द्वारा मनुष्य अदान को जीतता है क्योंकि सारे अदान का बीज है कि "यह मेरा है, दूसरे का नहीं, इसलिये दूसरे को न दूँ।" जब मेरा है ही नहीं तब दूसरे को देने में प्रतिबन्धक रह ही नहीं जायेगा, अपने आप प्रतिबंधक हट जायेगा।

सामान्यतः मनुष्य समझता है कि दान का मतलब अर्थव्यय होगा इसलिये कई बार लोग कहते हैं कि "जिनके पास धन है वे देंगे, हम क्या करें! हम लोग इसके योग्य ही नहीं हैं।" हमें हँसी आती है कि जो चीज़ इसकी नहीं है, वह देने को कह रहा है। और कहा यह वह करता है जिसे कुछ देना नहीं है ! जैसे कोई कहे कि "मैं एक बड़ी धर्मशाला बनवाना चाहता हूँ" तो समझ लेते हैं कि मामला ढीला है, क्योंकि वही कहता है कि "मंगते को अठन्नी देकर क्या होगा" ! जो दे सकता है उसे देना बेकार बताता है और बात करेगा धर्मशाला की। धर्मशाला के लिये तो पाँच लाख चाहिये और पाँच लाख होंगे कब ? जो देने वाला होता है उसकी दृष्टि होती है कि "आज अठन्नी तो दो, बाकी आगे देखा जायेगा।" इसी प्रकार शरीर से लेकर जीवात्मा तक की चीज़ें

तुम्हारी अपनी हैं। इसलिये हम कई बार कहते हैं कि तुम दान करना चाहते हो तो हम तुम्हें बताते हैं—मन तो तुम्हारा है, यह मन ही भगवान् को दे दो। मन तो दिया नहीं जाता अर्थात् जो माल है वह नहीं दिया जाता, जो माल नहीं है वह देना चाहते हो। उसी से पता लग जाता है कि देना नहीं है। अंतःकरण से लेकर बाहर के पदार्थ प्रथमज नहीं हैं।

महाभारत में एक विचित्र कथा आती है। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। जब राजसूय यज्ञ सम्पन्न हो जाता है तो उस यज्ञ के बाद उस राज्य के जितने ब्राह्मण होते हैं उन सबको ब्रह्मभोज कराया जाता है। सूय मायने पैदा होना। जब बच्चा पैदा होता है तो भी कहते हैं 'सुआ हो गया', पुत्र उत्पन्न हो गया। इसी प्रकार राजसूय अर्थात् जहाँ राजा उत्पन्न होता है। शतपथ ब्राह्मण बताता है कि जब राजसूय यज्ञ किया जाता है उस समय जितने भी उसके अंतर्गत राजा हैं, वे वहाँ आकर उसे सम्राट्-भाव से स्वीकार करते हैं और तब उसका मूर्धाभिषेक होता है। इसलिये वहीं वह राजा उत्पन्न होता है। हमारे यहाँ अंग्रेजों की तरह गद्दी पर बैठने से राजा नहीं मानते, राजसूय यज्ञ करने पर ही राजा होता है, उसके पहले तो औपचारिक राजा होता है। जैसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने पर ब्राह्मण होता है उसके पहले उसे औपचारिक रूप से ब्राह्मण कहा जाता है कि "आगे जाकर यह ब्रह्मज्ञान प्राप्त करेगा।" या जैसे मैडिकल कालेज में भरती होते ही लोग 'डाक्टर साहब' कहने लग जाते हैं जब कि वह छः साल पढ़ने के बाद डाक्टर बनेगा। इसी प्रकार राजसूय यज्ञ करने के बाद राजा उत्पन्न होता है और तब अपने राज्य के सभी ब्राह्मणों को भोजन कराता

है। युधिष्ठिर ने सब लोगों को भोजन कराया और सब कार्य बड़े आनंद से निष्पन्न हो गया। युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हो रहे थे कि "मेरा यह यज्ञ बड़ा सफल हो गया।"

शाम के समय जब युधिष्ठिर घूम कर आ रहे थे तो एक विचित्र दृश्य देखा—जहाँ सारी जूठी पत्तलें और जूठन फैंकी गई थी वहाँ एक नेवला—जिसका आधा शरीर सोने का और आधा साधारण चमड़े का बना हुआ था—चारों तरफ लोटपोट कर खा रहा था। ऐसे नेवले को देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक था। युधिष्ठिर वहीं खड़े होकर देखने लगे। तब तक भगवान् कृष्ण भी वहीं आ गये। पूछा, "क्या देख रहे हो ?" युधिष्ठिर ने कहा, "वह सामने विचित्र दृश्य है। यह नेवला आधा सोने का, आधा साधारण और सब पत्तलों में लोट रहा है। कुछ समझ में नहीं आया क्योंकि नेवला जूठी पत्तलों में नहीं लोटा करता, जूठन तो चूहे, कुत्ते इत्यादि अन्य प्राणियों का खाद्य है।" भगवान् ने कहा, "चलकर इसी से पूछा जाये क्या मामला है ?" आगे जाकर उस नेवले से पूछा "तू कुछ विलक्षण शक्तिसम्पन्न दीख रहा है, तू है कौन ?" नेवला वहीं खड़ा होकर कहने लगा, "मैं नेवला हूँ, आप लोगों को दीख नहीं रहा है ? आधा सोने का हूँ, ऐसा आप लोगों को कहीं दीखने वाला नहीं है।" पूछा, "यह तुम्हारे किस कर्म का फल हुआ ?" उसने कहा, "पैदा तो मैं भी दूसरे नेवलों की तरह हुआ था, मेरे में कोई विशेषता नहीं थी। एक बार एक जगह एक व्यक्ति भोजन के लिये तैयार हो रहा था वह चालीस दिन का भूखा था। चालीस दिन बाद उसे अन्न में सत्तू खाने को मिला था। कोई दूसरा व्यक्ति उसी समय वह सत्तू उससे

लेने आ गया। उसने उसको दे दिया। खाने के लिये सत्तू ही मिला था जिसमें से उसने दूसरे को पहले आधा दिया लेकिन माँगने वाले को उतना पूरा नहीं पड़ा, अंततोगत्वा उसने सारा ही दे दिया। खाने वाला तो खाकर चला गया। वह स्वयं चालीस दिन से भूखा था। और क्षुधा सहन नहीं करने के कारण वह मरणांतक स्थिति में पहुँच गया था। वहाँ मैं भी था। मुझे भी कई दिन से खाने को नहीं मिला था। क्योंकि जब आदमियों को ही नहीं मिला तो पशुओं को कहाँ से मिलना था ! उस व्यक्ति के हाथ से गिरा हुआ सत्तू मुझे चाटने को मिला। उस सत्तू का कुछ हिस्सा मिलने के कारण मैं सोने का हो गया। उस दानका इतना महत्त्व था कि उसके स्पर्शमात्रसे मैं सोने का हो गया ! मुझे किसी ने कहा कि एक राजा युधिष्ठिर हुए हैं, उनके साथ स्वयं भगवान् कृष्ण रहते हैं। उन्होंने एक बड़ा भारी राजसूय यज्ञ किया है और उसमें बहुत दान किया है, बड़े-बड़े ब्राह्मणों ने आकर वहाँ भोजन किया है और राजा ने सबको खूब मांल खिलाया है। मैंने सोचा कि वहाँ जाऊँगा तो पूरा सोने का हो जाऊँगा। लेकिन यहाँ आकर पता चला कि कुछ नहीं हुआ, चारों तरफ लोटपोट कर देख लिया, कुछ फल नहीं हुआ। आप लोग कौन हैं ? इधर काहे के लिये आये हैं, क्या आप लोगों को भी कुछ आशा है कि यहाँ आकर कुछ फायदा हो जायेगा ?"

इस बात को सुनकर युधिष्ठिर की नजर नीची हो गई। भगवान् ने उससे कहा, "यही राजा युधिष्ठिर हैं।" नेवले ने कहा, "मैं जाता हूँ, क्या पता मार ही डालें।" युधिष्ठिर कहने लगे, "चिन्ता न करो।" भगवान् से पूछने लगे, "अपने यज्ञ में

अधूरापन क्या रहा ?'' भगवान् ने कहा, ''यज्ञ तो पूर्ण हुआ है लेकिन तेरा यह राजसूय यज्ञ तेरे को राजा बनाने के लिये किया गया है, तेरे को ब्रह्मप्राप्ति कराने के लिये यह यज्ञ नहीं है। उस चालीस दिन के भूखे ने जो भूख की अवस्था में दिया था उसमें उसने अपने जीवात्मभाव का दान किया था, कोई राजा बनने की इच्छा से नहीं दिया था। तूने राजसूय किया तो राजा बना। वहाँ जो दान का यज्ञ था वह ब्रह्मार्पण था इसलिये देने वाला ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हुआ।'' युधिष्ठिर समझ गये कि जैसी-जैसी कामना होगी वैसा ही कर्म का फल होगा।

वस्तुतः नेवले को संस्कृत में नकुल कहते हैं जिसका कोई कुल न हो अर्थात् माता-पिता, भाई-बन्धु आदि जिसका कोई न हो, वह नकुल हुआ। जीवात्मा ही नकुल है, इसका कोई कुल नहीं है। यह जिस शरीर में आया उसे लेकर कुल वाला कहा जाता है। इसका अपना कोई कुल नहीं है। नकुल शब्द बड़ा विचित्र है। कुलहीन होना प्रशंसावाचक भी है और कुलहीन निंदावाचक भी है। भगवान् शंकर का एक नाम नकुल है, कलकत्ते में कालीमन्दिर के पास नकुलीश्वर महादेव का मन्दिर है। नकुल का मतलब है जो किसी से पैदा न हुआ हो, तभी उसका कोई कुल नहीं है अर्थात् अज। 'जिसका कोई जन्म न हुआ हो' इस अर्थ में नकुल प्रशंसावाचक होता है। जिसके कुल का पता न हो अर्थात् बाप इत्यादि का पता न लगे, इस अर्थ में वह निन्दात्मक है। एक जगह तो जिस से पैदा हुआ वह व्यक्ति है ही नहीं और दूसरी जगह है तो सही लेकिन कहाँ है इसका पता नहीं। इस आत्मा अर्थात् जीवात्मा के अन्दर ये दोनों लक्षण घट जाते हैं।

इसका एक हिस्सा परमात्मा से पैदा हुआ है। वही इसका चिद्रूप, ज्ञानरूप है। इसलिये जीव नकुलीश्वर महादेव का पुत्र है। और दूसरा हिस्सा अज्ञान से पैदा हुआ है; अज्ञान अर्थात् जिसका पता नहीं। इसके आधे हिस्से का पता है, आधा अनिर्वाच्य है, कुछ पता नहीं कहाँ से आया, अज्ञान ही जो ठहरा ! यह नकुल राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर को शिक्षा देने आया है। जीवात्मा पहले सारे कर्म तो करता रहता है संसार के लिये, राजा बनने के लिये सभी कर्म करता रहता है, संसार की प्रवृत्ति के लिये सब करता है। जब संसार की प्रवृत्ति पूर्ण कर लेता है तब भी उसे तृप्ति नहीं मिलती। इसलिये यह जीवात्मा ही उपदेश देकर कहता है कि "आधा भाग मेरा चिन्मात्र साक्षी है, यही सोने का है और दूसरा भाग सारा राजसूय यज्ञ कर लूँ तो भी सोने का होने वाला नहीं है।" जो ब्रह्म की दृष्टि से किया वह तो स्वर्ण का रहता है अर्थात् साक्षि- भाव को प्राप्त करायेगा। अन्य जो कुछ है वह केवल राजसूय होने से स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं ला सकेगा। श्रुति कहती है कि इस विचार के द्वारा जब तुम अदान को दान से जीत लोगे तभी इस दुस्तर सेतु को पार कर पाओगे।

प्रवचन—२४

पूर्व मंत्र में सृष्टि के मायात्मक मूल कारण को प्रतिपादित करने के बाद आगे इस सृष्टि चक्र को मृत्युमार्ग और अमृत्युमार्ग में चलाने वाला जो कर्म है, उसका विचार कर रहे हैं। मृत्यु को दिलाने वाला कर्म मृत्यु शब्द से कहा गया, अमरता को दिलाने वाला कर्म यहाँ अमृत शब्द से कहा गया। अमृत को दिलाने वाले कुछ कर्मों का विचार कल्माषसाम सेतुगान के आधार पर प्रारंभ किया था। उसमें प्रथम बताया कि अदानरूप सेतु को दान से तरो। उस तरने का प्रकार भी बताया 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य।' वस्तुतः जो मेरा जीवस्वरूप, स्वकीय स्वरूप है, उसके कारण मुझे अपने से भिन्न की प्रतीति होती है। जैसे एक तालाब में सेतु खड़ा कर देने से एक की जगह दो तालाब बन जाते हैं उसी प्रकार जीवभाव का जो अहम् है वही उस चेतन में दीवार खड़ी कर देता है। उस सेतु को तरने का उपाय हुआ जिसे तुम अपना स्वरूप समझते हो उसका दान करो। अहम् भाव प्रथम होने से जीवात्मभाव प्रथमज है। अभी तो 'मैं जीव हूँ' यह बोध भी नहीं है। कहने को मनुष्य कहता है कि 'मैं जीवात्मा हूँ' लेकिन अपने

को जीवात्मा नहीं समझता। मन और बुद्धि के साथ एक होकर मन बुद्धि को ही, अंतःकरण को ही अपना रूप समझता है। किसी किसी काल में, विवेक और विचार काल में चाहे विचार करे कि अंतःकरण का प्रकाशक चेतन मेरा सच्चा स्वरूप है, लेकिन वास्तविक अनुभूति "मैं जीवात्मा हूँ" इसकी भी नहीं है। वास्तविक अनुभूति मन और बुद्धि की भी क्या है–यह अभी बतायेंगे। 'मैं मन बुद्धि हूँ' यह भी निश्चय दृढ नहीं है, 'मैं इन्द्रियाँ हूँ' यह भी प्रतीति होती है और 'मैं देह हूँ' यह भी प्रतीति होती है। 'मैं जीवात्मा हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं वरन् अंतःकरण मन बुद्धि के साथ एक होकर प्रतीति है, उसको भी अपना स्वरूप समझते हैं। सुख-दुःख, निश्चय-अनिश्चय, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि सब अंतःकरण में रहेंगे, निरंतर मन बुद्धि के साथ एकता करते हुए 'मैं निश्चय करने वाला, मैं सुख-दुःख वाला, मैं सुखी, मैं दुःखी' यही तो प्रतीति हो रही है। अंतःकरण से एक होकर प्रतीति होती है। दान का मतलब बताया कि जो अपना स्व है उसका दान करना है। 'दानं ब्रह्मार्पणं यत्' दान का यही लक्षण भगवान् भाष्यकार ने किया। जब तक मन बुद्धि को अपना स्व समझ रहे हो तब तक मन बुद्धि को परमात्मा के अर्पण करना भी दान ही हुआ। जीवात्मभाव का त्यागरूप दान बता दिया लेकिन मन बुद्धि को जब अपना स्व सोच रहे हो तब जो स्व समझा जा रहा है उसी का दान करना है। मन निरंतर विषयों में जाता है इसलिये हम मन विषयों को देते हैं। मन का उन विषयों में जाना ही मन का उन्हें देना है।

यह नहीं कहना की मन अपने आप जाता है। यह तो बचने

का तरीका है ! क्योंकि मन तो जड है, पंचमहाभूतों से बना है इसलिये वह क्या विषयों में जायेगा ! ठीक जिस प्रकार कोई कहे 'मैंने तुम्हें नहीं मारा, तुम्हें तो इस बंदूक ने मारा, इस गोली ने मारा, या तलवार ने मारा', तो तुरंत कहोगे 'तलवार या बंदूक तो जड है, तलवार को चलाया किसने ?' यदि चलाने वाला नहीं होगा तो तलवार इत्यादि कुछ काम नहीं कर सकेंगे। किसी गाँव के अन्दर एक बहुत बड़ा जमींदार ठाकुर था। उसके पास ही एक बहुत बड़ा सेठ रहता था। उन दिनों डकैतियाँ ज्यादा होने लग गईं। एक दिन सेठ ने कहा, "ठाकुर साहब ! आजकल चारों तरफ बहुत डकैतियाँ पड़ रही हैं, धन इत्यादि की कैसे रक्षा करें ?" सेठ के पास धन बहुत था। वे जमींदार ठाकुर तो थे ही, उन्होंने कहा "इसमें क्या है, आपके पास कोई रुपयों की कमी तो है नहीं, इसलिये दुनाली बंदूक, भाला, तलवार रख लो, फिर कोई आकर क्या करेगा ?" सेठ जी ने सोचा कि यह बात इन्होंने ठीक कही। इसलिये दुनाली बंदूक, भाला, तलवार आदि अच्छे-अच्छे अस्त्र मँगवाकर रख लिये। कुछ समय बीता। सेठ जी के यहाँ डाका पड़ा। घर वाली चिल्लाने लगी। सेठ ने कहा, "घबरा नहीं, मेरे पास सब इंतजाम है।" बंदूक को देखकर कहने लगे, "ढाई हजार वाली बंदूक, दिखा अपना करतब।" बंदूक को क्या करतब दिखाना था ! कहने लगे, "यह नालायक निकल गई।" भाले से कहा, "पाँच सौ वाले भाले ! तू ही कुछ काम कर, डाकू पास आ रहे हैं।" भाले को क्या करना था ! अंत में तलवार से कहा, "अब तो वे हमला करने आ रहे हैं, तू ही मार कर !" तलवार को भी कुछ नहीं करना था। डाकुओं ने पहले सोचा कि बंदूक

का नाम ले रहा है तो शायद चलाये, लेकिन जब देखा कि यह तो कहता ही कहता है तो उन्होंने आकर दो थप्पड़ मारे और चाबी का गुच्छा छीनकर सब बटोर कर ले गये। साथ में दुनाली बंदूक भी ले गये। सेठ जी को बड़ा गुस्सा आया कि फालतू इन सब पर पैसा बरबाद गया। उन्होंने तलवार को निकालकर देखा कि कैसी है। जैसे कपड़े को देखते हैं ऐसे ही तलवार पर देखने लगे तो उनका अंगूठा कट गया ! और गुस्सा आया कि "दूसरों को मारती नहीं, घर में वार करती है।" उसे नीचे पटककर उस पर जोर से पैर मारा तो पैर भी कट गया। बेचारे अस्पताल पहुँचे। ठाकुर साहब भी उनसे मिलने आये। कहने लगे कि "मुझे बड़ा दुःख हुआ कि डाकुओं ने आपकी बड़ी पिटाई की। लेकिन आप एक-दो को तो मारते।" सेठ ने कहा, "ठाकुर साहब ! आपके कहने पर बंदूक मँगाई लेकिन उसने ठीक काम नहीं किया।" उन्होंने पूछा, "उसमें गोली भरकर तैयार रखी थी ?" सेठ ने कहा, "यह तो आपने बताया नहीं था !"

जैसे अपने पास रखी हुई बंदूक जब तक तुम चलाओगे नहीं तब तक चलेगी नहीं, कोई भी अस्त्र जब तुम प्रयोग करोगे तब चलेगा, इसी प्रकार तुम्हारा अंतःकरण भी एक औजार है, तुम्हारी इन्द्रियाँ भी औजार हैं। औजार चाहे जितना काम करने वाले हों लेकिन जब उनको काम में लोगे तभी चलेंगे। यदि काम में नहीं लोगे तो चलने वाले नहीं हैं। हम लोग जब कह देते हैं कि 'मन ने यह किया' तो वह खाली मन के ऊपर दोष डालने वाली बात है। जैसे जब कोई आकर चन्दा-चिट्ठा लेने बैठ जाये कि 'पाँच हजार की कलम लिख दो।' तब यदि सेठ जी को देना होता है

तो कहते हैं "अमुक ने पाँच हजार दिये; उनके सामने मेरी पाँच हजार की कलम अच्छी नहीं लगती, साढ़े चार हजार ले जाओ।" और अगर नहीं देने हैं तो कहते हैं "मुनीम जी ! कुछ दे सकते हो, क्या कुछ गुंजायश है ?" मुनीम जी कहते हैं, "जी कहाँ से होगी ? आपको तो पता है कि कई हुंडियों का भुगतान करना है।" कहते हैं "देखिये, काम तो इन्हीं को देखना हुआ, बड़ा मुश्किल है।" ठीक इसी प्रकार जब अंतःकरण कोई काम अच्छा करता है तब तो हम प्रतीति करते हैं कि 'हमने किया' और जब बुरा करता है तो झट अपनी जिम्मेवारी टाल देते हैं "क्या करूँ यह मन बड़ा चंचल है। इसीने गड़बड़ मचा रखी है।" अंतःकरण औजार होने पर भी हमारे द्वारा ही चलाया जायेगा, अन्यथा चलेगा नहीं। जैसे सेठ जी के यहाँ डाकू आये, यदि सेठ जी बंदूक चलाना जानते तो शायद वे डाकू उनके ऊपर डाका न डाल पाते उल्टा वही दो-चार डाकुओं को मारकर नामी बन जाते कि इन्होंने डकैतों को खतम किया। लेकिन चलाना नहीं जानते थे तो डाकू उनके अस्त्र भी उठा ले गये। ठीक इसी प्रकार तुम्हारा जो अंतःकरण है, मन-बुद्धि रूप जो दुनाली बंदूक है, यदि तुम इसका प्रयोग करना समझ लो तब तो काम-क्रोध आदि डकैतों को ठीक रास्ते लगा दोगे। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि काम-क्रोध आदि तस्कर 'ज्ञानरत्नापहारिणः' मनुष्य के ज्ञान रत्न को लूट कर ले जाते हैं। जितना भी मनुष्य विचार करता है, विवेक करता है, सवेरे बैठकर भजन करता है, जहाँ उसके ऊपर काम-क्रोध का आक्रमण हुआ कि ये बंदूक उठा ले जाते हैं अर्थात् तुम्हारे मन-बुद्धि उसकी तरफ चले जाते हैं। यदि उस अस्त्र को चलाना जानते होते तब तो काम

क्रोध को वश में कर लेते, उन्हें मार लेते, औजार तुम्हारा है। भगवान् ने अंतःकरण हमें दिया है। काम क्रोध को नहीं दिया है। इसलिये औजार, दुनाली बंदूक तुम्हारी है, लेकिन तुम उसमें कारतूस भरोगे नहीं तो सामने वाले पर मार कैसे करोगे ? उसी प्रकार यहाँ मन के अन्दर यदि परमात्मा के प्रेम का कारतूस भर लोगे, बुद्धि के अन्दर यदि परमात्मा के निश्चय का कारतूस भर लोगे तब तो इस काम-क्रोध को तुम मार सकोगे। यदि बंदूक में यह कारतूस नहीं भरा और केवल मन-बुद्धि से कहते रहे कि 'इस काम क्रोध से बचा लो' तो क्या बचना है ? उल्टा काम-क्रोध ही तुम्हारी बुद्धि को खींच ले जायेंगे।

भगवान् ने इसीलिये इनको दुश्मन कहा है, भगवान् भाष्यकार ने ज्ञानरत्न को चुराने वाला कहा है। भगवान् ने गीता में कहा, 'कामरूपं दुरासदम्'। काम ही क्रोध और लोभ हो जाता है। काम क्रोध आदि शत्रु जीतना अत्यंत कठिन है। भगवान् कहते हैं कि इन पर दया नहीं करना, यह नहीं कि 'डाकू हैं तो हों, इन पर दया करो' बल्कि 'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्' इनके ऊपर दया नहीं वरन् मार डालो, जान से मार डालो। ऐसा नहीं कि इनका थोड़ा सा अंकुर बचा रहे तो क्या हर्जा है ? यदि किंचित् अंकुर भी बच गया तो वह महावृक्ष का रूप ले लेता है। विचार करो—सारे राज्य को महाराजा जड भरत ने छोड़ दिया, कहानी सबकी सुनी हुई है। एकांत में जाकर तप और वैराग्य के द्वारा जीवन चला रहे थे। किसलिये ? भगवत्प्राप्ति के लिये। हरिण का बछड़ा उन्हें दीख गया। हरिणी शेर के डर से भागते हुए नदी में कूद गई, वह गर्भवती थी, नदी कूदने से गर्भस्राव हुआ। उसके

छोटे बच्चे को जडभरत ने देखा और उठा लिया। उससे मोह हो गया। यह बड़ी विचार की बात है। बड़ी सरलता से हम कह देते हैं कि "हम पदार्थों के बीच में हैं लेकिन हमारे में आसक्ति नहीं है।" महाराजा भरत पूरे राज्य को, सब घरवालों को और सब बच्चों को छोड़कर आये थे फिर एक हरिण के बच्चे में आसक्ति हो गई। तो इन सब पदार्थों के मध्य में अनासक्ति कितनी दृढ रहेगी—यह बहुत विचारने का विषय है। 'होती नहीं है' यह नहीं कह रहे हैं, लेकिन भरत के दृष्टांत से पता लगता है कि कितना कठिन है। भगवान् भाष्यकार इसलिये कह देते हैं 'जनकृपा नैष्ठुर्य-मुत्सृज्यताम्' साधक लोगों के प्रति निष्ठुरता तो छोड़े ही; निष्ठुरता छोड़े—यह तो सब जानते हैं, फिर कहा क्यों ? उसके पहले कहा जनकृपा अर्थात् लोगों के ऊपर जो तुम्हारा यह भाव है कि 'मैं इनके ऊपर अनुग्रह करूँ' वह बड़ी जल्दी मोह का रूप ले लेता है, देरी नहीं लगती। कई बार मनुष्य सोचता है कि जिन चीजों से हमारा सम्बन्ध है उन्हीं से मोह होगा लेकिन कभी विचार करो कि यहाँ जब जन्म लिया उसके पहले यहाँ वालों से तुम्हारा कौन सा सम्बन्ध था ? यह सम्बन्ध भी तो बीस-पच्चीस साल में दृढ हो गया है, जन्म-जन्मांतर का सम्बन्ध तो चल नहीं रहा है। जितने सम्बन्ध तुम्हारे यहाँ हैं, किसी के बीस-पच्चीस या ज्यादा से ज्यादा सौ साल के हैं, यहाँ आकर ही सारे सम्बन्ध बने हैं। शरीर के सम्बन्धों में पत्नी का सम्बन्ध बीस साल पहले बना। बीस-पच्चीस साल बाद बना पत्नी का सम्बन्ध बीस साल पहले हुए माता-पिता के सम्बन्धों को, भाई-बहनों के सम्बन्धों को ढीला कर गया या नहीं ? इसलिये जो यह सोच लेते हैं कि मोह तो केवल वहीं हो

सकता है जहाँ रक्त आदि का सम्बन्ध हो, वह ऐसा नहीं है। पत्नी के कम से कम साल-दो-साल बाद पुत्र-पुत्री का सम्बन्ध हुआ लेकिन कालान्तर में लड़के के पीछे पति पत्नी से झगड़ा कर लेता है। उससे और अधिक प्रेम हो गया। इसलिये मोह कितनी जल्दी बनता है यह कहना बड़ा कठिन है। इसलिये भगवान् भाष्यकार साधक को सावधान करते हैं 'जनकृपा नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्'। 'कृपा मत करो' सुनने पर तुरंत मन में आ जाता है कि कृपा नहीं करें तो क्या दूसरों के प्रति निष्ठुरता करें ? इसलिये उसका निषेध करना आवश्यक हो गया।

महाराजा भरत ने उस मृगशावक को इसलिये अपना लिया था कि थोड़ा बड़ा हो जाये तब छोड़ देंगे। सारा राज्य छोड़कर आये लेकिन उसे थोड़ा बड़ा करने में लग गये और थोड़ा बड़ा हुआ तो सोचा कि अभी अपने आप घास नहीं खा पाता। फिर सोचा कि अभी यह डरता है। ऐसे ही अपने बच्चों के साथ भी होता है, सबका अनुभव है, अपने-अपने मन में सोच लेना। अंततोगत्वा मरने का काल आ गया तब तक उस हरिण के साथ ही वे बने रहे। अंत में विचार यही रहा कि "मैं तो जा रहा हूँ इस हरिण का क्या होगा ?" सारे राज्य को छोड़कर आये हैं लेकिन उस हरिण में फँस गये ! अगली योनि मिली भी हरिण की। महातपस्वी, महाविवेकी, महावैराग्यवान् थे इसलिये अगले जन्म में वे जातिस्मर बन गये, उन्हें पूर्व जन्म का स्मरण रहा। हरिण के शरीर से छूटकर आगे ब्राह्मण के घर पैदा हुए। वहाँ भी जातिस्मरता बनी रही। इसलिये 'संगभीता उदासते' प्रारंभ में ही विवेकी लोग संग से भय खाते हैं। हिन्दी में एक कहावत है कि

"दूध का जला छाछ भी फूँक-फूँक कर पीता है।" जातिस्मरता से याद था कि "एक मृगशावक के पीछे मुझे यह तीसरा जन्म लेना पड़ा इसलिये मैं अब कहीं कोई संग करने वाला नहीं।" न उन्होंने पढ़ने का संग किया, न उपनयन के लिये उनकी प्रवृत्ति हुई। किसी भी कार्य के लिये प्रवृत्ति न करते हुए सर्वथा निःसंग-भाव को प्राप्त करके मुक्त हो गये।

इसलिये मन और बुद्धि रूपी जो दुनाली बंदूक है उसको कितनी जल्दी यह काम-क्रोध उठा ले जाते हैं कुछ पता नहीं लगता। हैं ये तुम्हारे, लेकिन उठा वे ले जाते हैं, उठाकर भी फिर उस अंतःकरण के द्वारा तुम्हारे ऊपर ही मार करते हैं। काम-क्रोध को विषय पैदा करते हैं : विषयों को देखकर कामना पैदा होती है, अपूर्ण होने पर क्रोध उत्पन्न होता है और मनुष्य सर्वथा उनके अधीन हो जाता है। कितना अधीन हो जाता है ? अर्जुन जैसा विचारशील विवेकी कहता है–

'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।'

मन का निग्रह मेरे लिये कितना कठिन हो गया है ? जैसे हवा को मुट्ठी में पकड़ना असम्भव होता है ऐसे ही मन को पकड़ना असम्भव लग रहा है। इसका निग्रह मैं नहीं कर पाता हूँ। लगता यह है कि मन ही चंचल है, "मैं मन को चंचल कर रहा हूँ" यह प्रतीति ही नहीं है ! मन और बुद्धि रूपी दुनाली बंदूक का प्रयोग करना है। उस अंतःकरण रूपी बंदूक में परमेश्वर का प्रेम और परमेश्वर का निश्चय रूपी कारतूस भरना पड़ेगा और उसे चलाना सीखना पड़ेगा। यही परमेश्वर को मन और बुद्धि का दान है।

परमेश्वर के प्रेम का मतलब क्या है ? अन्य प्रेमों की व्यावृत्ति करने पर सब तरफ फैलने वाला प्रेम अपने आप परमेश्वर को विषय करने लगता है। अन्य पदार्थों के अन्दर इसका जाना ही प्रतिबंधक है।

आचार्य कहते हैं 'अनात्माऽदर्शनेनैव परात्मानम् उपास्महे', अनात्म-पदार्थों के अन्दर, आत्मा से भिन्न पदार्थों के अन्दर मन को न ले जाओ, जैसे ही मन अन्य विषयों में नहीं जायेगा वैसे ही स्वतः परमात्मा में चला जायेगा। अनात्मा के अदर्शन से ही परमात्मा की उपासना करते हैं। तुम्हें कहीं बैठना है तो वहाँ बैठे लोगों से कहते हो 'हमें भी ज़रा जगह दो।' क्या वह तुम्हें कुछ देता है ? मुट्ठी में उठाकर जगह देता है ? खुद हट जाता है, जगह तो वहाँ है ही। जगह करने के लिये केवल हट जाना पड़ता है, और कुछ नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार पेटी में सामान रखती हो, लड़का कहता है कि "इसमें एक सूट रखने की भी जगह दो" तो तुम अपनी दो साड़ियाँ निकाल देती हो, उसके सूट रखने की जगह हो गई। इसी प्रकार परमात्मा तो सब चीजों में सदा व्याप्त है ही। उसको कहीं से लाना थोड़े ही है। लेकिन अन्य नामरूपकर्मात्मिक चीजों को भर रखा है इसलिये परमात्मा वहाँ नहीं है। 'नहीं है' अर्थात् नहीं जैसा है। जैसे यह नहीं है कि तुम जहाँ हो वहाँ आकाश नहीं है। आकाश वहाँ भी है लेकिन वह आकाश अन्य वस्तु रखने के व्यवहार के योग्य नहीं है। जगह है लेकिन जो बैठा है उसके बैठने के व्यवहारयोग्य ही है, अन्य के लिये जगह नहीं है। उस जगह से तुम "यह मेरे बैठने की जगह है" ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते। इसलिये जब कहा जाता है

कि जगह नहीं है तब अर्थ है कि नहीं जैसी है। उसी प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा में जहाँ तुमको नामरूप की प्रतीति होती है वहाँ परमात्मा नहीं है मायने नहीं जैसा ही है, व्यवहार के योग्य नहीं है। परमात्मा के साथ मन का कौन-सा व्यवहार है ? आनन्द का व्यवहार है; और कोई परमात्मा के साथ व्यवहार नहीं है। परमात्मा को कोई ओढ़ोगे या बिछाओगे थोड़े ही ! परमात्मा आनंदरूप है इसलिये परमात्मा के साथ व्यवहार का मतलब है आनंद। जहाँ आनन्द का अनुभव होगा वहाँ परमात्मा को विषय करोगे, बिना किये आनंद हो ही नहीं सकता। इसीलिये आनंद तभी आता है जब मन की वृत्ति शांत होती है। जब तक वृत्ति में चांचल्य है तब तक कभी आनंद नहीं आ सकता।

एक आदमी कहता था कि मुझे भोजन में इतना आनंद आता है कि मुझे दुनिया का कोई ख्याल ही नहीं रहता, मैं भोजन में सब भूल जाता हूँ और इसीलिये मैं तो भोजन को ही ब्रह्म मानता हूँ। पहले भी ऐसे लोग हुए हैं जिनके लिये भगवान् गौडपाद कहते हैं 'पाकशास्त्री मानते हैं कि भोजन ही ब्रह्म है'। ऐसों को अनुभव होता है कि "मुझे तो भोजन में जो आनन्द आता है वह और किसी चीज में नहीं आता।" उस समय कुछ भी भान नहीं रहता, पूर्ण आनंद हो जाता है, चित्तवृत्ति बिल्कुल एकाग्र हो जाती है। उस आदमी से पूछा कि "तुझे कौन-सा भोजन अच्छा लगता है?" उसने एक पूरी सूची बनाकर दे दी—मथुरा का खुर्चन, आगरे का अंगूरी पेठा, इत्यादि बढ़िया-बढ़िया चीजों की सूची बनाकर दी। हमने सभी चीजें मंगा लीं, मेज पर लगा दीं। भोजन करने बैठा दिया। केवल दो बातें कर दीं, जिस कुर्सी पर भोजन करने बैठाया

उसमें तीन ही टाँगें थीं और जहाँ वह बैठा था वहाँ छत के ऊपर का प्लास्टर बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा करके गिरता था। उसने भोजन शुरू किया। ऊपर से एक आदमी ठीक उसी जगह पर उसी समय मिर्च कूटने लगा। अब उससे कहा, "खूब आनंद से भोजन पाओ, छको।" किसी तरह उसने थोड़ा-बहुत खाया और छोड़ दिया। कहने लगा, "नहीं खा सकता।" "क्यों ? तुम्हारे सामने तो ब्रह्म है।" कहने लगा, "ध्यान कभी इधर कुर्सी की तरफ जाता है, कुर्सी इधर-उधर खिसकती है। ऊपर के धमाके के साथ सोचता हूँ कि कहीं कुछ ऊपर से न आ गिरे, मेरी जान आफत में है। आपने महादुःख की चीज बना दी।" तब उससे कहा कि इसका मतलब है कि तुझे भोजन से जान ज्यादा प्रिय है। तू कहता था कि यही प्रेम का विषय है। अब स्वतः अपने प्रमाण से ही पता लग रहा है कि बड़े से बड़े आनंद का विषय सामने होने पर भी यदि तुम्हारी चित्तवृत्ति में विक्षेप के कारण को उपस्थित कर दिया जाये तो वह सुख नहीं दे सकेगी।

आनंद परमात्मा का रूप है और परमात्मा ही आनंदरूप है। जहाँ-जहाँ आनन्द की प्रतीति होगी वहाँ-वहाँ चित्त का विक्षेप हटा हुआ होगा चाहे सैकिण्ड दो सैकिण्ड को ही हो। विक्षिप्त वृत्ति में कभी भी आनंद प्रकट होने वाला नहीं है। जब-जब मन नामरूपात्मक पदार्थ को विषय करके विक्षेप वाला होता है तब-तब उन पदार्थों के पास रहने वाला आनंदस्वरूप व्यवहार की योग्यता वाला नहीं है। है तो वहाँ जरूर लेकिन व्यवहार-योग्यता वाला न होने से वह आनंद फल नहीं सकता, उसे काम में नहीं ले सकते हो। ढाँकने वाली चीज नामरूप है। इसलिये जैसे ही उन अनात्म-

पदार्थों को तुम हटाते हो, नामरूप का बाध करते हो, तब वृत्ति के अन्दर विक्षेप का स्थल रहता नहीं अतः तुरंत वह आनंद व्यवहार्य हो जाता है, मन के द्वारा गृहीत हो जाता है। विचार करो कि मन बेचारा तुमको प्रवृत्ति किस आधार से कराता है? 'सुख मिलेगा' यह लोभ दिखाकर ही कराता है। जैसे बड़े-बड़े व्यापारी लोग होते हैं। उन्हें जब कोई गाँव का आदमी पैसा उधार देता है तब ज्यादा ब्याज के लोभ से देता है। अगर बैंक नौ प्रतिशत ब्याज देता है और कोई व्यापारी आठ प्रतिशत दे तो क्या उसके पास कोई अपना रुपया रखेगा ? वह नौ की जगह चौदह-पन्द्रह प्रतिशत अर्थात् कुछ ज्यादा दे तभी रुपये रखेगा। लोभ के कारण ही वहाँ रुपया रखते हैं। फिर क्या होता है ? सब जानते ही हो कि किसी दिन उस व्यापारी का मामला 'हरिओं तत्सत्' हो जाता है, ब्याज के लोभ में मूल भी जाता है। ठीक इसी प्रकार मन तुमको नामरूप में प्रवृत्ति करने का, विक्षेप करने का दिन-रात उसके पीछे लगाये रखने का दुःख इस लोभ से देता है कि तुमको सुख मिलेगा। जितना तुम व्यवहार कहते हो उस सब व्यवहार का आधार सुख ही है, वही ब्याज के लोभ वाली बात है।

नतीजा क्या होता है ? सुख तो संसार में मिल नहीं सकता और विक्षेप तुम्हारा बढ़ जाता है। जो थोड़ा-बहुत सुख पहले था वह भी चला जाता है। आदमी पान की दुकान करता है तो रात में खर्राटे भर कर सोता है और वही जब बड़ी भारी फैक्ट्री चलाता है तब रात में भी टेलीफोन पास में रखता है कि पता नहीं कब क्या खबर आ जाये। नींद की गोली खानी पड़ती है, नींद नहीं

आती। कारण यह है कि दिन-भर कार्य में व्यस्त है, दिमाग को आराम करने का समय कहाँ है ? पान की दुकान वाला यदि दुकान से नहीं जाता तो वहीं चद्दर तानकर सो जाता है। कोई आ गया तो उठ भी जाता है, नहीं तो खर्राटे भरता रहता है। लेकिन मिल का मालिक क्या ऐसा कर सकता है ? उसे रात में ही नींद नहीं आती तो सवेरे क्या आयेगी ? चाहे उसके कमरे में वातानुकूल लगा हुआ है। एक दफ्तर में हम गये तो हमें दिखाया—'यह ऐसा सोफा है जिसे खोलने से इस पर लेट सकते हैं, जब आराम करना होता है तो वैसा कर लेते हैं।' हमने कहा यह ठीक किया, दिन में सो जाना चाहिये। लेकिन हफ्ते में कितने दिन सो लेते हो ? सिर पर हाथ रखकर कहता है, "क्या बतायें मौका ही नहीं मिलता।" पान की दुकान वाला बिना जगह के ही अपना काम बना लेता है। जितना-जितना नामरूप का विक्षेप मन ने यह कहकर बढ़ाया कि तुम्हें सुख का ब्याज ज्यादा मिलेगा, उतना ही मूलधन रूप सुख भी घपले में गया। मन तुमको सुख के लोभ से ही प्रवृत्त करता है।

यदि जो सुख लेने का तरीका है वह तुम समझ लो तो इस लालच में नहीं फँसोगे। जब तुम जानते हो कि 'वृत्तिशून्य करना तो मुझे है, जब चाहूँ कर लूँ क्योंकि सुख तो वृत्तिशून्यता में है', तब नतीजा यह होता है कि तुम्हारा मन लोभ से तुम्हें प्रवृत्त नहीं कर पाता, लोभ दिखाये कैसे ! वह कहेगा कि "यह करोगे तो यह चीज मिलेगी तब सुख मिलेगा।" तुम कहोगे, "वह इच्छा-शांति का ही तो सुख मिलेगा और इच्छा अभी ही हमने शांत कर ली।" बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ आनंद-मीमांसा

आई है वहाँ एक-एक आनंद को गिनाया और प्रत्येक आनंद के साथ कहते गये हैं 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' जिसने श्रुति के बल से संसार के रूप को ठीक तरह से समझ लिया और इसलिये उसने उन विषयों की कामना को छोड़ दिया उसे वह सुख पहले ही प्राप्त है। कामना के द्वारा हत को जब चीज मिलेगी तब सुख होगा और जो उस कामना के द्वारा हत नहीं है वह सुख उसे पहले ही प्राप्त है। इसलिये बार-बार कहा 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।' यह हमेशा मन के अन्दर कारतूस भरे रखना होगा कि जो-जो विषय सामने आये उस-उस का बाध करना है। यही उसका तरीका है।

दुनाली बंदूक की एक नाली तो मन और दूसरी नाली बुद्धि अर्थात् बुद्धि का निश्चय है। जैसे मनुष्य को सुख की कामना है वैसे ही उसके अन्दर उचित, योग्य, कर्तव्य करने की भी कामना है। पशु और मनुष्य में यही फर्क है। विदेशी लोग चूँकि "पशु से उत्पन्न हुआ" यह समझने में प्रवृत्त हुए इसलिये उन्होंने एक गलत मान्यता मान ली कि सभी मनुष्य केवल सुख के लिये प्रवृत्त होते हैं जबकि यह बात है नहीं। मनुष्य के अंदर एक कर्तव्य-बोध है, औचित्यचर्चा भी उसके हृदय के अन्दर है। ठीक है कि लोभ के कारण, काम क्रोध आदि के कारण, अविचार के कारण गलत काम कर लेगा लेकिन गलत काम करने के बाद अंदर से शांति का अवबोध नहीं हो पाता। जब तक उसे तुम गलत न समझ पाओ तब तक चाहे दुःख न दे, लेकिन समझ में जरूर आयेगा और जब समझ में आयेगा उस समय कर्तव्यबोध दुःख देगा। वे लोग कहते हैं कि मनुष्य की प्रवृत्ति केवल मन को लेकर

है, बुद्धि को लेकर नहीं है। यह गलती दोनों पाश्चात्य वर्गों की है चाहे वह इंग्लैण्ड अमरीका का पूंजीवादी दृष्टिकोण हो चाहे रूस का साम्यवादी दृष्टिकोण हो। दोनों ही यह मानकर चलते हैं कि प्राणिमात्र उदरंभर अथवा शिश्नोदरपरायण है। यह उनकी मान्यता है लेकिन यह ठीक नहीं है। वहाँ के प्राचीन धर्माचार्यों ने तो यही बात कही है कि केवल उदरंभर होकर मनुष्य नहीं जी सकता। कारण, कि पशु की तरफ से मनुष्य में मन आया है तो देवताओं की तरफ से बुद्धि भी आई हुई है।

अधिकतर जीवन के अन्दर आज जो दुःख दिखाई देता है उसका यह भी कारण है कि बुद्धितत्त्व संतुष्ट नहीं हो पा रहा है। धन, यश वाह-वाह इत्यादि सब मिल जाते हैं लेकिन "मैंने अपना कर्तव्य पूर्ण नहीं किया" यह अंदर ही खटकता रहता है। उसको भूलने के प्रयत्न में कभी मनुष्य नशा करता है, शराब पीता है और रात्रि में बारह बजे तक पार्टियों में जाता है, क्योंकि अपने आपको बचाना चाह रहा है। एकांत में बैठना नहीं चाहता, अपने आप से उसे डर लगता है। आजकल यह रोग जवान लड़कों में है। कई बार लड़के कहते हैं कि हम अकेले बैठे हुए बोर हो गये, कारण यह है कि अपना कर्तव्य नहीं करते। इस कर्तव्य को न करने का जो बोध है वह अकेले बैठते ही सामने आ जाता है। इसलिये मनुष्य अपने आप से डरता है, अकेले बैठने से डरता है। उसके लिये रोज चाहे दूसरे उसे पार्टियों में बुलायें अथवा दूसरों को वह बुलावे, चाहता यही है कि रात में इतना थककर घर जाये कि पता न लगे और सो जाये। इतवार के दिन भी प्रोग्राम बनाता है। एक दिन, रविवार को छुट्टी के दिन भी शान्ति से घर नहीं

बैठ सकता। सप्ताह के बाकी दिनों में यदि सात बजे उठता है तो उस दिन साढ़े नौ बजे उठता है क्योंकि सवेरे कोई प्रोग्राम नहीं कर सकते और जल्दी जग गये तो अपने आपको देखना पड़ेगा और देख लिया तो पता लगेगा कि मैंने बहुत गलत काम कर रखे हैं ! यह जो अपने आप से भय लगता रहता है, यह इसलिये कि ''मैंने अपना कर्तव्य पूर्ण किया'' यह अवबोध नहीं है।

बुद्धि का काम परमात्मविषयक निश्चय करना है। क्या कर्तव्य है, क्या उद्देश्य है यह विचार करने पर तो सिवाय परमात्मप्राप्ति के और कोई चीज वस्तुतः कर्तव्य नहीं है। उसी के साधन कर्तव्य हैं। जो-जो चीज परमात्मप्राप्ति की सीढ़ी बनती जाती है वह-वह चीज तो कर्तव्य है और जो-जो चीज परमेश्वरप्राप्ति की सीढ़ी नहीं बनती वह कर्तव्य नहीं है। विचार करो—रामचन्द्र जी ने दशरथ की आज्ञा मानी तो वे प्रशंसनीय हो गये। प्रह्लाद ने हिरण्यकशिपु की बात नहीं मानी और वे भी प्रशंसनीय हुए। यदि पिता की आज्ञा मानना प्रशंसनीय होता तो प्रह्लाद को कुलांगार कहा जाता, उसने पिता को मरवाया, आज्ञा नहीं मानी। दोनों विरुद्ध बातें हैं फिर भी दोनों प्रशंसनीय हैं क्योंकि दोनों का कार्य परमेश्वरप्राप्ति की दृष्टि से अर्थात् औचित्य की दृष्टि से हो रहा था। इसी प्रकार सर्वत्र समझना। जब पिता की आज्ञा जैसी चीज में यह बात है तो दूसरी चीजों में कहना ही क्या ! भरत ने राम के साथ प्रेम किया और माँ की भी बात नहीं मानी, वह भरत प्रशंसनीय हुए कि भाई के लिये इतना त्याग किया। दूसरी तरफ, भाई को मरवाने वाला विभीषण भी प्रशंसनीय हुआ। दोनों बिल्कुल विरुद्ध हैं। साधारणतः कोई स्त्री रात्रि के

समय किसी व्यक्ति के पास चली जाये तो महानिन्दनीय होगी लेकिन गोपियाँ भगवान् के पास गईं और प्रशंसनीय हुईं। जो-जो चीज परमात्मप्राप्ति का साधन बनती है, वह प्रशंसनीय है, वह कर्तव्य है यह निश्चय है। हर एक आदमी कर्तव्य करते हुए यह सोचे कि "यह कर्तव्य हमें परमेश्वर की तरफ ले जा रहा है या परमेश्वर से दूर ले जा रहा है।"

प्रश्न होता है कि यदि बुद्धि के अन्दर इस कर्तव्यता का निश्चय है तो गलत कामों की तरफ मनुष्य कैसे जाता है ? कहता है—"स्वामी जी ! मुझे शराब पीने की बिल्कुल इच्छा नहीं है लेकिन क्या करूँ, मेरा अफसर कहता है कि पीनी ही पड़ेगी। आखिर आप भी तो कहते हैं कि बाल-बच्चों का पोषण कर्तव्य है।" यह हम कब कहते हैं कि बाल-बच्चों का पोषण कर्तव्य नहीं है ! मनु तो कहते हैं कि सैंकड़ों न करने योग्य कार्य करके भी उनका पोषण करे। लेकिन 'अकार्य' कहा है, पाप करने को नहीं कहा है। जैसे ब्राह्मण का काम नहीं कि खेत जोते, उसका काम तो वेद वेदांग का अध्ययन करे कराये यही है। लेकिन इस युग के अन्दर यदि उस कार्य से घरवालों का पोषण नहीं होता तो खेती करे। वैश्य का काम नमक तेल बेचना नहीं है लेकिन यदि घरवालों का पोषण नहीं हो रहा है तो न बेचने वाली चीज भी बेच ले। यह 'अकार्य' का तात्पर्य है। उल्टा नहीं कि अकार्य की छूट है तो चोर बाजारी करते हैं ! जो तुम्हारा कार्य नहीं है वह तुम्हारे लिये अकार्य हुआ, उसे करने को कहा, मनु ने पाप करने को नहीं कहा। जब मनुष्य के सामने यह प्रश्न आता है कि "यह मेरा कर्तव्य है या नहीं" तो तुरन्त उसके आधारका निश्चय करो कि "यह परमात्मा की

तरफ जाने की सीढ़ी बनेगा या नहीं ?" यदि परमेश्वर की तरफ जाने की सीढ़ी बनता है तो वह तुम्हारा कार्य है और यदि परमेश्वर से दूर ले जाने की सीढ़ी बनता है तो तुम्हारा कार्य नहीं है। यह जब बुद्धि का निश्चय हो जायेगा तब जो बुद्धि इधर-उधर हिलती रहती है और उसके द्वारा मनुष्य को विषयों में ले जाती है, वह नहीं हो पायेगा। कर्तव्य करते समय मनुष्य परमात्मा को भूल जाता है। मन ने सुख देखकर, बुद्धि ने कर्तव्य देखकर तुम्हें परमात्मा से दूर किया, अनात्मा में ले गये। अब जैसे ही निश्चय किया कि परमात्मा ही वृत्तिशून्य अवस्था में नाम-रूप हटाने से सुख का कारण है और सब कर्तव्यों का उद्देश्य एकमात्र परमात्मा है तब जितने तुम्हारी बुद्धि के खींचने के रास्ते थे वे बंद हो गये। इस प्रकार मन और बुद्धि को परमात्मा को देना दान है, इसके द्वारा जो अदान अर्थात् तुम्हारी बुद्धि परमात्मा को नहीं जा रही है वह रुक जायेगा और सेतु को तर जाओगे।

प्रवचन—२५

सृष्टि की पूर्व अवस्था का विचार करते हुए श्रुति ने बताया कि उस काल में द्रष्टा दृश्य जगत् नहीं था और द्रष्टा-दृश्य जगत् को बनाने वाला कारण जो कर्म वह भी नहीं था। कर्मों के दोनों प्रकार का निषेध करते हुए यहाँ कहा—'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि' न उस अवस्था में संसार के चक्र को चलाने वाला मृत्युरूप कर्म था और न संसार के चक्र से निवृत्त करने वाला अमृतरूप कर्म था। अमृतरूप कर्मों का कल्माषसाम ने चार प्रकार से विधान किया। 'दानेन अदानम्', अदान रूप मानवीय स्वाभाविक प्रवृत्ति को दान से जीते। उसका प्रथम रूप आत्मदान अर्थात् जीवात्मा के स्वरूप का दान बताया। जीवात्मस्वरूप के अन्दर, जिसकी स्थिति नहीं उसके लिये कहा कि मन और बुद्धि जिसे वह अपना स्व समझता है उसका दान करे।

मन और बुद्धि के दान को भी जो करने में समर्थ न हो वह प्राणिमात्र को अपनी क्रियाओं से अभय का दान दे। "मेरे शरीर की क्रियाओं से कभी किसी को मैं भय देने का प्रयत्न नहीं करूँगा।" यह निश्चयपूर्वक कोशिश करे। परमात्मा का स्वरूप

अभय है यह पहले भी बताया था। ज्ञान होने पर जनक के प्रति याज्ञवल्क्य ने यही कहा, 'अभयं वै जनक प्राप्तोसि'। हे ज़नक! तू अभय अवस्था को प्राप्त कर गया, क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' अपने से कोई भी दूसरा होगा तो वह भय का कारण जरूर बनेगा। अभय पद अद्वितीय पद है इसलिये अद्वितीय परमात्मा ही एकमात्र अभय है। जब हम दूसरे प्राणियों को अभय देते हैं तो वस्तुतः उस काल में हम ब्रह्म के साथ अपने अभेद का चिंतन ही करते हैं। अभयरूप परमात्मा है। जब हम किसी के लिये अभय बनते हैं, अभयदान देते हैं तो उस काल में परमात्मा के साथ अपनी एकता का चिंतन ही करते हैं। अभयदान देने का मतलब है कि वह वस्तु या वह व्यक्ति मुझे अपने से दूसरा न समझे क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' जब तक उसे यह प्रतीति रहेगी कि तुम दूसरे हो, पर का भाव जब तक रहेगा तब तक अभय नहीं आता। क्या कारण है कि माता बच्चे को थप्पड़ मारती है, कान उमेठती है उस काल में भी बच्चा माँ की छाती में ही अपने मुँह को घुसाता है ? माँ उसे दण्ड दे रही है लेकिन दण्ड के काल में भी लड़का उससे दूर नहीं भाग रहा है वरन् उसी की तरफ जा रहा है। इसलिये कि माता दण्ड देते काल में भी उसके प्रति अद्वितीय भाव को नहीं छोड़ती। द्वितीयता का भाव कि 'यह दूसरा है', उसके मन में नहीं आता। दूसरा आदमी कान उमेठने की क्या कहो, थोड़ी-सी आँख बदल दे तो बच्चा ऐसा चला जाता है कि फिर उसकी तरफ देखता नहीं। क्या कारण है ? बच्चे को उसमें द्वितीयत्व का भाव है।

यह इसलिये कह रहे हैं कि अभयदान का अर्थ प्रायः आदमी

समझ लेता है कि "मैं किसी को कुछ नहीं कहूँगा तो अभय हो गया।" कह भी देते हैं कि "मैं अपने बच्चों को कुछ भी नहीं कहता, उनको पूरी स्वतंत्रता दे रखी है फिर भी पता नहीं क्यों वे घर को अपना नहीं समझते।" यह शिकायत बहुत से माता-पिताओं की रहती है। कारण यह है कि कुछ न कहना अभय का स्वरूप नहीं है। तुम जब उनको दूसरा समझोगे तभी तुम उनसे कुछ नहीं कहोगे। आवश्यकता से अधिक कहना भी द्वितीय-भाव और बिल्कुल न कहना भी द्वितीयभाव है। विचार करो कि तुम्हारे मन में जब कोई बुरा विचार आता है तब तुम क्या अपने मन को कहते हो कि "खूब अच्छी तरह डटकर बुरी बात सोच ले" या तुरंत उस मन को कहने लगते हो कि "अरे मन, क्यों ऐसा करता है ? इस प्रकार की बात से न तेरा इस लोक में कोई फायदा है, न परलोक में कोई फायदा होना है। फिर क्यों बेकार का चिंतन करता है ?" इतना ही नहीं, यदि मन कोई गलत बात कर लेता है तो इस मन से इतने दुःखी हो जाते हो कि सोचते हो कि "मैं कुछ नहीं खाऊँगा", यह मन को ही तो दण्ड दे रहे हो। इसी प्रकार शरीर ठीक से क्रिया नहीं करता तो शरीर को भी आदमी दण्ड देता है। जिसको पालथी मारकर बैठने की आदत ज्यादा न हो वह कभी आकर पालथी मारकर बैठता है तो उसका पैर सो जाता है। वह उस पैर को घूँसा मारता है कि यह पैर ठीक हो जाये ! पैर ने ठीक से काम नहीं किया तो उसे घूँसा मारता है लेकिन क्या ऐसा करने पर पैर के प्रति उसका द्वितीयभाव है?

मनुष्य वहीं कुछ नहीं कहता है जहाँ द्वितीयभाव होता है। जिस किसी को अपने से दूसरा समझेगा उसे दण्ड नहीं देगा।

घर में अपना लड़का समय पर भोजन करने को न आ जाये तो उसे कहते हो "यह क्या बात है ? समय पर भोजन करने को नहीं आते ?" घर में कोई मेहमान आया हो तो क्या उसे भी कहते हो कि "समय पर भोजन करने आ .। करो, यह क्या खेल मचा रखा है ?" नहीं कहते, क्योंकि मेहमान के प्रति 'यह दूसरा है' यह भाव है। घर का कोई आदमी देरी से उठता है तो टोकते हो। बाहर से आये मेहमान को नहीं टोकते क्योंकि द्वितीय-भाव है। प्रायः जो आधुनिक लोग यह समझ लेते हैं कि "किसी को मैंने कुछ नहीं कहा तो अभय दे दिया" वह अभय नहीं दिया, भय दे दिया क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' उसके मन में तो तुमने द्वितीयता का भाव दे दिया कि तुमने उसे अलग समझ रखा है। जब उसको अपने से द्वितीय नहीं समझोगे तभी उसे अभयदान मिलेगा। जब उसे द्वितीय नहीं समझोगे तब उससे तुमको भी भय नहीं होगा। भगवान् ने गीता में दोनों तरफ की बात रखी है : 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः' लोग उससे उद्वेग को प्राप्त नहीं करते और लोगों से वह उद्वेग को प्राप्त नहीं करता। वह किसी भी परिस्थिति में दूसरों से उद्विग्न नहीं होता और उससे कोई दूसरा उद्विग्न नहीं होता। वहाँ जीवन्मुक्त का प्रसंग होने से प्राणिमात्र विषय है अर्थात् प्राणिमात्र उससे उद्विग्न नहीं और वह प्राणिमात्र से उद्विग्न नहीं होता। लेकिन साधक के लिये भी अभय का तात्पर्य है कि जिस किसी से व्यवहार हो उसे मुझसे और मुझे उससे भय न हो—यही अभयदान है। उससे डरते रहो और कहो कि "मैं उसे अभय दे रहा हूँ" यह नहीं हो सकता क्योंकि द्वितीयभाव की निवृत्ति नहीं है। अभय जो परमात्मा का स्वरूप

है उसका दान बहुत बड़ा दान है।

जैसे-जैसे प्राणियों को अभयदान दोगे वैसे-वैसे क्या होगा ? देवर्षि नारद बड़ा विचित्र फल बताते हैं 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' जब तुम दूसरे प्राणियों को अभय देते हो तब उनके साथ तुम्हारा जो व्यवहार है वह नैष्कर्म्य का व्यवहार हो जाता है। नैष्कर्म्य का सीधा अर्थ तो यही है कि कोई कर्म नहीं रहता लेकिन नैष्कर्म्य एक पारिभाषिक शब्द है। भगवान् ने गीता में नैष्कर्म्य को सिद्धि बताया है 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति' नैष्कर्म्यसिद्धि को परमा सिद्धि बताया है इसलिये नैष्कर्म्य पद को समझना जरूरी है। कर्म नहीं करना मात्र ही यदि नैष्कर्म्य हो तो गहरी नींद में प्राणिमात्र नैष्कर्म्य को प्राप्त कर जाता है। यदि यही परम सिद्धि हर-एक को प्राप्त होती हो तो उसका फल भी प्राप्त होना चाहिये।

कर्म का मतलब है सोद्देश्य प्रवृत्ति अर्थात् कर्त्ता का कोई उद्देश्य, कोई लक्ष्य होता है, कर्त्ता कुछ चाहता है। जो उसका उद्देश्य, लक्ष्य, और चाहने का विषय है, उसी को कर्म कहते हैं। उद्देश्य, लक्ष्य और चाहना से रहित हुए जो भी किया जाये वह कर्म-पद का वाच्य नहीं है। कर्म तभी कहा जा सकता है जब वह उद्देश्य, लक्ष्य, इच्छा का विषय हो। आदमी बैठा हुआ है; उससे पूछते हो, "क्या कर रहे हो ?" वह कहता है, "कुछ नहीं।" "कुछ नहीं कैसे ? साँस नहीं ले रहे हो ?" "जी वह तो ले रहा हूँ।" "आँख की पलक नहीं हिला रहे हो, बैठे हुए नहीं हो ?" वह कहता है कि "यह सब तो कर रहा हूँ।" "फिर कैसे कह रहे हो कि कुछ काम नहीं कर रहा हूँ, कई काम कर रहे हो। सम्भवतः

मक्खी बैठती है तो उसे उड़ा भी रहे हो ?" कहेगा कि "उद्देश्य, लक्ष्य या इच्छापूर्वक कुछ नहीं कर रहा हूँ। यह तो स्वभावतः जो प्राप्त हो रहा है वह कर रहा हूँ।" यह लौकिक वार्ता भी इसी बात को सिद्ध कर रही है कि उद्देश्य, लक्ष्य और चाहना से रहित जो क्रिया होती है उसे कर्म नहीं कहा जाता है। आजकल सरकार बहुत चिंतित है कि लोग बेरोजगार हैं, उन्हें कोई काम मिला हुआ नहीं है। क्या सचमुच कोई बेरोजगार है ? सवेरे उठने का कर्म करते हैं, टट्टी जाने का कर्म करते हैं, दातुन करने का कर्म, नहाने का कर्म, खाने का कर्म, कपड़े पहनने का कर्म—सभी तो करते हैं ! कर्म तो कर रहे हैं लेकिन इन सब कर्मों के करने पर भी क्यों कहा जाता है कि लोगों के पास कोई काम नहीं है? इसलिये कि जो उसका उद्देश्य, लक्ष्य अर्थप्राप्ति है उससे रहित हैं। बाकी जितने कर्म हैं उन कर्मों से उसे 'काम वाला' नहीं माना जाता। इसलिये लोक में भी जहाँ उद्देश्य, लक्ष्य या चाहना का अभाव है उसे कर्म नहीं कहा जाता।

इसी प्रकार से शास्त्रों में नैष्कर्म्यसिद्धि का मतलब है स्व-उद्देश्य, स्वलक्ष्य और स्वकामना का अभाव। कर्म न करना नैष्कर्म्य का अर्थ नहीं वरन् न अपने किसी लक्ष्य के लिये काम करना, न अपने किसी उद्देश्य के लिये काम करना, न अपनी किसी चाहना को पूर्ण करने के लिये कर्म करना—यह परम नैष्कर्म्य सिद्धि है। 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' इसका मतलब हुआ कि जिस-जिस प्राणी को तुम अभय दोगे उसके साथ तुम्हारा द्वितीयता का भाव नहीं रहेगा और जब द्वितीयता का भाव नहीं रहा तब तुम उस व्यक्ति को अपना उद्देश्य, अपना लक्ष्य और अपनी चाहना

का लक्ष्य नहीं बनाओगे। अभी तक हम व्यवहार करते हैं तो पहली दृष्टि है कि "यह मेरा कौन-सा उद्देश्य पूरा करेगा ?" आजकल तो विवाह करते हुए भी सोचते हैं कि "लड़की आयेगी तो मेरा कौन-सा उद्देश्य पूरा करेगी ?" अब तो कुछ लोग ऐसे हो गये हैं जो कहते हैं लड़की को ब्याह करने के पहले देखेंगे। क्यों देखेंगे? देखने में सुन्दर होनी चाहिये, मेरी सुन्दरता की अभिलाषा को पूरा करेगी या नहीं ? स्व उद्देश्य के लिये प्रवृत्ति है। विवाह के अन्दर भी अभय की भावना, द्वितीयतानिवृत्ति की भावना नहीं है। कुछ उससे भी आगे चलते हैं—लड़की पढ़ी-लिखी है या नहीं ? हम उससे पूछते हैं "इससे क्या होगा ?" "जी, चार मित्रों के यहाँ आये जाये तो ढंग की बात करने वाली होनी चाहिये नहीं तो हमारी इज्जत नहीं रहेगी।" यहाँ तक तो फिर भी कुछ उद्देश्य है, जो उससे भी नीचे उतर गये वे कहते हैं कि "लड़की दहेज कितना लायेगी ?" मेरे धनप्राप्ति के उद्देश्य को पूरा करने वाली है या नहीं। गरीबों के अन्दर दहेज लाने वाली नहीं है तो पता लगाते हैं कि नौकरी करके कमाकर लाती है या नहीं। यहाँ कहीं भी विवाह विवाह के लिये नहीं हो रहा है, किसी अन्य उद्देश्य के लिये हो रहा है। मैं वकील हूँ, मेरा लड़का मैट्रिक में विज्ञान में अच्छे नम्बर लाया। मैं उससे कहता हूँ, "बेटा वकालत ले ले, बी.ए., एल.एल.बी. कर लेना।" वह कहता है "मुझे तो विज्ञान विषय लेने हैं।" पिता कहता है "वकालत कर ले।" कारण यह है कि मेरे पास इतने मुकदमे आ रहे हैं, यह यदि वकील बनेगा तो मेरे उद्देश्य को पूरा करेगा। ऐसे ही व्यापारी का लड़का कुछ भी पढ़ना चाहे, व्यापारी चाहता है कि कामर्स पढ़े और मेरे व्यापार में काम

आये। कह भी देते हैं, "तू डाक्टर बन गया तो बुढ़ापे में मैं दुकान कैसे चलाऊँगा ?" उल्टा भी समझ लेना, केवल लड़का ही नहीं, लड़की भी अपना पति ढूंढती है तो देखना चाहती है कि लड़का कैसा है और कितना कमाता है, यह सब जानना चाहती है। उससे भी आगे जानना चाहती है; जो वह जल्दी अपने घरवालों को भी नहीं बताता वह भी पूछ लेती है "ए का कितना और बी का कितना आता है ?" सर्वत्र 'मुझे क्या मिलेगा' अर्थात् जिससे हम व्यवहार करते हैं वह मेरे किस उद्देश्य, किस लक्ष्य या किस चाहना को पूरा करने में समर्थ होगा—यही भाव है। जब पति-पत्नी, पिता-पुत्र के सम्बन्धों में यह सत्य है तो बाकी व्यवहारों में सत्य हो इसमें कहना ही क्या ! स्वाभाविक है कि यही भय का बीज है, इसी से नैष्कर्म्य नहीं आता।

नैष्कर्म्य तब आता है जब इससे परिवर्तन होकर दृष्टि आती है कि "मैं इनका कौन-सा कार्य सिद्ध कर सकूँगा।" यही सोचने का तरीका बदलना है। सामने वाले में निर्भयता तब आयेगी जब वह जानेगा कि तुम उसे कोई औजार बनाना नहीं चाहते बल्कि तुम अपनी तरफ से उसकी कामना, उसके उद्देश्य, उसके लक्ष्य को पूरा करोगे। तब सामने वाले में कभी भी भय नहीं आयेगा। अभय के द्वारा ही इस नैष्कर्म्य की प्राप्ति होती है। यह परमा नैष्कर्म्य सिद्धि कब बनेगी ? शुरू में थोड़े से लोगों के प्रति करोगे। घरवालों से ही शुरू करोगे कि घरवालों को मैं यह न मानूँ कि इनसे मुझे क्या मिलेगा। फिर उसके बाद अपने मिलने-जुलने वालों से, नौकर-चाकरों से ऐसा व्यवहार करोगे। जब संसार में किसी से कुछ भी तुमको नहीं चाहिये, यहाँ तक कि साक्षात् भगवान्

भी आकर कहें कि "तुम्हें क्या चाहिये" तो यही कहो कि "आपका जो काम कोई दूसरा न कर पा रहा हो वह मुझे बता दें। मेरा स्वतः कोई अपना लक्ष्य, उद्देश्य या चाहना नहीं है।" तब पूर्ण परमा नैष्कर्म्यसिद्धि है। जितना-जितना इस दृष्टि में आगे चलो उतनी प्रगति है। यह व्यवहार में तुरन्त पता लग जाता है। व्यवहार में जब किसी से बात करते हैं तब मन उसी समय कह देता है कि मन क्या सोच रहा है। कितनी जल्दी आदमी कह देता है, "अच्छा ! आप वकील हैं, हमारा भी एक मुकदमा है, उसके बारे में कुछ राय तो दीजिये।" क्या कभी यह भी कहते हो "आप कभी-कभी सूट भी तो खरीदते होंगे, हमारे पास आइये हम विशेष रियायती दर पर देंगे" ? क्या मन में भी कभी यह भाव आता है ? "अच्छा, आप डाक्टर हैं, मेरी कमर में दर्द रहता है क्या कोई दवाई है ?" व्यवहार में यह जैसे अपने मन में आता है वैसे क्या यह भी कभी मन में आता है कि "डाक्टर साहब! आपको अमुक चीज की आवश्यकता पड़ती होगी, वह हमसे मिल जायेगी" ? यह जो अभयदान है, अभय की दृष्टि है इसी से नैष्कर्म्य सिद्धि बढ़ती जाती है। अंततोगत्वा परम नैष्कर्म्य सिद्धि हो जाती है।

एकनाथ जी गंगोत्री गये थे। अब तो यात्रा बड़ी सरल हो गई है लेकिन उस काल में बड़ी कठिन थी। उस समय न रेलें थीं, न मोटरें आई थीं इसलिये पैदल ही यात्रा थी, या बहुत हुआ तो घोड़े पर चले जाओ। गंगोत्री की यात्रा करके वहाँ से गंगाजल लिया। गंगाजल को काँवर पर रखकर रामेश्वर जाकर चढ़ाना था। उनके साथ और भी कई लोग थे, उन सबने भी इसी प्रकार गंगाजल

लिया। वहाँ से जो गंगाजल लिया जाता है उसको कहीं रास्ते में जमीन पर नहीं रखा जाता, यह पद्धति है। इसलिये कंधे के ऊपर ही उसे टाँग लिया जाता है। एकनाथ जी भी गंगोत्री से रामेश्वर जा रहे थे। वे लोग आन्ध्र में गोदावरी के आगे पहुँचे। एक जगह एक गधा प्यास के मारे मर रहा था। उधर पानी की बहुत कमी थी, अभी भी कमी है। उन्होंने देखा कि यह गधा तो अब मर ही जायेगा। आसपास कोई दूसरा पानी था नहीं। उन्होंने झट से अपना गंगाजल निकाला। साथियों ने कहा, "यह क्या करता है? यह तो भगवान् रामेश्वर को चढ़ाने का पानी है !" एकनाथ ने भी कहा कि "हाँ, रामेश्वर को चढ़ाने का है। रामेश्वर को तो मिलेगा ही, तुम सब भी ले जा रहे हो, इसे कौन देने वाला है?" उसी समय उन्होंने अपना सारा जल गधे को पिला दिया। गधे के प्राणों की रक्षा हो गई। साथ वाले सब कहने लगे, "इसका दिमाग फिर गया है, हजार डेढ़ हजार मील लादकर लाया और अब गधे को पिला दिया।" फर्क क्या था ? जो दूसरे रामेश्वर को जल चढ़ाने जा रहे थे उन्हें तो अपने किसी लक्ष्य, उद्देश्य या किसी न किसी इच्छा की पूर्ति करनी थी। उन्हें कोई पुण्य, कोई स्वर्ग लोक या कोई इह लोक की कामना थी कि यदि हम इस प्रकार रामेश्वर को जल चढ़ायेंगे तो हमारा कोई उद्देश्य पूरा होगा। इसलिये वे सब अपने उद्देश्य से प्रवृत्त हो रहे थे। लेकिन एकनाथ अपने किसी उद्देश्य से प्रवृत्त नहीं हो रहे थे। वे तो स्वाभाविक ढंग से प्रवृत्त हुए थे कि भगवान् को चढ़ाना है। देखा कि जल का उपयोग यहाँ सम्भव है। यदि अपना उद्देश्य सामने होता तो सोचते रहते कि "हमारा अमुक काम तो होगा ही नहीं", ऐसा

उनके सामने कुछ नहीं था। कहा यह जाता है कि जब उन्होंने जल पिलाया तो गधा तो पानी पीकर संतुष्ट होकर चला गया, दूसरे सब भी चले गये। भगवान् रामेश्वर ने एकनाथ को वहीं दर्शन दे दिये, उनकी पूजा स्वीकार कर ली। शास्त्र बार-बार उसका ठिकाना बताता है—'सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति'—चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सब प्राणियों के हृदय में भगवान् बैठे हुए हैं। गधे के हृदय में भी तो वही रामेश्वर है, कोई दूसरा थोड़े ही है। इसलिये उनको वहीं उन्होंने दर्शन दे दिये। एकनाथ वापिस घर आ गये।

बाकी सब लोग आठ-दस महीने के बाद यात्रा करके घर पहुँचे। दूसरे सब कहने लगे कि "एकनाथ जी तो भगवान् का दर्शन करके बहुत जल्दी आ गये।" सब हँसने लगे कि "वह तो भ्रष्ट हो गया, भगवान् का पानी उसने एक गधे को पिला दिया।" उन्होंने कहा, "हमने पूछा था तो कहता था कि मैं तो भगवान् का दर्शन करके आया।" साथियों ने कहा, "वह झूठ बोलता है।" उन लोगों ने जाकर एकनाथ से यहं बात कही। एकनाथ ने कहा, "मुझे पहले दर्शन हो गया है इसलिये वे लोग ऐसी बात बनाते हैं।" चारों तरफ बात होने लगी। एक बार सब साथ बैठे हुए थे, वहीं बात छिड़ गई। एकनाथ ने कहा, "मैं तो दर्शन करके आया हूँ, विस्तार से सारा वर्णन कर देता हूँ।" वहीं उन्होंने मन्दिर के एक-एक स्थल और पुजारी इत्यादि जितनी चीजें वहाँ जैसी थीं वैसी ही वर्णन करके सुना दीं और कहा कि "और भी कोई बात मन्दिर के बारे में पूछनी हो तो पूछ लो।" एक ने कहा कि "तुमने किसी दूसरे से सुन रखा होगा इसलिये सुना दिया। इससे

वहाँ गये थे यह सिद्ध नहीं होता।" जिसने यह बात कही उसको उन्होंने उसी समय कहा "अच्छा जो बात किसी ने नहीं बताई वह भी बता देता हूँ। जब तुमने अपने हाथ का पानी पुजारी को देने के लिये आगे बढ़ाया उसी समय मन्दिर के दरवाजे से एक छिपकली नीचे गिरी थी या नहीं ?" यह सुनते ही वह चुप हो गया। बात को समझ गया। तब सब लोगों को स्वीकार करना पड़ा कि इन्होंने अवश्य दर्शन किये हैं। इसीलिये उनका नाम एकनाथ हुआ।

विचार करो : जिनका अपना कोई दृष्टिकोण होता है, जो लोग नैष्कर्म्य वाले नहीं हैं ऐसे हम लोग *अनेकनाथ* हैं। दुनिया भर के हम लोगों के मालिक हैं। कभी पत्नी मालिक बन जाती है, कभी पैसा मालिक बन जाता है, कभी मकान तक मालिक बन जाता है। हम चाहते नहीं हैं कि हमको मकान की मरम्मत कराने जाना पड़े लेकिन वह मालिक बना हुआ है, नौकर की तरह जाकर हमें उस मकान की मरम्मत करानी पड़ती है। पत्नी, धन, मकान इत्यादि न जाने कितने हमारे मालिक हैं, कोई ठिकाना नहीं है। आप लोगों में बहुत से व्यापारी हैं, कभी सेल्सटैक्स अफसर मालिक बनता है और कभी सैनिटरी इंस्पैक्टर भी मालिक बन जाता है। किसी की फैक्ट्री हो और वह आकर कहे कि "स्वास्थ्य के हिसाब से यह जगह ठीक नहीं रखी गई है, गंदगी ज्यादा है" तो उसको भी सलाम करना पड़ता है। किसको ? सैनिटरी इंस्पैक्टर को जिसका हिन्दी में अनुवाद करेंगे तो घबरा जाओगे—साफ-सफाई का जिम्मेवार। उसकी भी जी-हजूरी करनी पड़ती है। जो अनेकनाथ है, अनेक जिसके मालिक हैं, उसको तो हमेशा भय

ही लगेगा, स्वयं ही डरता है कि "न जाने कौन मेरा नुक्सान न कर जाये।" एकनाथ वह है जो जानता है कि एकमात्र परमात्मा ही ऐसा है कि 'यस्मिन् तुष्टे जगत् तुष्टं' यदि वह प्रसन्न हो गया तो कोई कुछ नहीं कर सकता और यदि वह प्रसन्न नहीं है तो सब मिलाकर भी हमें बचा नहीं सकते। यह एकनाथ का दृढ निश्चय है। वह एकनाथ गंगोत्री के जल को लेकर भगवान् पर चढ़ाने को जा रहा है। गंगोत्री वह है जो मनुष्य को वस्तुतः अभय की प्राप्ति कराती है, दूसरी कोई चीज नहीं है। यह ज्ञान ही अभय की प्राप्ति कराता है। गंगा को ज्ञानस्वरूपिणी ही माना गया है। 'त्रिभुवनजननी व्यापिनी ज्ञानगंगा' में गंगा का स्वरूप वर्णन करते हुए भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ज्ञान ही वास्तविक गंगा है। यद्यपि आगे भी नदी गंगा ही है तथापि गंगोत्री वह जल है जहाँ गंगा में अभी कोई दूसरी नदी नहीं मिली है। गंगोत्री से आगे चलते ही उसमें दूसरी धारायें मिलने लग गईं। इसी प्रकार अद्वितीयता का जो ज्ञान है वह हमेशा गंगोत्री के जल जैसा विशुद्ध ज्ञान है, उससे आगे चलोगे तो उसके अन्दर अन्य विषयों की धारायें मिलती जायेंगी। मन का ज्ञान, बुद्धि का ज्ञान, इन्द्रियों का ज्ञान, रूप रसादि का ज्ञान इत्यादि हैं तो सारे ही ज्ञान, लेकिन द्वैत को, नामरूप को लेकर जितने ज्ञान होते हैं वे सारे ज्ञान मिले हुए हैं, शुद्ध नहीं; उनके साथ नामरूप, अपनी इच्छा सब लिए हुए हैं। यह अद्वितीयता का ज्ञान ले जाकर रामेश्वर परमेश्वर को चढ़ाना है। रामेश्वर परमेश्वर का नाम है जहाँ इस गंगोत्री का जल चढ़ाना है।

उसका नाम ही इसलिये रामेश्वर रखा गया। गंगोत्री के जल

को सोमनाथ पर भी चढ़ा सकते हो, वह भी एक ज्योतिर्लिंग है। वैद्यनाथ, विश्वनाथ, महाकालेश्वर पर भी चढ़ा सकते हो, वे भी द्वाद्वश ज्योतिर्लिंगों में हैं। लेकिन रामेश्वर में ही चढ़ाने का विधान है। राम अर्थात् जो मन में रमण करे, जो मन का विषय है। 'हृदये रमते इति रामः' हृदय में रमण करने वाला जो राम है, हृदय में रहने वाला हमारे प्रेम का विषय जो वह परब्रह्म परमात्मतत्त्व परप्रेमास्पद है, वही ईश्वर है क्योंकि अंतर्यामी है, शासन करने वाला है और चूँकि हमारा अपना रूप वहाँ प्रकट है इसलिये अत्यंत रमणीय है, मन उसमें रमता है। उसे रामेश्वर पर चढ़ाना है। लेकिन वह रामेश्वर केवल एक हृदय में रमण नहीं कर रहा है इसलिये गधे के मन के अन्दर भी रमण करने वाला वही ईश्वर है। गधा किसको कहते हैं ? साधारण भाषा में मूर्ख को कहते हैं जैसे किसी को कहते हैं कि "तू तो पूरा गधा है" अर्थात बेवकूफ है, अज्ञानी है। गधा अज्ञानी है या नहीं यह हम नहीं कहते हैं लेकिन लौकिक भाषा में ऐसा माना जाता है। यह हम इसलिये कहते हैं कि कभी मिश्र देश के अन्दर गधे को बड़ा बुद्धिमान् माना जाता था। वहाँ किसी को कहो "तू गधा है" तो वह खुश हो जाता था। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न बातें रूढ हो जाती हैं। यहाँ गधा मायने अज्ञानी। यह जो गंगोत्री का जल है अर्थात् अद्वितीयता का ज्ञान है, वही अभयदान है जो अज्ञानी को दान करना है। लेकर तो अपने ही कंधे पर चलते हो अर्थात् ज्ञान तो हमारे अन्दर है, लेकिन जो अज्ञानी है उस अज्ञानी हृदय को ही तो उस ज्ञान के द्वारा अभयता देनी है। यदि अभयता तुम अज्ञानी को नहीं दे पाये अर्थात् उसके अन्दर तुम अद्वितीय भाव

को पैदा नहीं कर सके तो दान कहाँ किया ! अभयदान नहीं हुआ। इसीलिये शास्त्रों में अभयदान को बड़ी महिमा का दान बताया गया है। अभय से मनुष्य को नैष्कर्म्य सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। जितना-जितना यह अभयदान किया जायेगा उतना ही उतना नैष्कर्म्य दृढ होता चला जायेगा।

दूसरे के मन में तुम्हारे प्रति भय न हो इस भाव को पूर्णता तभी दे सकते हो जब तुम उसको विद्या का दान करो। विद्या से ही मनुष्य में अभयता आती है। जितना मनुष्य विद्याहीन होता है, अज्ञानी होता है उतना ही ज्यादा डरता है। जैसे साधारण व्यापारी जो पढ़े-लिखे नहीं होते उन्हें अफसर जो कह दे वह "हाँ जी" कर देते हैं। लेकिन जो स्वयं चार्टर्ड एकांउटेंसी पास किया हुआ है, हिसाब लिखने वाला स्वयं मालिक है, वह किसी से नहीं डरेगा, कहेगा "जो करना हो सो करो, मैं अपील में देख लूँगा।" दूसरा क्यों डरता है ? आबू जैसे गाँव में किसी दुकान पर एक अज्ञात व्यक्ति अपने को सेल्सटैक्स अफसर कहता हुआ आया कि अपना हिसाब दिखाओ। हिसाब देखकर इधर-उधर की कुछ कमियाँ बताईं। उसके साथ फाईल लेकर चलने वाले चपरासी ने भी इधर-उधर की कुछ बातें कीं। किसी ने दो सौ, किसी ने चार सौ रुपये निकालकर दे दिये। आबू जैसे छोटे-से बाजार में उसने दो हजार रुपये इकट्ठे कर लिये और चला गया। उसके महीने-बीस दिन बाद सच्चा अफसर आकर हिसाब दिखाने को कहने लगा तो उन लोगों ने कहा कि "हमारा सब हिसाब तो देखा गया है।" उसने कहा "इंस्पेक्टर तो मैं हूँ, कौन आकर देख गया ?" देखा तो उस पर झूठे दस्तखत किये हुए मिले क्योंकि

वह इंस्पेक्टर नहीं था। हमसे किसी ने कहा तो हमने कहा कि पहले उसका प्रमाण पत्र तो देखना चाहिये था क्योंकि उनके पास एक फोटो लगा पास होता है। कहने लगा, "हमें तो पता ही नहीं है।" इसी प्रकार अगर किसी के घर कोई पुलिस के कपड़े पहनकर पहुँच जाये तो बहुत से लोग पूछते भी नहीं कि "तू पुलिस का आदमी है भी या नहीं।" अज्ञानी को तो हमेशा ही भय होता है।

जितना-जितना तुम्हारा ज्ञान बढ़ेगा, जितनी-जितनी तुम्हारी विद्या बढ़ेगी उतनी ही उतनी तुम्हारे अंदर अभयता आयेगी। इसलिये अभयदान बहुत आवश्यक है और अभयदान देने के लिये उसका साधन विद्यादान है। जितनी मनुष्य को विद्या मिलती जायेगी उतना ही उसमें अभय आता जायेगा। इसीलिये अभयदान के बाद विद्यादान को श्रेष्ठ माना गया।

विद्या से प्राणियों की मुक्ति होगी। मुक्ति के दोनों तात्पर्य यहाँ ले लेना—अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके तो संसार से मुक्ति, वह तो परम मुक्ति है ही। लेकिन जितना-जितना विषय का ज्ञान तुमको होगा उतने-उतने बंधन से भी छूटते जाओगे। ब्रह्मज्ञान तो सारे ही बंधनों से छुड़ाने वाला ज्ञान होने से श्रेष्ठ है। लेकिन यदि स्वास्थ्य के विषय में तुम्हारे पास विद्या है तो तुम्हारी रोगविषयक मुक्ति हो ही गई। यदि तुमको सरकार के नियमों के विषय में ज्ञान है तो तुम्हारी सरकारी अफसरों से मुक्ति हो ही गई। जिस-जिस ज्ञान को प्राप्त करोगे उस-उस बंधन से तो मुक्त होते ही जाओगे। जितनी-जितनी मनुष्य को विद्या मिलेगी उतना ही उतना उसके अंदर उत्कर्ष आता जायेगा।

इसलिये उसे श्रेष्ठ बताया। उसके अन्दर भी जो विद्या जितनी ज्यादा निर्भय करने वाली होगी उस विद्या का दान भी उतना श्रेष्ठ माना जायेगा। जो अल्पविषयक विद्या होगी, वह अल्प भयों की निवृत्ति करेगी। जो ब्रह्मविषयक विद्या होगी वह समग्र बंधनों की निवृत्ति करके दुःखनिवृत्ति करने में समर्थ हो जायेगी। स्वयं इस विद्या का दान करे। वेदविद्या ही ऐसी है कि जो मनुष्य को अंत में ब्रह्मविद्या में ले जाती है। वेद को छोड़कर बाकी जितनी चीजें हैं वे कभी भी ब्रह्मज्ञान कराने में समर्थ नहीं हैं। श्रुति ने इसीलिये इसका नाम औपनिषद विद्या या औपनिषद पुरुष रखा है। ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान कराने वाली उपनिषद् विद्या ही है। 'तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं' वेदज्ञान के बिना उस व्यापक तत्त्व परब्रह्म का ज्ञान सम्भव नहीं है, हो ही नहीं सकता। अभय दान प्रधान और उसका मुख्य साधन होने से विद्यादान महान् है। विद्यादान भी ब्रह्मार्पण होना चाहिये। इस बुद्धि से नहीं कि "यह विद्यादान मैं कर रहा हूँ।"

किस बुद्धि से दान करे ? महाभारत में आया है–

'त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज।।'

वहाँ कई चीजों के त्याग का वर्णन किया, सबका त्याग बता कर अंत में कहा, 'येन त्यजसि तत् त्यज' अर्थात् जिसके द्वारा तुमने इनको छोड़ा उसे भी छोड़ो। आचार्यों ने इसके ऊपर विचार किया कि बाकी सब चीजों को तो हमने आत्मज्ञान के द्वारा छोड़ा। ब्रह्मज्ञान के द्वारा ब्रह्माकारवृत्ति की सहायता से ही तो यह सब छोड़ा गया, सारे संसार से मन को हटाने का साधन वही एक

है; कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि सब भाव ब्रह्मज्ञान से छोड़े। लेकिन आगे जिस ब्रह्मज्ञान के सहारे सब छोड़ा उस ब्रह्मज्ञान को कैसे छोड़ें? ब्रह्मज्ञान कोई ऐसी चीज तो है नहीं कि हाथ से पकड़कर दूसरी जगह फेंक दें ! यह तो अंतःकरण में रहने वाला धर्म है, इसे कैसे छोड़ें ? अंतःकरण में आया हुआ साधारण ज्ञान नहीं छूटता, साधारण-सी बात भी वहीं बैठी रहती है।

एक महात्मा के पास कोई व्यक्ति आया और बोला कि "मैं तो सब कुछ छोड़कर संन्यास लेकर भजन करना चाहता हूँ।" महात्मा ने उसे ऊपर से नीचे तक देखा कि वह क़भी सत्संग में नहीं आता और इसके बैठने के ढंग से भी पता चलता है कि यह कभी कहीं पूजा, सत्संग में नहीं जाता। व्यक्ति के बैठने से ही पता चल जाता है। इसलिये सम्भव है कि सवेरे औरत ने इसे गरम-गरम चाय नहीं पिलाई होगी तो इसे वैराग्य आ गया है ! लेकिन सीधे ही किसी को यह कहना ठीक नहीं। उससे कहा "बड़ा अच्छा है जो तुम्हारे मन में संकल्प आया, लेकिन संन्यासी होकर भजन करना पड़ता है।" कहने लगा, "जो कहोगे वह करूँगा।" उन्होंने कहा, "स्नान करके इस पेड़ के नीचे बैठकर ध्यान लगाओ। भगवान् का ध्यान करना 'सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणं' शंख चक्र गदा पद्म लिये हुए भगवान् खड़े हैं, पीताम्बर पहने हुए हैं, कमलनयन हैं—ऐसा ध्यान करना। और वह रास्ते में गधा खड़ा है, उसे याद नहीं करना।" वह जाकर बैठा और ध्यान करने लगा। पहले तो कभी उस मूर्ति का ध्यान किया नहीं था, मुश्किल से मूर्ति को सामने लावे तो मन कहे कि "गधे को याद करने के लिये मना क्यों किया," थोड़ा—सा सिर

हिलाकर कनखियों से देखे, "शायद इस गधे में कोई वैशिष्ट्य हो ?" लेकिन वह तो एक साधारण गधा ही था। फिर आँखें मींचकर ध्यान करे। आधे घंटे बाद उठकर आ गया। महात्मा ने कहा, "बहुत जल्दी आ गया। ध्यान जमा ?" कहने लगा, "आपने कहा था कि गधे का ध्यान नहीं करना, वही ध्यान आता रहा।" उन्होंने कहा कि "इसको तूने एक मिनट को देखा था, जब इसका ध्यान नहीं छोड़ सका तो तीस साल से जिस औरत के पास रहता है उसका ध्यान तेरे से छूटने वाला नहीं है। अब सच्ची बात बता कि क्या बात है, किस बात पर झगड़ा हुआ है?" उसने कहा, 'आज मैंने जब उससे कहा कि सवेरे समय पर नाश्ता क्यों नहीं दिया तो कहती है 'बुढ़ापे में भी तंग करता है, जन्मभर दुःख दिया और अभी भी देता है, अब तो बुड्ढा हो गया, छोड़ दे।' मैंने सोचा कि अब इस घर में नहीं रहना है।" महात्मा ने उसका नाम ठिकाना पता लगाकर उस मोहल्ले से सत्संग में आने वाली किसी औरत से कहा कि एक दिन उस व्यक्तिकी पत्नी को सत्संगमें लाना। जब वह आयी तब महात्मा ने समझाया "पति की सेवा किया कर, बुढ़ापे में भी करती रह, नहीं तो किसी दिन यह तेरे को छोड़ जायेगा। मेरे पास आ गया था; इसलिये सावधानी बरत।" वह कहने लगी "गुस्से में निकल गया क्योंकि हमेशा ही डाँटते रहते हैं।"

विचार करो : एक मिनट के लिये देखे हुए गधे को मन से नहीं हटा सके तो जो ब्रह्म का संस्कार, जिसके लिये अनेकानेक जन्मों तक साधनायें कीं, उसके बाद कहीं जाकर श्रवण-मनन करके परमात्मज्ञान हुआ, इतना जिसका संस्कार पड़ा है, उसे कैसे

छोड़ें? अतः आचार्य कहते हैं 'तत् शिष्यहृदये त्यजेद् इत्यर्थः' इसका इतना ही मतलब है कि उस प्राप्त ज्ञान को तुम शिष्य के हृदय में छोड़ते रहो। ज्ञान नहीं छोड़ना है, वरन् शिष्य, अज्ञानी के हृदय में वह बीज डालते रहना है। यह जो विद्या का दान है इससे अभयदान हो जाता है। उत्तम तो वह हुआ जो ब्रह्मविद्या का दान है। वह नहीं कर सको तो जितने भी वेद आदि विज्ञान हैं उनका दान भी ब्रह्मविद्या के साधक को देना चाहिये, वह सब उसी का अंग है।

प्रवचन—२६

पूर्व मंत्र में सृष्टि की प्रागवस्था का प्रतिपादन करने के बाद सृष्टिचक्र के अन्दर जो प्रधान कर्म है उसके स्वरूप का वर्णन किया। कर्मफलों को फलदृष्टि से दो भावों का—मृत्यु और अमृत रूप से बताया। वह कर्म चार प्रकार के चार सेतुओं को तरना है। उसमें प्रथम सेतु को तरना बताया कि अदान रूपी सेतु को दान से तरे। दान का स्वरूप बताया 'दानं ब्रह्मार्पणं यत् क्रियत इह नृभिः'। उसमें भी जीवात्मभाव का परमात्मभाव के अन्दर परित्याग एक, मन बुद्धि का परमात्मा में समर्पण दूसरा और अभयदान तीसरा बताया। अभयदान का स्वरूप बताते हुए उसके अंगरूप से विद्यादान बताया। उससे भी स्थूलतर दान अन्नदान, वस्त्रदान आदि सब तो स्वाभाविक रूप से ही प्राप्त हैं। इस प्रकार अदान को दान से जीते।

दूसरी बात कल्माष साम में प्रतिपादित की कि क्रोध को अक्रोध से जीते। क्रोध दूसरा सेतु है जो मनुष्य को उस अखण्ड परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने में रुकावट करता है—

'सेतूंस्तर दुस्तरान्। अक्रोधेन क्रोधम्।
पूर्वन्देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः।'

सामवेद कहता है कि क्रोध को अक्रोध से जीतो। क्रोध सब लोग जानते ही हैं, सबको अपना-अपना अनुभव है। मन के प्रतिकूल कार्य होने पर एक विलक्षण तीव्रता मन-बुद्धि-इन्द्रिय और शरीर तक में आ जाती है। मन में तीव्रता अर्थात् गर्मी आती है, सिर भन्ना उठता है, इन्द्रियों में तेजी आती है, आँखें लाल हो जाती हैं, जबान बड़े ज़ोर से बोलने लगती है और इतना ज़ोर लगाता है कि कई बार लड़खड़ा जाता है और जितना बोलना चाहता है उतना जबान ऐंठती है, नहीं बोल पाती। हाथ-पैर भी उठने लग जाते हैं। पेट के अन्दर तीव्र अम्ल बहने लग जाता है। खून के अन्दर से शक्कर निकलने लग जाती है। इसीलिये पेट के अनेक रोग, अल्सर, मधुमेह, रक्तचाप, हृदयरोग, किडनी के रोग इत्यादि कई प्रकार के रोग क्रोध करने वाले में उत्पन्न होने लग जाते हैं। यह सबको स्वानुभव-सिद्ध है।

प्रश्न है कि इस क्रोध को जीतें कैसे ? श्रुति तो कहती है कि अक्रोध से क्रोध-रूपी सेतु को जीतो। लेकिन कैसे जीतें ? श्रुति उपाय भी बताती है कि अक्रोध को किस प्रकार जीतें ? 'देवेभ्यः पूर्वम्' अर्थात् देवताओं से पूर्व में चला जाये। देवताओं का मतलब इन्द्रियाँ हैं। समष्टि जगत् का कार्य चलाने वाला परब्रह्म परमात्मतत्त्व अपने कार्य को देवताओं के माध्यम से सम्पन्न करता है। वर्षा कराने वाला तो वह परम महेश्वर है परन्तु इन्द्र के द्वारा कराता है। इसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त कराने वाला तो वह परम महेश्वर है लेकिन यमराज के द्वारा कराता है। बुद्धि प्रदान करने वाला वह परम महेश्वर है लेकिन गणेश के द्वारा कराता है। कराने वाला वह एक परमेश्वर ही है लेकिन तत्तद् देवताओं के द्वारा

कराता है। लोक में भी जिस प्रकार सारे कार्य कराने वाला राजा कोई काम प्रधानमंत्री से कराता है, कोई गृहमंत्री से कराता है, कोई काम अर्थमंत्री से, कोई रक्षामंत्री से कराता है, कराने वाला एक ही है, इसी प्रकार यद्यपि इस समग्र ब्रह्माण्ड को चलाने वाला महेश्वर तत्त्व सगुण ब्रह्म एक ही है लेकिन वह अपने कार्य को भिन्न-भिन्न देवताओं के माध्यम से निष्पन्न कराता है। इसी प्रकार इस शरीर संघात में जो कुछ होता है उस सबको कराने वाला जीवात्मा तो एक है लेकिन वह जीवात्मा इन्द्रिय और मन इत्यादि के द्वारा ही कराता है। इनके बिना कुछ नहीं कर सकते। देखने वाला जीवात्मा मैं, परन्तु आँख के द्वारा ही तो देख सकता हूँ। सुनने वाला मैं, लेकिन कान के द्वारा ही तो सुन सकता हूँ। गीता का पाठ करने वाला मैं, लेकिन जबान के द्वारा ही कर सकता हूँ। भगवान् शंकर का अभिषेक करने वाला मैं, लेकिन हाथ से ही तो कर सकता हूँ। विपरीत भी साथ ही साथ समझते जाना—किसी की निन्दा सुनने वाला भी मैं, लेकिन वह भी कान से ही सुनूँगा, किसी को गाली भी दोगे तो जबान से ही। शुभाशुभ दोनों कर्मों में वही नियम समझ लेना। जैसे समष्टि परब्रह्म परमात्मा समष्टि कार्य का संचालन देवताओं के द्वारा करता है वैसे ही शरीर-संघात का अधिपति जीवात्मा इन्द्रियों के द्वारा मन बुद्धि इत्यादि के द्वारा ही सब काम करता है। इसीलिये इनको देव शब्द से कहा।

इन्हें देव कहने का एक अन्य कारण भी है। देव का मतलब 'प्रकाश करने वाला' है। आँख, कान, नाक इत्यादि इन्द्रियों के द्वारा ही तो बाहर के पदार्थों का प्रकाश होता है। इन्द्रियों के द्वारा

जिसको यह प्रकाश दिया जाता है वह मन इन्द्रियों का भी प्रकाशक होने से देवों का भी देव कहा जाता है। उस मन का भी प्रकाश होने से साक्षी महादेव कहा जाता है अर्थात् देवाधिदेव महादेव कहा जाता है। विषयों की प्रकाशक होने से इन्द्रियों को देव कहते हैं।

अब विचार करो कि क्रोध का केन्द्र कहाँ से प्रारम्भ होगा? बाह्य पदार्थों से ही होगा। बाहर कोई चीज तुम्हारे मन के प्रतिकूल, मन के विरुद्ध होगी तभी तो क्रोध पैदा होगा। इसलिये लोग कहते हैं कि "मुझे बिना बात के क्रोध नहीं आता है, बच्चे काम ही ऐसा करते हैं जिससे क्रोध आता है।" बिना बात के क्रोध पागल को आया करता है ! बात होने पर ही क्रोध आयेगा। इन्द्रियाँ जब किसी चीज को प्रकाशित करेंगी जो मन के विरुद्ध होगी तभी क्रोध आयेगा। यदि इन्द्रियाँ उसको प्रकाशित ही नहीं करेंगी तो क्रोध कहाँ से आयेगा ? कहोगे "कभी बैठे-बैठे मन में क्रोध आता है," वह भी पहले किसी चीज को देखा हुआ है, उसकी याद आने से आता है। "अमुक समय इस व्यक्ति ने अमुक काम गलत किया था।" उसकी याद आयेगी तभी क्रोध आयेगा। कुछ लोग कह देते हैं कि "इस व्यक्ति का स्वभाव क्रोध करने का है।" एक आदमी के बारे में उसकी पत्नी ही कहती थी कि "यह बहुत गुस्सैल हैं, इनका स्वभाव ही क्रोध का है।" जो शिकायत कर रही थी उससे हमने कहा कि "कभी उसे हमारे पास ले आओ।" वह कभी नहीं आता था। फिर भी किसी तरह से वह बेचारी उसको एक बार ले आई। हमने उससे कहा कि "तुम्हारी बड़ी प्रसिद्धि सुनी है कि तुम बड़े गुस्सैल हो।" वह कहने लगा, "मेरा स्वभाव

ही गुस्से का पड़ गया है।" पत्नी के कहते-कहते उसे भी जँच गया कि "मेरा स्वभाव गुस्सैल है।" हमने कहा, "अच्छी बात है। ज़रा अपने स्वभाव का प्रदर्शन करो, कभी देखा नहीं है, देखना चाहते हैं, क्योंकि तुम्हारे पास नया माल है, दिखाओ।" वह हँसने लगा। हमने कहा, "हम सच्ची बात कहते हैं, दिखाओ।" कहने लगा, 'ऐसे थोड़े ही गुस्सा आया करता है।' तब हमने कहा 'इसका मतलब है कि यह तुम्हारा *स्वभाव* नहीं है। जैसे तुम्हारा स्वभाव देखने का है, चाहो न चाहो, आँख देखती रहेगी। तुम्हारा स्वभाव सोचने का है, चाहो न चाहो मन सोचता रहेगा। जो जिस पदार्थ का स्वभाव होता है वह बिना कारण के उसमें रहता है। ऐसे ही यदि तुम्हारा स्वभाव गुस्सैल हो तो दिखाओ। और नहीं दिखा सकते तो आज से यह अभिमान छोड़ दो कि 'मेरा गुस्से का स्वभाव है।' स्वभाव तो तुम्हारा शांत है किसी कारण से क्रोध आता है।' कहने लगा 'यह बात तो ठीक है लेकिन पत्नी नहीं मानती।'

स्वभाव शांत है, कारण से क्रोध आता है। वही कार्य एक आदमी करता है तो तुम्हें क्रोध नहीं आता और दूसरा करता है तो क्रोध आ जाता है। जैसे जो बात हमने उससे कही थी, अगर यही बात उसकी पत्नी कहती तो उसे बड़ा गुस्सा आ गया होता। अगर पत्नी कहती कि "ज़रा गुस्सा दिखाओ" तो यह सोचकर कि यह "मेरे चरित्र पर आक्षेप कर रही है" सुनते ही उसे गुस्सा आ जाता। लेकिन हमारे कहने से गुस्सा नहीं आया। इसका मतलब है कि कारण उपस्थित होने पर भी कभी गुस्सा आता है कभी नहीं आता। कपड़े की दुकान हो, किसी ग्राहक को बढ़िया

माल दिखा रहे हो, गंवार ग्राहक कहता है कि "यह कपड़ा अच्छा नहीं, ज़रा अच्छी किस्म का दिखाओ।" समझ लेते हो कि "इसने नया-नया पैसा कमाया है, ज़रा चम-चम वाला माल दिखाओ, इसे जँच जायेगा।" चमकता हुआ माल दिखा दोगे, बेच दोगे, दाम ज्यादा ले लोगे, लेकिन गुस्सा नहीं आयेगा। दूसरी तरफ, बढ़िया कपड़ा लेकर घर आओ, पत्नी से कहो, "तेरे लिये बढ़िया साड़ी लाया हूँ।" वह देखकर कह दे "लाये तो ज़रा बढ़िया ही लानी थी," तो तुम्हें तुरन्त क्रोध आ जायेगा, "तुझे मुझ पर इतना विश्वास नहीं ? मैं लाखों का कपड़ा बेचता हूँ, क्या मुझे कपड़ों की परीक्षा नहीं है ?" एक ही बात कहने पर, एक ही कारण के उपस्थित होने पर कहीं क्रोध आता है और कहीं नहीं आता। पहली बात है कि तुम्हारा स्वभाव क्रोध का नहीं, किसी कारण से क्रोध आता है। दूसरी बात है कि बाह्य कारण वैसा ही हो लेकिन यदि तुम्हारे अन्दर भावना का भेद है तो वह चीज कहीं क्रोध पैदा करती है, कहीं नहीं करती।

एक कदम आगे चलो। बाह्य जगत् बनाने वाला मैं नहीं और इसको चलाने वाला मैं नहीं। बाह्य संसार अपना बनाया हुआ नहीं है। जितना इस बाह्य संसार को तुम बनाने जाते हो उतने ही दुःखी होते हो। कोई बच्चों के सुधार में दुःखी हो रहा है, कोई पति के सुधार में, कोई भाई के सुधार में दुःखी हो रहा है, कोई अपने साझीदार के सुधार में दुःखी हो रहा है। न साझीदार तुम्हारा बनाया हुआ है और न पति तुम्हारा बनाया हुआ है। ये तो सब तुम्हें परमेश्वर ने बने-बनाये दे दिये। जिस पुत्र को तुम समझते हो कि 'मैंने पैदा किया' वह पुत्र भी तुम्हारे साथ सम्बन्ध होने के

पहले अनादि काल से अनंत जन्मों के संस्कारों की गठरी लेकर आया हुआ है। हमने एक बार एक आदमी को किसी कार्य के लिये नौकर रखा। उसे दो सौ रुपया महीना देते थे। तब भी बेचारे के पास कुछ नहीं बचता था। फिर ढाई सौ, तीन सौ और अंत में चार सौ कर दिये, फिर भी कुछ नहीं बचता था। आखिर उससे पता लगाया कि बात क्या है। कहने लगा कि 'नौकरी मिलने से पहले बीस साल से कर्जा लेकर लड़कियों का ब्याह किया, कर्जा ही लेकर मकान बना लिया है, इस प्रकार सारा काम कर्जे से ही किया है। अब चाहे चार सौ दो चाहे पाँच सौ दो, उसमें तो कर्जे का ब्याज ही पूरा नहीं होता।' जिस दिन उसे रखा उससे पहले जो हजारों के कर्जे कर आया है, उससे कैसे मुक्त कर सकते हो? सोचते तो यह हो कि मेरे यहाँ काम कर रहा है तो यह सुखी होना चाहिये, अच्छी तरह रहना चाहिये, अच्छे कपड़े पहने, लेकिन पहले जो पच्चीस साल का कर्जा कर आया है उसका क्या बनेगा? तुम्हारा नौकर रहते तो उसने नहीं किया। इसी प्रकार जो तुम्हारे घर में पैदा हुआ है वह अनादि काल से अनंत जन्मों से अपने पुण्य-पापों की गठरी का हिसाब लेकर आया है। तुम उसे कितनी भी अच्छी शिक्षा, अच्छा वातावरण दो, लेकिन वह जो कर्जा लेकर आया है उसका क्या करोगे ? क्या वह तुम्हारे बदलने से बदलेगा? विपरीत अर्थ नहीं समझ लेना; यह नहीं कह रहे हैं कि किसी को सत् शिक्षा, सदाचरण सिखाओ नहीं, वह तो स्वाभाविक रूप से करना ही चाहिये, लेकिन उसके न बदलने से जो मन में दुःख और क्रोध की प्राप्ति होती है वह नहीं होनी चाहिये। बाहर के कारणों को *बदल* नहीं सकते। प्रायः लोग किया यह करते हैं कि

बाह्य कारणों के विचार में फँस जाते हैं और कहते हैं 'तुम अपना स्वभाव बदलो, तुम थोड़ा बदल जाओ।' विवेकी जानता है कि दूसरे को बदलना मेरे हाथ में नहीं है। जिस दिन वह स्वयं को बदलने का निश्चय करेगा उसी दिन बदलेगा। क्रोध के दो कारण, एक बाह्य और दूसरा कारण मेरे अन्दर है।

यह इस पर निर्भर करता है कि किस तरफ से मैं समझता हूँ। बाहर के कारणों को बदलना मेरे हाथ में नहीं है लेकिन अन्दर के कारण को बदलना मेरे हाथ में है, इसको कौन रोक सकता है ! एक आदमी कभी गुस्सा नहीं करता था। कुछ लोग चाहते थे कि उसे किसी तरह गुस्सा आये। किसी ने कहा कि 'इसे गुस्सा कभी नहीं आएगा, यह बड़ा शांत है।' एक ने कहा कि 'मैं इसे गुस्सा दिलाऊँगा और अगर नहीं दिला सका तो मैं तुम्हें एक हजार रुपया दूँगा नहीं तो तुम मुझे हजार रुपया देना।' लोगों ने मान लिया। उसने जाकर उस आदमी के नौकर के साथ दोस्ती गाँठी। थोड़े दिन तक उस नौकर को खिलाया-पिलाया। जब उसके साथ कुछ प्रेम हो गया तो उससे कहने लगा, "यह बता, कौन-सी ऐसी चीज है जो तेरे मालिक को सबसे ज्यादा प्रतिकूल पड़ती है, खाने-पीने, ओढ़ने में कौन-सी ऐसी चीज है ?" उसने कहा, "मेरा मालिक तो बड़ा सीधा है, कुछ भी खाने को दो खा लेता है। दाल में नमक ज्यादा पड़े तो दाल थोड़ी और भात ज्यादा डालकर खा लेता है। उसकी प्रकृति बड़ी शांत है।" उसने कहा, "फिर भी कुछ तो होगा ?" वह बोला, "वैसे तो कोई बात नहीं, हाँ इतना जरूर है कि यदि उसके बिस्तर में सलवटें होती हैं तो उन्हें अच्छी नहीं लगती।" जो रात-दिन सेवा करेगा उसे पता रहेगा ही। उसने

कहा, "यह एक गिन्नी ले और आज से ही उनके बिस्तर में सिलवट छोड़ना शुरू कर दे।" तब तेरह-चौदह रुपये की गिन्नी आती थी, उसने सोचा कि हजार मिलेगा, इतना जाने दो। नौकर ने रात में मालिक के बिस्तर में सिलवट छोड़ दी। दूसरे दिन मालिक ने कहा, 'तूने रात बिस्तर पर ध्यान नहीं दिया, उस पर सलवट छूट गई थी।' दूसरे दिन वह आकर सोया तो बिस्तर पर दो सलवटें, अगले दिन फिर कहा, "तू ध्यान नहीं देता, ऐसा करेगा तो कैसे चलेगा ? तेरे पास कोई ज्यादा काम भी नहीं है, ठीक से काम किया कर।" तीसरे दिन सोया तो चार सिलवटें पड़ी हुई थीं, क्योंकि नौकर को तो गिन्नी मिली हुई थी। उसके बाद मालिक ने कुछ नहीं कहा। अब पाँच छः दिन हो गये और मालिक ने कुछ नहीं कहा तो नौकर ने ही उससे कहा, "आजकल आपका बिस्तरा तो ठीक रहता है ?" उसे छेड़ने के लिये ही ऐसा पूछा क्योंकि उससे वह पूछा करता था, "तेरे मालिक को गुस्सा आया या नहीं ?" जब नौकर ने छेड़ा तो उसने कहा, "बिस्तरा तो ठीक है, सलवट छोड़ने की तेरी आदत जायेगी नहीं तो मैंने सलवट पर सोने की ही आदत डाल ली है। मैंने ही अपनी आदत छोड़ दी।" नौकर ने जाकर उनसे कह दिया, "आपकी तो गिन्नी भी गई और हजार भी गये ! जो आपने कहा सो मैंने कर दिया लेकिन उन्हें क्रोध नहीं आया।"

क्रोध को अक्रोध से जीतने का यही रहस्य है—बाह्य जगत् को परिवर्तित करना अपने हाथ में नहीं है लेकिन आन्तर जगत् को परिवर्तित करना अपने हाथ में है। इसलिये श्रुति ने कहा कि मन और चक्षु इत्यादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के पहले अमृत अर्थात्

क्रोध को जीतने की नाभि परब्रह्म परमात्मा है। चक्के के अरों को नाभि धारण करती है। चक्के के बीच में नाभि होती है, नाभि को पकड़ने वाली ताड़ियाँ होती हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय आदि की सभी वृत्तियों को धारण करने वाली बुद्धि या विज्ञानमय कोश है और बुद्धि के द्वारा ही सारी इन्द्रियाँ चलाई भी जाती हैं। इसलिये इसे नाभि कहा। शरीरचक्र का सारा केन्द्र नाभि है। यदि मनुष्य की नाभि ठीक काम करती है तो खाया-पीया हजम भी ठीक होगा, रक्त में संचार भी ठीक रहेगा, शरीर की पुष्टि भी बनी रहेगी। नाभि अपने स्थान से थोड़ी भी आधा-पौन इंच इधर-उधर हो जाये तो खाया-पीया तुरंत निकल जायेगा, धारण नहीं कर सकते। जब खाया पीया धारण ही नहीं होगा तो आगे उससे रक्त आदि क्या बनना है ? जैसे शरीरचक्र का मूल केन्द्र ही नाभि है इसी प्रकार बुद्धिरूप नाभि को जो सम्भाल लेता है वह क्रोध को जीत लेता है अन्यथा नहीं। क्रोध को अक्रोध से ही जीता जायेगा, क्रोध के द्वारा नहीं जीता जा सकता, उससे तो क्रोध बढ़ता ही है।

एक बार भगवान् कृष्ण, सात्यकि और अर्जुन तीनों ही कहीं यात्रा में जा रहे थे। रास्ते में एक जगह उन्हें जंगल में ही रात में टिक जाना पड़ा। घोर जंगल था। चारों तरफ हिंस्र जंतु भी थे। भगवान् ने कहा, "यहाँ अपने तीनों सो जायें तो ठीक नहीं, बारी-बारी से जागें-सोयें तो ठीक रहेगा, नहीं तो खतरे का मामला है।" उन्होंने घण्टे बाँट लिये। छः ही घंटे मनुष्य सोता है, नौ बजे सोये तो तीन बजे उठ जाता है। इसलिये उन्होंने दो-दो घण्टे की ड्यूटी संभाल ली। यह निर्णय हुआ कि सबसे छोटा सात्यकि है पहले वह जगे, फिर अर्जुन और अंत में भगवान् जगें। भगवान्

और अर्जुन तो सो गये, सोने के साथ ही दोनों बिल्कुल गहरी नींद में चले गये। सात्यकि ने तब तक सोचा कि, "मैं पेड़ की डाली पर बैठ जाऊँ ताकि कोई भी कहीं से हिंस्र पशु आये तो दिखाई दे जाये।" वह वहाँ जाकर बैठ गया। थोड़ी देर हुई तो एक बौना-सा व्यक्ति आया, उससे कहना लगा, "तू यहाँ बैठा क्या कर रहा है ? मैं तुझे खा जाऊँगा।" सात्यकि हँस पड़ा, सात्यकि महावीर और वह बौना। सात्यकि ने कहा, "अबे ! जा-जा, कहाँ से इस जंगल में आ गया।" उसने कहा, "मुख सम्भाल कर बात करना, मुझे अबे-तबे नहीं कहो।" सात्यकि को और गुस्सा आया, कहा, "जानता है मैं सात्यकि हूँ, तुझे बे-बा नहीं करूँ तो जी-जी करूँ ?" बौने ने कहा, 'फिर दो-दो हाथ हो जायें, ज़रा पता लगे कि तेरी कैसी ताकत है।' सात्यकि झट नीचे उतर आया और उसे बड़े ज़ोर का घूँसा मारा। बेचारा बौना था ही गिर गया। सात्यकि ने मन में सोचा कि कहीं मर न गया हो, यह सोच ही रहा था कि बौना फिर खड़ा हो गया, वह पहले से भी तगड़ा था। सात्यकि ने सोचा कि, "यह मेरे मुक्के को भी सहन कर गया।" अब उसने सत्यकि को मुक्का मारा। दोनों में युद्ध होने लगा। जितना युद्ध होता जाये सात्यकि कमज़ोर पड़ता जाये। और बौना तगड़ा और लम्बा-चौड़ा होता जाये। धीरे-धीरे वह बौना पेड़ जैसा बड़ा हो गया। सात्यकि की छाती बैठने लगी कि, "यह तो तगड़ा होता जाता है और मैं थकता जा रहा हूँ।" तब तक सप्तऋषि मण्डल की तरफ नजर डाली तो उसके दो घण्टे का काल पूरा हो चुका था। घड़ियाँ तो अब चली हैं, पहले तो सप्तऋषि को देखकर ही ज्ञान हो जाता था कि कितना बजा है।

झट भागकर आया और जल्दी-जल्दी अर्जुन को जगाया, 'गुरु जी उठो !' अर्जुन को सात्यकि ने बताया "आपकी ड्यूटी का समय हो गया है।"

अर्जुन हड़बड़ाकर उठे। कहा, "क्यों हल्ला मचा रहा है ? क्या बात है ? बड़ा घबराया हुआ है।" सात्यकि ने कहा, "मैं तो सोने जा रहा हूँ, आगे आपको खुद ही पता लग जायेगा।" अर्जुन ने इधर-उधर देखा तो कुछ नजर नहीं आया। सोचा कुछ देख लिया होगा, शेर आदि निकला होगा तो इसे डर लग गया होगा। अर्जुन भी जाकर बैठ गया। थोड़ी देर में वह बौना फिर आया। अर्जुन ने पूछा, "तू कौन है ?" उसने कहा, "अभी आपको उसने बताया नहीं जो पहले ड्यूटी दे रहा था ?" अर्जुन ने कहा, "वह कुछ भूत आदि से डरा हुआ, घबराया हुआ-सा बोल रहा था।" बौना बोला, "मुझसे ही डरा था।" अर्जुन ने ध्यान से देखा, बोला कि "तूने उसे तंग क्यों किया ?" उस बौने ने कहा, "उसकी बात जाने दो, तुम्हारे साथ भी दो-दो हाथ हो जायें।" अर्जुन ने कहा, "मेरा नाम नहीं सुन रखा है ? दूर से ही लोग मेरे नाम से डर जाते हैं, मुझे तू लड़ाई के लिये बुला रहा है !" वह बोला, "हाँ-हाँ, तू अर्जुन है, जानता हूँ, हिम्मत हो तो आकर युद्ध कर, नहीं तो इस पेड़ को छोड़ दे क्योंकि इस पेड़ की मिल्कियत मेरी है, इसके नीचे तुम लोग रात में क्यों बैठे हो ?" अर्जुन ने कहा, "जानता है हमारे साथ भगवान् हैं जिनका यह सारा संसार है, वही इसके मालिक हैं। तुम्हारी मिल्कियत इस पेड़ पर कैसे आ गई।" यह कहते-कहते अर्जुन नीचे उतर आया, उससे कहा, "सीधा चला जा। काहे के लिये भिड़ता है, मर-मरा जायेगा। बिना

मतलब में हत्या लगेगी।" तब तक तो आकर उसने अर्जुन को मारना शुरू कर दिया। अर्जुन को भी गुस्सा आ गया, उसने भी मारना शुरू कर दिया। दोनों में खूब युद्ध होता रहा। अर्जुन ने सब कुछ किया, गाण्डीव भी मारा लेकिन बौने को कुछ नहीं हुआ। जितना युद्ध होता जाये वह बौना तगड़ा होता जाये और अर्जुन कमजोर पड़ता जाये, थकता जाये। अर्जुन ने सोचा, 'बड़ी विचित्र परिस्थिति है, इसको कैसे मारें ? यह फिर तगड़ा हो जाता है, फिर सामने आता जाता है।" अंत में अर्जुन इस स्थिति में आ गया कि कहीं इसके सामने आज हारना न पड़े। तब तक उसने भी सप्तऋषि मण्डल की तरफ देखा, समय हो गया था, सोचा, 'चलो अपना काम तो बना।' भड़भड़ा कर भगवान् से कहा, 'उठिये भगवन्!'

भगवान् उठकर कहने लगे, 'इतना भभ्भड़ क्यों मचा रहा है, इतनी जल्दी क्या बात हो गई ?' अर्जुन ने कहा, "महाराज! क्या बताऊँ कुछ दैवी माया या भूत-प्रेत लगता है।" भगवान् ने कहा, "क्या बचपना है तेरा ! जा सो जा, सपना देखता है।" सवेरे का समय हुआ। भगवान् ने दोनों को उठाया, "संध्यावंदन का समय है, उठकर स्नान करो।" दोनों उठे। उठकर भगवान् से पूछा, "आपका समय कैसा बीता ?" भगवान् ने कहा, "बड़े आराम से बीत गया, कुछ नहीं हुआ।" सात्यकि और अर्जुन दोनों एक दूसरे की तरफ इशारा करने लगे कि भगवान् कैसे बन रहे हैं ? जिसने हमें इतना परेशान किया, उसने इन्हें छोड़ा थोड़े ही होगा! दोनों ने स्नान-ध्यान, भजन-पूजन किया। सवेरे ही चलने का समय हो गया। तीनों चल दिये। दोनों ने सोचा कि भगवान् कुछ बोलें

लेकिन वहाँ तो कुछ बोलना ही नहीं था। कहने लगे, "भगवन्! रात्रि में आपके पास कोई भूत-प्रेत नहीं आया ?" भगवान् कहने लगे, "भूत-प्रेत कुछ हो तो हमारे पास आये।" अर्जुन ने कहा, "भगवन् ! सच्ची बात बताइये। यह तो ठीक है कि आपकी हर बात में झूठ बोलने की आदत है ! यहाँ भी बोल रहे हो। पर क्या-क्या हुआ, सच्ची बात सुनाओ।" भगवान् ने कहा, "तुम्हारे साथ क्या हुआ था ?" अर्जुन बोलते इसके पहले सात्यकि ने कहा, "एक बौना आया था, मुझे तो उसने भूमि दिखा दी। अगर कहीं दो की जगह तीन घंटे की ड्यूटी होती तो मैं आपको मरा ही मिलता। वह तो उसी समय काम हो गया।" अर्जुन ने भी कहा, "मैंने सारे शस्त्र मार दिये लेकिन कुछ नहीं हुआ। विशेषता उसकी यह कि और तगड़ा होता जाये। जितना भी हम मार मारें वह बढ़ता जाये। अब आप भी सच्ची बात बताओ कि क्या हुआ।" भगवान् ने कहा, " कुछ नहीं हुआ, वह तो गरीब बौना था। तुम लोग उससे लड़ना नहीं जानते थे। मेरे पास भी आया था और लड़ने को कहा। मैंने कहा कि, "मैं क्यों लड़ूँ ? तू लड़।" वह बौना और ज्यादा बौना हो गया। मुझे गाली देने लगा। मैं हँसने लगा। बौना कहने लगा, "बड़ा भगवान् बनता है। तुझे इतनी गालियाँ दीं तुझमें दम नहीं है।" मैंने कहा, "तेरे में गालियाँ देने का दम है तो तू ही दिया कर।" इसी प्रकार बक-बक करता गया, छोटा होता गया। अंत में अंगूठे जितना रह गया। मैंने सोचा कि यह गरीब मर जायेगा। मैं भूमि पर आया हुआ हूँ, इसलिये मेरे कारण कोई मर जाये, यह ठीक नहीं। मैंने उसे बांध दिया।"

दोनों हँसे और कहने लगे, "कहानी भी सुनाया करो तो कोई

जँचने वाली सुनाया करो।" भगवान् ने कहा, "नहीं मानते तो यह देखो"—उन्होंने अपनी चद्दर का पल्ला खोला तो वही बौना नीचे गिर गया। उसका चेहरा देखते ही दोनों ने पहचान लिया क्योंकि दो-दो घंटे लड़ चुके थे। कहने लगे, "भगवन् आपकी माया आप ही जान सकते हैं, हमारी समझ की बात नहीं, आखिर किस्सा क्या है ?" भगवान् ने कहा कि मन में जो क्रोध हिंसा आदि भाव हुआ करते हैं वही यह बौना है। यह अपना ही क्रोध वाला, हिंसा वाला भाव है, और कुछ नहीं है। जितना इस क्रोध पर तुम क्रोध करोगे उतना तो यह बढ़ेगा। जितना क्रोध को शांत करने के लिये क्रोध का प्रयोग करोगे, हिंसा को शांत करने के लिये हिंसा का प्रयोग करोगे उतना ही ये भाव बढ़ेंगे। मैं इसकी प्रकृति जानता था। यह क्रोध करे और मैं क्रोध न करूँ तो ठंडा पड़ जाता है। कभी भी प्रयोग करके देख लो। घर में कभी पति नाराज हो तो हँस दो और उसे जो सबसे बढ़िया पकोड़ा लगता हो वह पकोड़ा और चाय बनाकर ले आओ। यदि उस पकोड़े को लेकर वह प्लेट को नीचे फेंके तो झट कहना कि "कहीं चोट तो नहीं लगी ? अभी दूसरी लेकर आती हूँ। मैंने तस्तरी की ओर ध्यान नहीं दिया। फिसलन थी इसलिये आपके हाथ से गिर गई होगी।" बस थोड़ी ही देर में उस बेचारे का क्रोध रफूचक्कर हो जायेगा। दूसरी ओर, उसने आकर कोई क्रोध की बात कही और तुमने कहा, "मैं तो सवेरे से अपनी कमर तोड़े रखती हूँ और तुम हो कि आते ही सिर पर सवार" तो सात्यकि और अर्जुन वाला हाल हो जायेगा। भगवान् ने कहा कि मैं तो इस क्रोध के, हिंसा के स्वरूप को समझता हूँ। इसको शांत करने का उपाय अक्रोध ही है। यह बात

जिस दिन समझ ली जायेगी उस दिन राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्र, देश, व्यक्ति सबके जीवन में परिवर्तन आ जायेगा। भयंकर से भयंकर समूह तुम्हारे साथ झगड़ा करने आये तो तुम एक बार निकलकर बाहर आओ तो सही। उनसे कहो कि जो बात करनी हो कर लो, मैं आ गया हूँ। क्या बात है, जो बात करनी हो करो। सौ में से निन्यानबे प्रतिशत तो समझ लो कि कुछ होगा ही नहीं। हो सकता है कुछ गुण्डे इसीलिये शिक्षित करके शराब पिलाकर भेजे गये हों। हो सकता है उस समय तुम्हें डंडा भी मार दें। लेकिन तुम शांति से जाकर उनसे बात करो और यदि उन गुंडों में से दो-चार ने तुम्हें डंडे मार दिये तो उस भीड़ भर में दस पाँच को छोड़कर बाकी सब तुम्हारी रक्षा को खड़े हो जायेंगे। यही इसका उपाय है। क्रोध का उपाय क्रोध नहीं है।

हमारे यहाँ जो सबसे बड़ी गलती हुई है, भारतवर्ष के अन्दर जितना हमने दूसरों को अहिंसा का, अक्रोध का पाठ पढ़ाया उतना ही हमने अपने घर में क्रोध और हिंसा को बढ़ाया। दूसरा देश आक्रमण करके हमारी जमीन हड़प कर गया, फौज को मार भी गया। उनको तो हमने क्षमा कर दिया। लेकिन अपने यहाँ की पुलिस की संख्या अंग्रेजों के बाद से बढ़ती ही गई। क्या कारण था ? हृदय के अन्दर वह भावना नहीं थी। जैसा यह देश के स्तर पर होती है वैसा ही घरों में होता है। मनुष्य बाहर जितनी शांति का व्यवहार करता है घर में आकर पत्नी के साथ, बच्चों के साथ उतना ही उसका व्यवहार कठोर हो जाता है। जिस व्यक्ति के बारे में बाह्य जगत् में जितनी प्रशंसा होती है कि "यह शांत वृत्ति का है" उनके घरवालों से पूछो तो पता लगता है कि घर में वह

उतना ही गरम मिजाज का होता है। जैसा वैयक्तिक जीवन में वैसा ही राष्ट्र के जीवन में है। जितना बाहर के लोगों के साथ शांत बने रहे उतना ही अंदर के लोगों के साथ अधिक से अधिक क्रोध को बढ़ाते चले गये। नतीजा ? जितनी हिंसा राजा की तरफ से बढ़ी उतनी ही हिंसा और क्रोध प्रजा की तरफ से बढ़ा। आज इस स्थिति के कारण क्रोध पूर्ण रूप से एक-दूसरे के सामने आया हुआ है।

श्रुति कहती है कि इसको कब जीत सकते हो ? जब 'पूर्व देवेभ्यः अमृतस्य नाभिः' इन्द्रियों की प्रवृत्ति के पूर्व जो अमृत की नाभि बुद्धि तत्त्व है उसे ठीक करो। बुद्धि का काम निश्चय करना है। निश्चय ठीक हो गया तो क्रोध हट जायेगा। पहला निश्चय कि क्रोध से क्रोध का शमन नहीं, क्रोध का शमन अक्रोध से। इस निश्चय का घातक संशय यह है कि दबते-दबते कहीं सामने वाला खतम न कर दे। इस संशय को बुद्धि से विचारपूर्वक निकालना पड़ेगा। दूसरी चीज जो इस संशय को निकालने में सहायक होगी वह यह कि निश्चय करना पड़ेगा कि सुख-दुःख, लाभ-हानि करने वाला सिवाय हमारे अपने कर्मों के और कोई नहीं है। न हमारी हानि कोई कर सकता है और न लाभ कोई कर सकता है। जैसा मीरा ने किसी समय कहा था, ''सारी दुनिया क्रोध कर लेगी तो मेरा कर क्या लेगी ? शरीर ही तो हमारा राज्य है। राणा जी इस शरीर के टुकड़े कर लेंगे। लेकिन यदि उस परमात्म तत्त्व के प्रति हमारी भावना नहीं रही तो फिर न यहाँ और न आगे कहीं शांति हो सकती है। सुख-दुःख, लाभ-हानि की प्राप्ति केवल प्रारब्धाधीन है। जितना यह निश्चय होगा उतनी

ही यह अमृत की नाभि बनेगी। जितना हम सोचते हैं कि बाह्य व्यवहारों का परिवर्तन हम बाह्य तरीके से कर सकते हैं, उतनी ही हमारी बुद्धि अमृत की नहीं मृत्यु की नाभि बनेगी। इसी गलत निश्चय के कारण ही हम जन्म-मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं। है तो यह अमृत की नाभि अर्थात् ठीक निश्चय अमृत दिलाने वाला है, दुःख और मृत्यु के चक्र से छुड़ाने वाला है लेकिन वही निश्चय जब गलत हो जाता है तो मृत्यु की नाभि बन जाता है। अक्रोध से क्रोध को जीता जाये इसका उपाय है कि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के पहले देखने का प्रयत्न करो। 'सामने हमें कोई चीज़ बुरी नजर आयेगी तब हम क्रोध नहीं करेंगे' ऐसा सोचने वाला व्यक्ति कभी क्रोध को नहीं जीत सकता। इसलिये श्रुति ने कहा कि इन्द्रियाँ किसी चीज़ को देखेंगी तब उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता आयेगी, उसके पहले बुद्धि को यह निश्चय कर लेना है कि "इन्द्रियों की जो अनुकूलता-प्रतिकूलता नज़र आयेगी, वह कोई दूसरा देने वाला नहीं है वरन् मेरा अपना ही कर्म सामने आने वाला है।" अभ्यास करते-करते जीवन के हर क्षण में यह निश्चय होता जायेगा, किसी चीज़ को देखने के पहले ही यह निश्चय मन में रहेगा कि 'अब जो सामने आने वाला है वह मेरा कर्म है।' इस निश्चय वाले का क्रोध नष्ट हो जाता है क्योंकि यह क्रोध ही सच्चिदानंद अखण्ड समुद्र के अन्दर सेतु या रुकावट है, इसको जीतने का उपाय यहाँ श्रुति ने बता दिया। कल्माषसाम के आधार पर ही अन्य सेतुओं का विचार आगे करेंगे।

प्रवचन—२७

श्रुति बता रही है कि किन साधनों से मनुष्य अमृत तत्त्व को प्राप्त करता है। इनमें से कल्माषसाम के आधार पर पहला साधन दान और दूसरा साधन अक्रोध को बताया। जब अक्रोध से क्रोध को जीत लिया तब आगे सामवेद कहता है—

'सेतूंस्तर दुस्तरान्। श्रद्धया अश्रद्धाम्। यो मा ददाति स इद् एवम् आवाः'।

तीसरी बात बताई कि श्रद्धा के द्वारा अश्रद्धा को जीते। अत्यंत कठिनता से जो बाँध समाप्त किये जाते हैं उनमें से तीसरा है अश्रद्धा। श्रद्धा के द्वारा ही अश्रद्धा के सेतु को पार किया जाता है। श्रद्धा दैवी गुणों में, श्रेष्ठ गुणों में गिनी गई है। अन्यत्र यजुर्वेद बताता है 'श्रद्धा देवान् अधिवसते' श्रद्धा कहाँ रहती है ? देवताओं के अन्दर रहती है अर्थात् दैवी सम्पत्ति वाले पुरुषों के अन्दर ही श्रद्धा का निवास बनता है। प्रायः श्रद्धा और विश्वास में भेद नहीं किया जाता वरन् बहुत से लोग तो अंधविश्वास और श्रद्धा में भी भेद नहीं करते। श्रद्धा और अंधविश्वास एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। बड़ी हल्की ध्वनि मनुष्य नहीं सुन सकता। ध्वनि भी

एक शक्ति है जिसे आजकल 'डैसिबल' में नापते हैं। अमुक शक्ति की ध्वनि तो मनुष्य सुन सकता है, उससे कम या ज्यादा डैसिबल हो जायें तो नहीं सुन सकता। उससे कम यदि कहीं ध्वनि रहेगी तो भी तुम्हें वहाँ शांति ही लगेगी क्योंकि तुम्हारा कान उसे नहीं सुन सकेगा। तुम्हें लगेगा कि वहाँ कोई आवाज नहीं, लेकिन आवाज वहाँ भी है। एकबार देवराज इंद्र कहीं जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक गिरगिट बड़े जोर से भागता हुआ जा रहा था और वह अपनी जीभ को बार-बार पीछे की तरफ निकाल रहा था। इन्द्र को कुछ विचित्र-सा लगा। उसके पास जाकर पूछा, "कि तू कहाँ भाग रहा है ?" उसने कहा, "पहले मुझे भाग लेने दो।" तब तक एक पेड़ आ गया और गिरगिट उसके ऊपर चढ़ गया। इन्द्र से बोला, "अब बोलो क्या पूछ रहे थे ?" इन्द्र ने कहा, "तू इतना क्यों दौड़ रहा था, हाँफ रहा था और जीभ को बार-बार पीछे निकाल रहा था।" गिरगिट ने कहा, "बेकार लोग आपको सहस्राक्ष अर्थात् हजार आँखों वाला कहते हैं। आपको कुछ दीखता-दिखाता नहीं है, फालतू ही आपका नाम हजार आँखों वाला देवता है।" इन्द्र ने कहा, "ऐसा क्यों ?" वह बोला, "आपको दीख नहीं रहा था कि पीछे से एक जंगली हाथी आ रहा है ?" इन्द्र ने कहा, "मुझे तो नहीं दीखा, तुझे कैसे दीख गया ?" गिरगिट ने कहा, "मुझे देखना नहीं पड़ा, आपकी तरह मेरी हजार आँखें चारों तरफ थोड़े ही हैं ! मेरी तो आँखें एक ही तरफ हैं। लेकिन वह जो मदमस्त हाथी है, उसके जोर-जोर से पैरों को रखकर चलने की आवाज आ रही थी, वह मैं सुन रहा था। मुझे तो धीरे चलना पड़ता है। यदि मैं रुकता तो हाथी आकर

मुझे मार डालता। अब मैं बचकर सुरक्षित जगह पहुँच गया हूँ। अब जितना पूछना हो पूछो।" इन्द्र ने पूछा, "जीभ क्यों बार-बार पीछे कर रहा था ?" गिरगिट बोला, "मेरे कान तो आगे की तरफ हैं लेकिन हाथी के आने से हवा में जो तेजी आती है उससे मेरी जीभ की लार जल्दी सूख जाती है, उससे मुझे यह भी पता लग जाता है कि हाथी कितनी तेजी से आ रहा है और मैं कितनी दूरी पर हूँ। अब मैं पेड़ के तने पर चढ़ गया हूँ इसलिये सुरक्षित हूँ। पहले तो हाथी इस पेड़ पर आयेगा नहीं, क्योंकि यह कँटीला है। काँटों वाले पेड़ को ऊँट तो खा जाता है लेकिन हाथी नहीं खाता। इसलिये पहले तो उसकी इधर प्रवृत्ति ही नहीं होगी। यदि किसी कारण से उसने इसको तोड़ने का प्रयत्न किया भी तो ऊपर की डालों को तोड़ेगा, मैं तो इस तने पर बैठा हुआ हूँ बच जाऊँगा।" इन्द्र को बड़ा आश्चर्य हुआ और मन में यह सोचते हुए वहाँ से चल दिया कि भगवान् शिव की ही यह लीला है कि इतना छोटा यह प्राणी और इतनी सूक्ष्म ध्वनि सुन लेता है और इतनी सूक्ष्म लार के सूखने के भेद को जान लेता है जो मैं सहस्राक्ष होते हुए भी नहीं जान सकता।

विचार करके देखो तो ऐसी अनेक ध्वनियाँ हैं जो इतनी धीमी होती हैं कि हमारे कान नहीं सुन पाते। इतना ही नहीं, कई इतने छोटे प्राणी होते हैं और ध्वनि इतनी जोर की करते हैं कि लगता है कि कोई बड़ा जंतु आकर बैठ गया। एक चटक नाम का प्राणी होता है जो मच्छर से थोड़ा-सा बड़ा, मक्खी के आकार का होता है। वह इतना जोर से 'चट चट' बोलता है कि आदमी सोचता है कोई बड़ा प्राणी, चिड़िया आदि कमरे में आ गई होगी।

सारे कमरे में आदमी ढूँढता रहता है कि चिड़िया कहाँ से आ गई। फिर गाँव में रहने वाला कोई व्यक्ति उसे बताता है कि यह "चिड़िया की आवाज नहीं एक छोटे से कीड़े की आवाज है।" इसी प्रकार कुछ ध्वनियों की गति, कुछ ध्वनियों की तेजी इतनी ज्यादा होती है कि हमारे कान नहीं सुन पाते। पुलिस वाले एक सीटी का प्रयोग करते हैं, जब वे उसे बजाते हैं तो पुलिस के कुत्ते उसे सुन लेते हैं और तुरंत आ जाते हैं। लेकिन अपने को कुछ सुनाई नहीं देता। वहाँ उसकी ध्वनि की तीव्रता इतनी ज्यादा है कि कान उसे ग्रहण नहीं कर सकता। जहाँ हमको लगता है कि बिल्कुल चुपचाप शान्ति है वहाँ भी वह आवाज हो रही है।

जैसे ध्वनि के विषय में वैसे ही रूप के विषय में होता है। बैंगनी रंग से जब रंग हल्का होने लगता है तब मनुष्य की आँख उसे नहीं देख सकती। उसे 'अल्ट्रा वायलेट रेज़' कहते हैं। इसी प्रकार लाल से ऊपर के रंग भी मनुष्य की आँख नहीं देख पाती उसे इन्फ्रा रेड रेज़ कहते हैं। इन दोनों के बीच के रंग ही मनुष्य की आँख देख सकती है। यदि उससे नीचे होगा तो भी अपने को अंधेरा ही दीखेगा औंर उससे तेज होगा तो भी अपने को अंधेरा ही दीखेगा। हम लोगों की शक्ति बँधी हुई है, संकुचित है। उससे ऊपर और नीचे की चीजों को हम नहीं देख सकते, ग्रहण नहीं कर सकते। हमारी इन्द्रियों में वह शक्ति नहीं है जो उन चीजों को देख सकें। हमारे लिये वहाँ ध्वनिहीनता और रंगहीनता है, अंधेरा है; जो हम लोगों को घुप्प अंधेरा दीखता है वहाँ भी उल्लू को प्रकाश दीख जाता है क्योंकि उसकी शक्ति के अन्दर तीव्रता है। उसी उल्लू को कम प्रकाश तो दीख सकता

है लेकिन धूप उसे अंधेरे जैसी लगने लगती है अर्थात् वह उसे ग्रहण नहीं कर सकता।

इसी प्रकार अनेक चीजें हैं जिनका ग्रहण श्रद्धा की शक्ति से करना पड़ता है। जहाँ श्रद्धा की न्यूनता होगी वहाँ भी हम ग्रहण नहीं कर पाते। श्रद्धा और अंधविश्वास का फरक इसीलिये हम लोग नहीं समझ पाते। अंधविश्वास, विश्वास और श्रद्धा—ये तीन अवस्थायें हैं। जैसे ध्वनि अत्यंत हल्की हुई तो हमारे कान ने उसे भी शान्ति कह दिया, ध्वनि अत्यंत तीव्र हुई तो हमारे कान ने उसे शोर कह दिया। रोशनी अत्यंत हल्की हुई तो हमारी आँख ने उसे अंधेरा कहा और रोशनी अति तीव्र हो गई तो भी हमारी आँख ने उसे चकाचौंध कह दिया। केवल बीच की चीज को हमारी इन्द्रियाँ पकड़ पाईं। इसी प्रकार यदि विश्वास अतितीव्र होकर श्रद्धा रूप में पहुँच गया और यदि विश्वास अत्यंत कम हो करके अंधविश्वास बन गया तो ये अंधविश्वास और श्रद्धा हमें एक-जैसे लगते हैं। जैसे रोशनी के आगे-पीछे हमको एक-जैसा अंधेरा दीखता है ऐसे ही विश्वास की बात तो हमारी समझ में आती है लेकिन वह विश्वास यदि नीचे अंधविश्वास को चला गया या आगे श्रद्धा को चला गया तो हमको एक जैसा लगता है। इसलिये साधारण प्राणी श्रद्धा और अंधविश्वास में फरक नहीं करता। विश्वास को तो वह समझ लेता है। इन दोनों के भेद को थोड़ा समझायेंगे, यह समझना जरूरी है क्योंकि यहाँ श्रुति कह रही है कि श्रद्धा देवताओं के अन्दर ही अधिवास करती है। तात्पर्य यह हुआ कि जिनके अन्दर दैवी गुण नहीं हैं, जो देव नहीं हैं उनके अन्दर श्रद्धा वास नहीं करेगी, अंधविश्वास रह सकता है।

श्रद्धा और अंधविश्वास में एक तो सबसे बड़ा फरक यह है कि श्रद्धा क्रियाशील होती है और अंधविश्वास क्रियारहित होता है। श्रद्धा हमेशा मनुष्य को क्रियाशील बनाती है, एक शक्ति देती है जो असम्भव को भी सम्भव कर जाये। साधारण मनुष्य को जो चीज असम्भव लगती है वह भी श्रद्धावान् को न केवल सम्भव लगती है वरन् वह उसे सम्भव कर जाता है, यह क्रियाशीलता है। अंधविश्वास मनुष्य को इसके विपरीत क्रियाहीन बनाता है, उसकी क्रिया में कमी लाता है। यह दोनों के अन्दर मूलगत भेद है। दूसरी बात, श्रद्धा से श्रद्धेय में स्थिरता और एकाग्रता आती है। श्रद्धेय अर्थात् श्रद्धा का विषय, जिस पर श्रद्धा कर रहे हो, श्रद्धा के द्वारा उसमें चित्त भी स्थिर होगा और एकाग्र भी होगा। श्रद्धेय विषय को छोड़कर चित्त अनेकता की तरफ नहीं जायेगा, न केवल एक समय के लिये नहीं जायेगा वरन् उसके अन्दर स्थिरता रहेगी। इसलिये स्थिरता के कारण किसी भी समय वह श्रद्धेय विषय से दूसरी तरफ नहीं जायेगा। अंधविश्वास में ये दोनों चीजें नहीं हैं। अंधविश्वास में स्थिरता नहीं होती है, अंधविश्वासी का रूप होता है कि इस समय एक बात मान ली, कुछ समय के बाद कुछ और मान लिया। और जितने काल तक एक को माने हुए है उतने काल तक एकाग्रता भी नहीं होती, उसका मन अंधविश्वसनीय पर नहीं टिकता। भिन्न-भिन्न पदार्थों की तरफ मन जाता रहता है। श्रद्धेय वहाँ गौण होता है और खुद स्वयं और उसकी कामनायें प्रधान होती हैं। अंधविश्वास के अन्दर कामना और खुद प्रधान होता है। श्रद्धा के अन्दर ठीक उसके विपरीत वैराग्य, निष्कामता और जो श्रद्धेय पदार्थ है उसमें वैशिष्ट्य होता

है।

कठोपनिषद् में नचिकेता के अन्दर श्रद्धा ने प्रवेश किया। उसको बताते हुए अतिधन्य वेद कहता है 'तं ह कुमारं संतं श्रद्धा आविवेश' वह अभी कुमार ही था कि उसमें श्रद्धा ने प्रवेश किया। श्रुति ने 'कुमार' क्यों कहा ? कुमार शब्द का अर्थ होता है कामनाओं को जिसने दबा रखा है। लोक में भी छोटे बच्चे को कुमार इसीलिये कहते हैं कि उसमें तब तक कामदेव अभिव्यक्त या प्रकट नहीं होता। इतना याद रखना कि लौकिक संस्कृत के अन्दर भी कुमार शब्द का मतलब पाँच वर्ष का बच्चा होता है। आजकल तो पैंतालीस साल की लड़की को सामने करके कहते हैं 'कुमारी कमला जी पधारी हैं'। हम ऊपर-नीचे देखते हैं कि कुमारी जी के होठों में लाली, गालों में लाली लगी हुई है, यह कैसी कुमारी है ! या तो परम वैराग्यवान्, सत्संग करने वाली हो कि उसमें कोई कामदेव का प्रवेश नहीं है अथवा सचमुच पाँच-सात साल की हो तब प्रवेश न हो। यहाँ तो सब कुछ होते हुए भी 'कुमारी जी' हैं, समझ में नहीं आता। पाँच वर्ष की उम्र तक बच्चे में प्रायः किसी प्रकार के काम का प्रवेश न होने से ही उसे कुमार कहते हैं। वस्तुतः कुमार का मतलब है जिसने काम को दबा लिया, विजय कर लिया उसे कुमार कहते हैं। जहाँ कामना का प्रवेश नहीं हुआ, निष्कामता है वहीं श्रद्धा का प्रवेश होता है। कामना के रहते श्रद्धा नहीं हो सकती। अन्यत्र भी श्रुति ने कहा, 'अथ बाल्येन तिष्ठासेत्' शतपथ ब्राह्मण की बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा कि ज्ञान को प्राप्त करने वाला बालक बनकर रहे अर्थात् बालक की तरह रहे। बालक, कुमार शब्दों का एक ही अर्थ है।

वहाँ भी भगवान् भाष्यकार प्रश्न उठाते हैं कि 'बालक की तरह रहे', यहाँ 'बालक की तरह' का मतलब क्या है ? साधारण आदमी इसे आज भी समझते हैं और पहले भी समझते थे कि बालक की तरह रहे अर्थात् जहाँ मर्जी पेशाब कर दे, जहाँ मर्जी टट्टी चला जाये, मर्जी आये जिसके हाथ का खा पी ले। उनकी दृष्टि में यह बालक का लक्षण हुआ। भगवान् भाष्यकार कहते हैं यह कोई गुणों में नहीं गिना जा सकता ! यह तो बालक का मूर्खता वाला हिस्सा हुआ, इसकी नकल थोड़े ही करनी है। जहाँ मर्जी खा ले, हग ले यह बालक का अनुकरणीय लक्षण नहीं हुआ। बालक में उपादेय गुण कौन-सा है ? बालक में राग-द्वेष नहीं होते। तुम एक बालक को कोई बात कह दो, थोड़ी देर के बाद उससे कहो 'लो मेरी तुम्हारी फिर दोस्ती हो गई।' लड़ाई और दोस्ती बच्चे के साथ बड़ी सरलता से होती है। दो आदमी दोस्ती करें तो चार वकीलों से पूछकर 'पार्टनरशिप डीड' लिखा जाता है। कर दोस्ती रहे हैं और उसमें भी नियम-कानून बाँध रहे हैं। लेकिन बच्चे के साथ मैत्री करने के लिये लिखा-पढ़ी नहीं करनी पड़ती। ठोड़ी पर अंगूठा रखकर उंगली आगे को कर दो कि मिल ले; 'मैंने तो अपनी ठोढ़ी को हाथ लगा दिया अब तू आगे बढ़', बस इसी में मेल हो गया। बड़ों के यहाँ तो लड़ाई करने के लिये भी बड़ा विचार होता है और बच्चों में कुछ नहीं, ठोढ़ी से अंगूठा हटा तो हो गयी कुट्टी। ज्ञानी की बच्चे की यह राग-द्वेष-हीन अवस्था है। बच्चा नाराज हो गया, थोड़ी देर में कहा, "यह देखो मेरे पास बढ़िया चाकलेट आया है लोगे ?" एक बार तो वह आँख की तरफ देखता है कि 'सचमुच देना चाहता है या चिढ़ायेगा' जहाँ

देखा कि समझौते वाली बात है तो आगे बढ़ जायेगा। जहाँ राग-द्वेषहीनता नहीं होगी वहाँ सालों तक वह अपने अंदर बाँधे ही रखेगा। इसलिये 'अथ बाल्येन तिष्ठासेत्', 'कुमारं संतम्' श्रुति ने बालक और कुमार कहा। तात्पर्य है कि स्वकामना न होकर रागद्वेषरहितता है। श्रुति ने कहा कि वहीं श्रद्धा का प्रवेश होता है।

अंधविश्वास इससे विपरीत है। अंधविश्वास में जीव राग-द्वेष से भरा हुआ है। राग-द्वेष में दृढतापूर्वक लगा हुआ है और अपना स्व प्रधान है, श्रद्धा प्रधान नहीं है। श्रद्धा से स्थिरता और एकाग्रता आती है। अंधविश्वास में अस्थिरता और अनेकाग्रता होती है। कामनाओं के कारण अनेकाग्रता और कालान्तर के अन्दर श्रद्धेय पर स्थिरता नहीं होती, दूसरी जगह श्रद्धा का विषय बन जाता है। श्रद्धा मनुष्य के चित्त को निर्मल करती जाती है। श्रद्धा में निर्मलता का गुण है। अंधविश्वास के अन्दर मल का गुण है। यदि तुमने अंधविश्वास किया और तुम्हारी कामना सफल हुई तो तुम चार कामनायें और करोगे ! अंधविश्वास के अन्दर मल बढ़ता है, श्रद्धा में निर्मलता आती है। तुमने एक कामना की और वह पूरी भी हो गई तो बाद में अपने मन के ऊपर ही क्षोभ होता है कि 'अरे मन ! उस परम दयालु को तुमने इतनी-सी बात के लिये कह दिया, मुझे धिक्कार है, क्यों मैंने उनसे ऐसा कहा ?' यह निर्मलता श्रद्धा के अन्दर आती है। श्रद्धा से जीवन सरस हो जाता है। श्रद्धालु के जीवन में रस बहता है। चूँकि परमात्मा से उसका प्रेम है इसलिये प्राणिमात्र की तरफ उसका प्रेम बह जाता है। उसे हमेशा सरसता का अनुभव होता है। हवा चल रही होती है तो

उसे 'परमात्मा मुझे स्पर्श कर रहा है' यह अनुभव होता है। भोजन कर रहा होता है तो 'परमात्मा ही मेरा विश्वंभर होकर भरण कर रहा है'—यह उसे दीखता है। हर अनुभव में उसको सरसता का अनुभव होता है, रसानुभूति होती है। जिसमें श्रद्धा न होकर अंधविश्वास होता है उसके जीवन में रस नहीं होता, आनंद नहीं हो सकता। प्रायः देखोगे कि जो लोग भूत-प्रेत-तंत्र इत्यादि विद्याओं का प्रयोग करते हैं उनके अन्दर भाव है कि 'यह रहस्य है किसी को मत बताओ ! यह मंत्र तुम्हें नहीं बतायेंगे, मैंने क्या किया यह नहीं बतायेंगे।' उनके अन्दर हमेशा नीरसता ही रहेगी। जगह भी उन्हें वैसी ही पसन्द आती है, गन्दी जगह, श्मशान इत्यादि। खाना-पीना प्रसाद इत्यादि के अन्दर भी जितनी तमोगुणी चीजें हों उधर ही उनकी प्रवृत्ति जाती है।

दूसरी तरफ, जो श्रद्धा वाला होता है उसका जीवन सरस होता है। सत्त्वगुण के अन्दर उसकी प्रवृत्ति होती है और वह रात-दिन चाहता है कि मेरा प्राणप्रिय जिसे मैंने पहचाना उसे सब पहचानें। एक बात इशारे में कहेंगे, कोई बुरा नहीं मानना। कोई योग्य पत्नी अपने को मिल जाती है, व्यवहार में भी योग्य, बोलने में भी योग्य, सबसे मर्यादित व्यवहार करती है। यदि ऐसी पत्नी मिली हुई है तो मनुष्य चाहता है कि 'मेरी पत्नी को बाकी सब लोग जानें', यह उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। और यदि पत्नी ऐसी मिली है कि घर गये, तुमने कहा 'दूध पियेंगे' वह धम्म से पैर रखती हुई जायेगी और लाकर मेज पर पटक देगी, कहती जायेगी 'क्या बेकार का काम मेरे सिर डाल दिया है।' अगर किसी काल में पत्नी को कह दिया 'ये दो जने आये हैं इनके खाने के

लिये कुछ पकोड़ा इत्यादि बना दो' तो वहाँ से जाते हुए बड़बड़ायेगी 'यह कोई घर है, होटल बना रखा है। जो आये सो खाये।' ऐसी पत्नी हो तो पति क्या चाहेगा कि किसी को अपने घर ले जाये? यदि किसी अपने मित्र को भी बुलाना होगा तो कहेगा कि 'होटल में चलें, घर का तो रोज खाते ही हैं।' लेकिन वह तो उसका दिल ही जानता है ! आप लोगों में से बहुत-से लोग तीस साल पहले का दिल टटोलो कि तीस साल पहले हर-एक व्यक्ति कहता था 'मेरे घर चलो' क्योंकि उसे निश्चय था कि घर में उसका स्वागत होगा, घर की गृहिणी है। आज जिसे देखो वह होटल में ही भाग रहा है क्योंकि जानते हैं कि घर में जाकर क्या मिलेगा ! इसी प्रकार जिसने अपने श्रद्धेय पदार्थ को देखा है कि 'वह सत्त्वगुणी है, कितना अच्छा है', वह तो चाहता है कि दूसरे सब मेरे इस श्रद्धेय पदार्थ को देखकर स्वयं भी देखें कि मेरा यह श्रद्धेय पदार्थ कैसा है। जहाँ अंधविश्वास होगा वहाँ पदार्थ में तमोगुण होगा इसलिये उसे तो भय लगता रहेगा कि 'इसे कोई न देखे' अतः छिपाकर रखेगा। श्रद्धा से जीवन में सरसता आती है, अंधविश्वास जीवन को सरस नहीं नीरस बनाता है।

श्रद्धा से जीवन में सरसता, निर्मलता, एकाग्रता और स्थिरता, अशक्य को शक्य करने की सामर्थ्य, क्रिया में प्रवृत्ति। जिसको असम्भव समझें उसे वह सम्भव समझता है और कर लेता है। केवल समझना तो अंधविश्वास में भी होता है लेकिन वहाँ क्रियाशीलता नहीं होती, करके देखने की दृष्टि नहीं होती, 'हो जायेगा' यही भावना बनी रहती है। श्रद्धा में होता है कि 'कर लेंगे।' क्रियाशीलता का उद्दीपन श्रद्धा के द्वारा होता है। श्रद्धा

की जितनी कमी होगी उतना ही क्रियाशीलता में उद्दीपन अर्थात् तेजी नहीं आयेगी। अश्रद्धालु व्यक्ति भी संसार में व्यवहार तो करता ही है लेकिन उसमें दृढ अनुभूति का अभाव है। 'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः' इसी ऋग्वेद में एक मंत्र आया है। वह कहता है कि यदि दाहिने हाथ से मैंने ठीक काम किया तो मेरे साथ परमात्मा है, मेरे बायें हाथ में फल न आये यह हो ही नहीं सकता, जीत मेरी निश्चित है। बहुत वर्ष पूर्व जब इस मंत्र को एक बार पढ़ा तो मन में विचार आया कि भगवान् जय दे रहे हैं, जब बड़े से कोई चीज लेनी हो तो दाहिने हाथ में लेनी चाहिये। यहाँ वेद ने कह दिया 'जयो मे सव्य आहितः' बायें हाथ में जय है। बहुत विचार करते रहे। विचार करने से उसका रहस्य प्रकट हुआ कि कर्म के लिये भगवान् ने दाहिना हाथ दिया है। जिस समय में जीत हो रही है उस समय में भी चित्त में भूल करके कहीं कर्म न करने का भाव न आ जाये ! जीत के साथ ही, पूर्ण सफलता मिलने पर लोग सो जाते हैं। जेल आदि में जाकर, बहुत परिश्रम करके राष्ट्र में घोषित आपात्स्थिति खतम हो गई, प्रजातंत्र आ गया। लेकिन अब साल भर से उसी में हम फूले जा रहे हैं! खुशी तो दस-पन्द्रह दिनों में मना ली, लेकिन उसके बाद क्या किया ? मनुष्य हर्ष में फूल कर जो सफलता मिली है उसीमें रह जाता है। इस सम्भावना से—कि आगे क्रिया करना न छोड़ दे—वेद कहता है कि जिस समय भगवान् सफलता दे रहे हैं उस समय सफलता को तो दूसरे हाथ से लो और दाहिने हाथ में फिर भी क्रियाशीलता वैसी ही बनी रहे। पहाड़ की एक चोटी पर पहुँचे, वहाँ ठहरो मत, अगली चोटी पर चढ़ने के लिये तुरंत प्रयत्न प्रारंभ

कर दो। श्रद्धा मनुष्य को क्रियाशील बनाती है, अशक्य को भी 'मैं शक्य कर सकता हूँ' यह दृढ निश्चय कराती है।

भगवान् भाष्यकार के एक शिष्य का नाम सनंदन था। उनके ऊपर भगवान् भाष्यकार का विशेष प्रेम था। इसलिये उन्होंने उन्हें ब्रह्मसूत्र तीन बार पढ़ाया। सर्वत्र शिष्यों में कानाफूसी होने लगी कि 'इस पर ज्यादा प्रेम करते हैं'। भाष्यकार समझ गये कि लोगों के मन में तरह-तरह की बातें आ रही हैं। एक बार वे गंगा के किनारे बैठे थे और बाकी सारे शिष्य लोग दूसरे किनारे पर घूमने गये हुए थे। पुल वहाँ से बहुत दूर था। नदी तेजी से चल रही थी। नाव इत्यादि से भी पार नहीं किया जा सकता था। अकस्मात् भगवान् भाष्यकार ने आवाज दी, 'अरे ! कोई जल्दी आओ।' शिष्यों ने सुन लिया। सबने कहा, "दौड़कर चलें।" सनंदन ने सोचा, 'गुरुजी ने जल्दी आने को कहा है। यहाँ से पुल तक जाने में तो बहुत देर लगेगी। उन्होंने आवाज दी है जल्दी आओ। इसका मतलब हुआ कि जहाँ खड़े हैं वहाँ से जैसे जल्दी से जल्दी पहुँच सकें चल दें—यह गुरुजी की आज्ञा है।' वे सीधे ही गंगा की ओर चल दिये। जैसे ही वे गंगा की तरफ चलने लगे, लोगों ने कहा "क्या कर रहे हो ?" बोले 'पार कर रहा हूँ।' लोगों ने कहा, "डूब जाओगे, तैरकर नहीं जा सकते।" सनंदन ने कहा, "जिन चरणों का आश्रय लेकर हम लोग संसार तर गये वे ही गंगा भी तरायेंगे।" संसार की कोई सीमा नहीं है, कब से यह संसार चल रहा है इसकी कोई सीमा नहीं है। उसे भी तरण कर जाने की आशा जिस गुरु के चरणों के प्रेम के कारण, भक्ति के कारण हमारे अन्दर है तो यह इतनी-सी नदी क्यों पार नहीं की जा सकती ! यह कहते

हुए वे नदी के वक्षस्थल पर चलने लग गये। संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसका नायक, जिसके अंदर सच्चिदानंद रूप से परब्रह्म परमात्मा न रहता हो। जो पदार्थ है, जिसका ज्ञान होता है वे सब पदार्थ ब्रह्मरूप हैं। यह वेदांत की दृष्टि है। सांख्य कहता है कि कुछ जड प्रकृति और कुछ चेतन पुरुष है। पुरुष तो समझ लेगा, प्रकृति बेचारी क्या समझेगी ! लेकिन वेदांती तो 'सर्वं शिवमयं जगत्' सर्वत्र शिव को ही देख रहा है। यह सारा विराट् ब्रह्माण्ड जिसका शरीर है, गंगा जी भी तो उसी का शरीर है और उसमें भी गंगा तो अतिशुद्ध है। शरीर में भी कोई शुद्ध, कोई अशुद्ध अंग हो सकता है। लेकिन गंगा तो अतिशुद्ध है। वह कैसे भूल सकती थी कि किस की आज्ञा को मानकर जा रहे हैं ? श्रद्धेय की आज्ञा को मानकर जा रहे थे। वे गंगा के वक्षःस्थल पर चलने लगे। मन में कोई विचार ही नहीं हुआ कि पानी पर कैसे चलें। सोचकर श्रद्धा नहीं हुआ करती है। उस गंगा पर जहाँ-जहाँ वे पैर रखते गये वहाँ-वहाँ कमल निकल आये, उन पर पैर रखते हुए इस पार से उस पार पहुँच गये। प्रेम से भगवान् भाष्यकार ने उनको हृदय से लगाया। दूसरे शिष्य भी देखते रह गये कि 'यह जो उसके अंदर श्रद्धा की पूर्णता है, इसके कारण ही भगवान् भाष्यकार का इस पर विशेष प्रेम है।'

वेदांतशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि को लिखते हुए आचार्य मधुसूदन कहते हैं कि हम तो संन्यासी हैं, हमारे पास क्या धन है ? लोग कहेंगे बड़े दरिद्र हो, लेकिन 'श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन' हमारे पास श्रद्धा का धन है। विचार करो, यदि भारतीय स्टेट बैंक का मैनेजिंग डायरेक्टर या कस्टोडियन कहीं

जाये तो क्या उसे यात्री चैक साथ में लेकर जाना पड़ेगा, क्या वह सोचेगा कि 'यदि मैं नहीं ले जाऊँगा तो मुझे वहाँ रुपये नहीं मिलेंगे' ? कौन-सी ऐसी शाखा होगी जो उसके दस्तखत पर रुपया न दे ? ये चैक तो हम टटपूँजिये लोग लेकर घूमते रहते हैं कि कहीं जाने से पहले दस हजार के यात्री चैक रख लेते हैं। ऐसे रिजर्व बैंक के गवर्नर को कहीं नोट बाँधकर नहीं ले जाने पड़ेंगे, वह सब तो हम लोगों के लिये है। ठीक इसी प्रकार इस समग्र सृष्टि के अधिनायक के ऊपर, परमेश्वर के ऊपर जिसकी श्रद्धा है, जो जानता है कि वह मुझे सर्वत्र देने के लिये बैठा हुआ है, वह भी क्या सामान्य पदार्थों को लेने के लिये सोचेगा कि 'यह पदार्थ मिलेगा तब काम होगा' ? यह तो जब तक उस पद पर नहीं पहुँचे, श्रद्धा पैदा नहीं हुई, तब तक की बातें हैं। इस प्रकार से उन लोगों ने सनंदन को देखा तब उनके मन में आया हुआ संदेह दूर हो गया, समझ गये कि गुरुजी तो श्रद्धा की दृष्टि को देखकर इस पर प्रेम करते हैं।

श्रद्धा मनुष्य में इस प्रकार क्रियाशक्ति लाती है, अंधविश्वास नहीं लाता है। वह खड़ा नहीं रह गया कि 'गुरुजी तो सर्वसमर्थ हैं जो चाहे कर लेंगे, हम बेचारे उनकी क्या मदद कर सकते हैं, हमें तो पूर्ण विश्वास है कि गुरुजी सर्वसमर्थ हैं।' यदि इस क्रियाशक्ति को रोक लेता तो मतलब होता कि अंधविश्वास है। हम सब बताते हैं कि गेंदे के फूल से परमपूज्य महाराजश्री को एलर्जी होती है, छींकें आती हैं। यदि गेंदे का फूल चढ़ाओगे तो उन्हें छींक आ जायेगी, कष्ट होगा इसलिये मत चढ़ाओ। इस पर अंधश्रद्धालु कहेगा, "वे तो साक्षात् भगवान् शंकर हैं। मंदिर के

नीचे मिलते ही ये फूल हैं, हम श्रद्धा से चढ़ाते हैं। महात्मा को क्या होता है! वह तो तुरीय अवस्था में पहुँचे हुए हैं।" श्रद्धालु क्या करेगा ? ऐसी जगह जायेगा जहाँ गुलाब का फूल मिले। बाजार में नहीं मिलेंगे तो घूमते हुए उस बगीचे में जायेगा जहाँ ऐसे फूल मिलें, उन फूलों की माला बनायेगा। इस प्रकार श्रद्धा क्रियाशीलता लायेगी, श्रद्धालु ही यह सारी चेष्ट करेगा। अंधविश्वासी को नीचे जो फूल मिलते हैं वही लाने हैं क्योंकि 'गुरुजी तो सिद्ध हैं उन्हें क्या फरक पड़ना है !' फूलों के ऊपर कीड़े रेंग रहे हों, कहें कि 'ज़रा चढ़ाने से पहले देख लिया करो, कीड़े रेंगते हैं।' वह कहेगा, "महाराज ! आप विराट् रूप हैं, आपके ऊपर तो सारा संसार घूम रहा है, थोड़े से कीड़े घूमेंगे तो क्या होगा ? हमें समय कहाँ हैं, हमें जो मिले, उठाकर ले आये।"

श्रद्धा और अंधविश्वास दीखने को एक जैसे दीखते हैं लेकिन बिल्कुल अलग होते हैं। श्रद्धा मनुष्य को क्रियाशील और अशक्य को शक्य कराती है। अंधविश्वास ऐसा नहीं कर पाता, यह दोनों में फरक है। इसलिये श्रुति ने कहा कि श्रद्धा से अश्रद्धा को जीते। इस सेतु को तरने के विशिष्ट प्रकार पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन—२८

'न मृत्यरासीदमृतं न तर्हि' सृष्टि के पूर्व किसी भी प्रकार के कर्मों का अभाव था, न मृत्यु देने वाला कर्म था और न अमरता देने वाला कर्म था क्योंकि अभी जीव था ही नहीं। अमरता देने वाले कर्मों के स्वरूप का विचार करते हुए बताया कि अदान को दान के द्वारा विजय करे और अक्रोध के द्वारा क्रोध को विजय करे। तीसरा साधन बता रहे थे कि श्रद्धा के द्वारा अश्रद्धा को विजय करे। यह बताया कि किस प्रकार श्रद्धा श्रद्धेय में स्थिरता, एकाग्रता, निर्मलता का आपादन करती है। अब श्रद्धा के स्वरूप पर विचार करेंगे। श्रद्धा कहाँ रहती है ? 'श्रद्धा देवान् अधिवसते' देवताओं में अर्थात् दैवीगुण-सम्पत्ति वाले पुरुष में ही यह श्रद्धा रहती है। यही ऋग्वेद १५१वें सूक्त में कहता है—

'श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां माध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेहि नः।।'

वैदिक ऋषि कहते हैं कि वस्तुतः प्रार्थना के योग्य कौन है? सवेरे हम श्रद्धा का ही आवाहन करते हैं, श्रद्धा को ही बुलाते

हैं। चाहे शास्त्रीय कर्म हों, चाहे लौकिक उपासना हो, चाहे शास्त्रीय उपासना हो, चाहे लौकिक ज्ञान हो अथवा अलौकिक ज्ञान हो, सर्वत्र श्रद्धा एक प्रधान कारण है। श्रद्धा के बिना किया हुआ लौकिक कर्म भी फल उत्पन्न नहीं करता। यह एक बड़ी भारी समस्या है क्योंकि भारतवर्ष में और विशेषकर हिन्दुओं में इस समय अश्रद्धा का राज्य चल रहा है। समस्या यह है कि हम लोगों के व्यवहार में भी कहीं श्रद्धा नहीं है। लौकिक कर्मों में भी श्रद्धा नहीं है। विद्यार्थियों में श्रद्धा नहीं है कि 'यदि मुझे विषय ठीक तैयार है तो मैं प्रथम आऊँगा।' प्रत्येक विद्यार्थी के मन में अश्रद्धा है कि अध्यापक लोग तो जान-पहचान वालों को नम्बर दे देते हैं, रुपया खाकर नम्बर दे देते हैं अथवा आँख मींच कर नंबर दे देते हैं अथवा ऊपर-नीचे दो-चार वाक्य देखकर नम्बर दे देते हैं। 'यदि मैं ठीक पढूँगा तो प्रथम आऊँगा' यह श्रद्धा बच्चे में नहीं है। इसलिए पढ़ने में परिश्रम नहीं होता। दूसरी तरफ जब अध्यापक परीक्षा की कापी देख रहा है तो उसमें भी श्रद्धा नहीं है। सोचता है कि बच्चे ने जो लिखा है वह नकल करके लिखा है, किसी दूसरे अध्यापक से लिखवाकर रट कर लिखा है अथवा गुपचुप अपनी उत्तरपुस्तिका किसी पी. एच. डी. वाले को हजार रुपया देकर उससे लिखवा ली है। बच्चे को भी श्रद्धा नहीं है और अध्यापक भी जब उस परीक्षा की कापी को जाँचता है तो उसे भी श्रद्धा नहीं है। 'यदि पढ़कर के हम योग्य निकले तो हमको उत्तम नौकरी मिलेगी या उत्तम व्यापार मिलेगा' इसकी भी श्रद्धा नहीं है। हर-एक व्यक्ति सोचता है कि 'क्या जानते हो' यह जरूरी नहीं है, 'किसको जानते हो' यह जरूरी है ! 'सब बेईमान हैं' यह

हम नहीं कह रहे हैं, केवल यह कह रहे हैं कि श्रद्धा का अभाव है। जब किसी को नौकर रखते हो तो उस समय में भी 'यह योग्य है' इस पर श्रद्धा नहीं है। हमें पता है कि इस लड़के ने कामर्स में बहुत अच्छी योग्यता प्राप्त की है लेकिन चूँकि मेरा भतीजा भी तैयार है इसलिये उस पर ही विश्वास करो, दूसरे की पढ़ाई का विश्वास मत करो। भतीजा काम तो सीख ही जायेगा लेकिन यह योग्य कहीं आगे जाकर न जाने क्या धोखा दे ! जो नौकरी या काम ढूँढने जा रहा है उसे भी श्रद्धा नहीं है और जो नौकरी या काम दे रहा है उसे भी श्रद्धा नहीं है। काम मिलने के बाद 'मैं अच्छा काम करूँगा तो मेरी उन्नति होगी' यह श्रद्धा नहीं है। सम्भवतः जो मालिक को जितना मख्खन लगा सके, अर्थात् जो जितनी जी-हजूरी कर सके, उसे उतनी ही उन्नति की आशा है, 'मेरा काम बढ़िया होगा तो मुझे उन्नति की आशा है' यह श्रद्धा नहीं है। उधर मालिक को भी यह श्रद्धा नहीं है कि जो ज्यादा काम कर रहा है वह ईमानदारी से कर रहा है, सोचता है कि 'यह तो सारे व्यापार को अपने हाथ में, अपनी मुट्ठी में लेना चाहता है।' इसलिये दोनों तरफ अश्रद्धा है।

वह अश्रद्धा बढ़कर घर तक पहुँच गई। पुत्र को पिता पर श्रद्धा नहीं है कि मेरी उन्नति और मेरे प्रेम के कारण ही पिता मेरे ऊपर खर्च कर रहा है। वह सोचता है कि 'यह आगे जाकर चाहते हैं कि मैं इनका काम करूँ, यह मुझे अपना औजार बनाना चाहते हैं।' इसलिये पुत्र को पिता पर श्रद्धा नहीं है। कई बार लड़के हमसे आकर पूछते हैं 'महाराज ! पिता जी इस विषय में ऐसा कहते हैं, मैं क्या करूँ ?' उनको तो हम नहीं कहते, लेकिन

हमारे दिल में बड़ी चोट लगती है, उस व्यक्ति को लेकर के नहीं, वरन् इस बात पर कि पिता के कहने पर भी इसको संदेह हो रहा है कि पिता किसी मतलब को तो सिद्ध नहीं करना चाह रहे हैं ! इस संभावना से ही तो वह आकर पूछ रहा है। बीस साल तक उसको पिता ने बड़ा किया और उसमें अपने प्रति श्रद्धा नहीं दे सका। उधर पुत्र के प्रति पिता को भी श्रद्धा नहीं है। पहले आदमी दुनिया भर से कर्जा लेकर अपने बड़े लड़के को पढ़ा देता था क्योंकि जानता था कि यह योग्य हो जायेगा तो कर्जा भी उतार देगा और छोटे भाईयों की भी तरक्की करेगा। आज पिता को यह श्रद्धा नहीं है कि मेरी बड़ी उमर में यह मुझे दो समय भोजन भी देगा। घरों में ताले हैं। यह वह देश था जहाँ विजयनगर साम्राज्य के अन्दर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में विदेशी लोग आये, वापिस अपने देश जाकर उन्होंने लिखा है कि 'यह बड़ा विचित्र देश है जहाँ कोई ताला लगाना नहीं चाहता, घरों में कुण्डी लगाकर चले जाते हैं।' आज उस देश में सास बहू के लिये और बहू सास के लिये अलग ताला अपनी अल्मारी में लगाती है। और हमें कोई आश्चर्य नहीं होगा कि बीस साल बाद पति-पत्नी भी अलग-अलग ताला लगाने लग जायें। यह श्रद्धा का अभाव है, और कुछ नहीं है। ऐसे ही प्रजा और राजा में अश्रद्धा का भाव है। राजा कुछ भी करेगा तो प्रजा के मन में हमेशा यह है कि यह कोई न कोई अपना मतलब सिद्ध करना चाह रहे हैं। वस्तुतः यह प्रजा का कोई लाभ करना चाहते हैं—यह मन में नहीं आता। उधर राजा प्रतिदिन सोचता रहता है कि यह सारी प्रजा मेरा विरोध करना चाह रही है, यह उसके मन में बैठा हुआ है। कर-अधिकारी के

पास जाने वाला व्यापारी भी अश्रद्धालु है 'ईमानदारी से टैक्स रिटर्न भरूँगा तो भी यह मानेगा थोड़े ही, इसको तो ऊपर से कुछ देना ही पड़ेगा इसलिये पहले ही चोरी करें।' अफसर को व्यापारी पर श्रद्धा नहीं है, वह सोचता है कि 'यह आया है तो जरूर चोरी करके ही आया होगा। ठीक थोड़े ही लिखकर लाया होगा।' राजा-प्रजा इत्यादि सर्वत्र अश्रद्धा ही अश्रद्धा है।

एक बार एक सज्जन हमारे पास आकर कहने लगे कि 'आजकल जगह-जगह बड़े उपद्रव हो रहे हैं। कानून व्यवस्था खराब हो रही है क्या करें ?' हमने कहा पहले तो सारा पुलिस विभाग बन्द कर दो। कहने लगे, 'यह आप क्या कह रहे हैं ?' हमने कहा बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। तुम ऐसा करोगे नहीं, यह भी जानते हैं, लेकिन तुम्हारी पुलिस पर यहाँ की जनता का विश्वास नहीं है। किसी के घर चोरी हो गई तो उसे पक्का पता है कि मैंने रिपोर्ट लिखाई तो भी चोर का पता नहीं चलेगा। जाकर लिखाते जरूर हैं इसलिये कि बीमा कम्पनी से पैसा मिल जायेगा ! इसलिये नहीं कि अपना माल वापस मिल जयेगा। पुलिस को रिपोर्ट लिखाता है तो पुलिस भी समझती है कि लिखाने वाला ही शायद चोर होगा ! कभी इस प्रकार का मौका मिला होगा तो पता लगा होगा कि वे ऐसी बात करेंगे कि पहले तुम ही चोर हो, उन्हें तुम्हारे ऊपर ही संदेह है। यह कोई पुलिस विभाग थोड़े ही है! इसलिये इसको बन्द करो तो शायद कुछ उपद्रव कम हो जायें।

अश्रद्धा का रोग बड़ा भयंकर होता है। इसलिये श्रुति कहती है 'श्रद्धां कामस्य मातरं' बड़ी विलक्षण बात श्रुति कह रही है, 'जितनी भी तुम्हारी कामनायें हैं उन्हें पूर्ण करने के लिये माता

का रूप श्रद्धा ही धारण करती है। जिस समाज या राष्ट्र के अन्दर श्रद्धा नहीं रहेगी वहाँ कोई किसी कामना का भोग भी नहीं कर पायेगा। लौकिक कर्म भी श्रद्धा के बिना सफल नहीं हो पाते। अलौकिक कर्मों में तो नियम ही कर दिया है कि बिना श्रद्धा के किया हुआ कर्म कोई फल पैदा नहीं करता। इसी प्रकार लौकिक उपासना भी श्रद्धा से ही फल देती है। उपासना अर्थात् मानसिक क्रिया में भी श्रद्धा ही फल देती है। यह मेरी माँ है, मेरा मामा है, मेरा बाप है या मेरा ताया है आदि सभी श्रद्धा के ही तो सम्बन्ध हैं। सारे सम्बन्धों का बीज श्रद्धा ही है। सूरदास जी ने एक प्रश्न उठाया है कि भगवान् को बच्चे छेड़ रहे हैं 'नंद गोरे यशोदा गोरी तुम कत श्याम शरीर' माँ गोरी, बाप गोरे, तू कहाँ से काले रंग का आ गया ? तेरे को कहीं धुएँ से उठा लाये हैं! भगवान् के मन में भी हुआ कि ये ठीक ही कह रहे हैं, इसीलिये तो बलराम को दूध ज्यादा और मुझे कम मिलता है क्योंकि वह गोरा है और मैं काला हूँ, इसलिये वही असली लड़का है। भगवान् आकर पूछते हैं यशोदासे कि 'क्या बात है ?' लेकिन वे जवाब क्या दें ! प्रेम से छाती से चिपका लेती हैं, क्योंकि उन्हें तो पता था कि कहाँ से लाये हैं ! यदि मनुष्य के मन में अश्रद्धा का बीज आ जाता है तो वह सारी लौकिक उपासना अर्थात् सारी लौकिक मानसिक क्रियाओं में भी फैल जायेगा। वहाँ भी बिना श्रद्धा के काम नहीं चलेगा। इसी प्रकार लौकिक ज्ञान में भी मनुष्य को श्रद्धा ही करनी पड़ती है। न जाने इन आँखों के द्वारा हमको कितनी बार भ्रमज्ञान होता है। प्रायः लोग कहते हैं कि किसी का विश्वास करो तो धोखा देता है, हम कहते हैं कि तुम कभी

लेखा-जोखा रखो कि तुम्हारी आँख कितनी बार धोखा देती है? रास्ते में जा रहे हैं, हम कहते हैं कि इस मोटर का नम्बर ३२३५ लगता है, पास वाला कहता है नहीं ३२३६ है। क्या इसका मतलब है कि तुम आँख का विश्वास करना छोड़ देते हो ? कान कितनी बार आधी बात सुनता है आधी नहीं सुनता, स्पर्श कितनी बार धोखा देता है, जीभ से कितनी बार धोखा खाया है, लेकिन श्रद्धा ही तो करते हैं कि ये कभी-कभी धोखा देते हैं लेकिन धोखा देना इनका स्वभाव नहीं है। यह श्रद्धा ही तो है। अगर इनके ऊपर अश्रद्धा आ जाये तो मनुष्य के सारे काम रुक जायें, कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिये लौकिक उपासना और लौकिक ज्ञान भी श्रद्धा के बिना नहीं हो सकते।

मनुष्य का सबसे उत्तम अंग अपना सिर है लेकिन जब नाई आता है तो उसके आगे अपना सिर दे देते हो और वह बड़े छुरे की धार खूब तेज करता है लेकिन तुम्हें पता है कि यह हज्जाम कई लोगों की हजामत बना चुका है, आज तक किसी को भी धोखा नहीं दिया, मेरी इससे दुश्मनी नहीं, यह क्यों मुझे धोखा देगा—इस भावना के कारण ही अपना सिर नीच करते हो। और अगर कहीं अश्रद्धा का भाव आ जाये कि शास्त्र में लिखा है 'नराणां नापितो धूर्तः' इसका कभी विश्वास मत करो, तो फिर सभी लोग जटाधारी बाबा होकर घूमोगे ! टिकट लेने जाते हो, वहाँ खिड़की के अन्दर एक ही हाथ जा सकता है। या तो पहले तुम टिकट देने वाले पर श्रद्धा करके उसे पैसा दो और फिर वह तुम्हें टिकट दे या वह पहले तुम्हें टिकट दे और फिर तुम उसे पैसा दो। अगर दोनों अश्रद्धालु हो जायें तो टिकट नहीं खरीदा जा सकता क्योंकि

उस खिड़की में हाथ तो एक ही जा सकता है। सभी लौकिक व्यवहारों के अंदर भी श्रद्धा की आवश्यकता है। बड़े परिश्रम से मनुष्य धन कमाकर लाता है और अपनी पत्नी को दे देता है, श्रद्धा ही तो है। अगर उसे संदेह हो कि यह एक दिन सारा उठाकर भाग जायेगी, कभी कदाचित् हो भी जाता है, लेकिन जो ऐसा संदेही व्यक्ति होगा, क्या उसे कोई शांति की प्राप्ति सम्भव हो सकेगी ? असम्भव हो जायेगी। भोजन करने बैठते हो तो भी श्रद्धा अपेक्षित है। घर में भोजन करो चाहे ढाबे में जाकर करो और वह ढाबा चाहे बहुत बड़ा हो जैसे ओबेराय इंटरकांटिनेंटल, है तो ढाबा ही; वहाँ भी तुम्हें श्रद्धा ही है कि ये लोग पचास रुपया भोजन का लेते हैं तो कोई धोखाधड़ी की चीज नहीं देंगे, तभी वहाँ खाते हो। यदि अश्रद्धा हो जाये कि ये लोग क्या पता जहर देकर हमें मार ही डालें, कोई ठिकाना नहीं, तो फिर भूखे ही रहना पड़ेगा। इसलिये जितने लौकिक व्यवहार, जितने लौकिक संबंध और जितने लौकिक ज्ञान हैं वे भी सारे श्रद्धा के सहारे ही हैं।

श्रुति बताती है कि श्रद्धा शुद्ध कैसे हो और बढ़े कैसे ? 'हविषा वर्धयामसि' हवि के द्वारा, आहुति के द्वारा ही श्रद्धा बढ़ती है। क्या देना है, कौन सी चीज है जो देकर श्रद्धा बढ़ती है ? कल्माष साम का विचार कर ही रहे हैं, उसमें वेद बताता है 'यो मा ददाति स इदेवमावाः' जो पुरुष मुझ परमात्मा को अपना विश्वास देता है, यही आहुति है। तिल, जौ, चावल की आहुति देने से श्रद्धा नहीं बढ़ती। श्रद्धा बढ़ाने के लिये अपने चित्त के विश्वास की आहुति देनी पड़ती है अर्थात् परमात्मा को विश्वास देना पड़ेगा। विश्वास और श्रद्धा का फ़रक बता आये हैं। श्रद्धा का विचार

आगे आयेगा। विश्वास तो हर-एक में है ही। परमात्मा को अपना विश्वास देना है, जब तुम परमात्मा का विश्वास करते हो वही परमात्मा को अपना विश्वास देना है। परमात्मा को भी तुम जानते तो हो नहीं, बिना परिचय के ही विश्वास देना है। पहले परमात्मा पर हम अपना विश्वास ही देते हैं। किस रूप में देते हैं ? परमेश्वर है; क्या है—यह मैं नहीं जानता हूँ, कैसा है—यह भी मैं नहीं जानता हूँ लेकिन मेरा यह दृढ विश्वास है कि यह जगत् शून्यमय नहीं है; सारे सृष्टि-ब्रह्माण्ड के अन्दर इन सबको चलाने वाला कोई है। उपनिषद् में बताया, 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद संतमेनं ततो विदुः' 'ब्रह्म है' यदि ऐसा तुमको निश्चय हो तो भी तुम सन्त हो। क्या है, कैसा है यह अभी पता नहीं, हमारा उसका क्या रिश्ता है यह भी पता नहीं लेकिन है इतना निश्चय है। जैसे तुम लोग व्यापार के लिये दुकान खोलते हो, दुकान खोलने के पहले क्या तुमने कहीं दस करोड़ रुपये रखे हुए देखे हैं ? लेकिन तुम्हारा विश्वास है कि दस करोड़ रुपये हैं जो दुकान चलने पर मेरे पास आ सकते हैं। विश्वास करते हो कि रुपये हैं। कहीं नौकरी करने जाते हो तो विश्वास देते हो। वहाँ यह तो नहीं सोचते हो कि क्या पता यह फर्म बीस साल तक चलेगी ही और हमको महीने के महीने वेतन देंगे ही। सरकारी नौकरी भी कर लोगे तो 'मुझे समय से पहले रिटायर करके भेज देंगे' यह सब अविश्वास नहीं करते हो। केवल विश्वास के आधार पर ही प्रवृत्ति करते हो। ब्याह करके जिस लड़की को घर में लाते हो क्या उस लड़की के स्वभाव को देख लेते हो ? आजकल शक्ल तो देख भी लेते हैं, वह भी आज तक हमारी समझ में नहीं आ पाया कि क्या देखते हैं ! क्योंकि

उस समय वह ऐसी सज-धज कर सामने आती है कि असली मामला क्या है किसी को पता नहीं चलता; लेकिन स्वभाव को कैसे देखोगे ? किसी के साथ साल भर रहकर भी क्या पता लगता है कि उसका स्वभाव कैसा है ? विश्वास ही तो करते हो कि धोखा नहीं देगी। इसी प्रकार परमात्मा है—बस इतना ही विश्वास अभी कर रहे हो। अन्य सभी क्रियाओं में बिना देखे हुए, बिना अनुभव किये हुए ही विश्वास से व्यवहार क़र लेते हो। यह मुझे मारेगा या नहीं, इससे मुझे फायदा होगा या नहीं इत्यादि सब विचार बिना किये हुए भरोसे से ही तुम विवाह, नौकरी व्यापार इत्यादि सारा व्यवहार करते हो। बस उतना ही भरोसा यहाँ करना है। कई बार लोग कहते हैं कि 'अगर भजन किया और परमेश्वर नहीं मिला तो ?' हम उनसे कई बार कहते हैं कि नहीं मिला तो न मिले यह तो व्यापार है, घाटा-नफा दोनों हो सकते हैं। 'है' इतना विश्वास ही प्रवृत्ति के प्रति पुष्कल कारण हो जाता है। यह पहली आहुति विश्वास की हुई।

परमात्मा कहता है कि 'जिसने मुझे यह विश्वास दे दिया, वह मुझे प्राप्त कर लेगा।' यह कहने वाला संसार में तुम्हें कहीं मिलने वाला नहीं है। तुम धन पर बचपन से आज तक विश्वास रख रहे हो तो विश्वास रखने से क्या धन मिल गया ? लड़की घर के अन्दर आकर भाई से झगड़ा नहीं करायेगी क्या इस विश्वास के कारण झगड़ा रुकवा लेते हो ? डाक्टर के पास जाकर दवाई लेकर ठीक हो जायेंगे—तो क्या ठीक हो जाते हो? संसार में विश्वास सर्वत्र अपेक्षित है लेकिन विश्वास के साथ कुछ और भी चाहिये। वेद कहता है कि परमेश्वर को प्राप्त करने के लिये

यह विश्वास ही चाहिये कि वह मुझे प्राप्त होगा। जब वरणी देते हो तो मौलि बाँधते हुए पंडित जी कहते हैं

'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।।'

श्रद्धा के द्वारा तुमको सत्य तत्त्व का दर्शन हो जायेगा। जितना-जितना परमेश्वर का विश्वास बढ़ता जायेगा उतना ही उतना वह श्रद्धा रूप में आता जायेगा और उतना ही उतना परमेश्वर के उस मंगलमय रूप का तुमको साक्षात्कार होता चला जायेगा। श्रद्धा सत्य-प्राप्तिका पुष्कल कारण है। यह इसकी विशेषता हुई।

यहाँ वेद ने कहा, 'यो मा ददाति' जो मुझे अर्थात् परमात्मा को विश्वास देता है, कितना देता है ? यह नहीं लिखा है। यहाँ आकर ज़रा घबराहट होगी। हमारे यहाँ वैदिकों के अन्दर यह नियम है कि जहाँ सीमा न लिखी हो वहाँ अपरिच्छिन्नता को ग्रहण करना पड़ता है। जहाँ कहा है कि 'इतना दो' वहाँ तो निश्चित हो गया, लेकिन जहाँ नहीं कहा, वहाँ अपरिच्छिन्न दो, क्योंकि सीमा नहीं बताई। लोक में भी यही बात है। 'ब्राह्मण इस पंक्ति में बैठ जायें,' तो ऐसा नहीं कह सकते कि सनाढ्य बैठें, सरयूपारी न बैठें। जब ब्राह्मणों को भोजन कराने का कहा है तो जो भी वहाँ ब्राह्मण प्राप्त हैं उन सबको कराना पड़ेगा। इसी प्रकार वेद कहता है कि अपना विश्वास दो और यह कहा नहीं कि कितना दो तो अपना सारा विश्वास परमात्मा को देना पड़ता है। अन्यत्र कहीं भी हमको यदि कोई विश्वास प्रतीत होता है तो वहाँ से हटाकर एकमात्र परमात्मा पर ही विश्वास रखना है। अपना सारा ही विश्वास जो परमात्मा को दे देता है वह उसे प्राप्त कर लेता

है क्योंकि उसके अन्दर ही आस्तिक्य आ जाता है। आस्तिकता का मतलब ही यह भाव होता है कि परमात्मा है। इस बुद्धि वाली हवि देनी है। एक दिन में ही तो सारा विश्वास नहीं दोगे, जितना-जितना विश्वास दोगे उतना-उतना बढ़ता जायेगा। पहले-पहल विश्वास देने में मनुष्य को डर लगता है। बहुत-सी चीज़ें मनुष्य दूसरे को दे सकता है, हृदय का विश्वास देना बड़ा कठिन है।

दो भाई थे। एक का नाम धीरू और दूसरे का नाम भीरु था। जंगल में एक बार दोनों खो गये। उस जंगल में चारों तरफ घूमते रहे लेकिन कहीं से उन्हें वापिस घर जाने का कोई ढंग का रास्ता नहीं मिला। दीर्घ काल तक वहीं घूमते रहे, उनके पास में कपड़े भी नहीं थे, नहाना-धोना भी मुश्क़िल था। कपड़े मैले भी हो गये और उनमें जुएँ पड़ गयी थीं। इधर-उधर पेड़ों से छिलकर उन कपड़ों के चीथड़े भी हो गये लेकिन कोई उपाय नहीं था। इस प्रकार घूमते हुए अतिदीर्घकाल के बाद एक बार एक तालाब के किनारे पहुँचे। बड़ा सुन्दर तालाब था, कमल खिल रहे थे, देखकर बड़े प्रसन्न हुए। तब तक देखा कि वहाँ एक बहुत बड़ा बगीचा है जिसमें बड़े सुन्दर फल लटक रहे हैं, बड़े सुन्दर फूल भी थे। उन्होंने सोचा कि 'बड़ा बढ़िया उपवन मिल गया, चलकर फल खायें।' फल खाने के लिय आगे बढ़े। वहाँ एक सूचना पट्ट पर लिखा हुआ था—"अरे भवाटवी के पथिको ! तुम लोग यहाँ पहुँच गये यह तो बड़ी अच्छी बात है लेकिन भूल कर भी इस बगीचे के फूलों को सूंघना मत और फलों को खाना मत। इन फूलों के अन्दर जहर भरा हुआ है। इनको सूंघने वाला मूर्च्छित

हो जाता है। इसी प्रकार ये फल भी विषैले हैं। इनको खाने वाला कुछ करने योग्य नहीं रह जाता। इसलिये तुम लोग इधर मत जाना। जो भी तुम्हारे कपड़े हैं वे सब उतार देना, और यह जो तालाब है इसमें स्नान करना, इसमें उतर जाना, भय मत करना कि इस तालाब में जायेंगे तो कहीं डूब जायेंगे। यह अमृत सरोवर है, इसमें कोई डूबता नहीं उल्टा इसमें स्नान करने से ताजगी आ जाती है। इसमें तरह-तरह के कमलों की सुन्दर सुगंधि प्राप्त करके तुम्हारा जितना भी चित्त क्लांत हुआ है, वह सब थकावट दूर हो जायेगी। जब इस तालाब के पार पहुँचोगे तब तुमको वहाँ एक बड़ा भारी शेर खड़ा हुआ दिखाई देगा। दीखेगा शेर ही, लेकिन डरने की जरूरत नहीं। उल्टा उस शेर पर बैठ जाना। वह शेर तुम्हें पास ही पहाड़ी पर ले जायेगा। वहाँ तुम भगवान् शंकर का सुन्दर मन्दिर देखोगे और जैसे ही वहाँ जाकर भगवान् शंकर पर अभिषेक करोगे तुम स्वयं भी शिवस्वरूप सहस्राक्ष महादेव हो जाओगे।" यह सूचना पट्ट दोनों भाईयों ने पढ़ा।

धीरू ने कहा, 'किसी बुद्धिमान् ने यह लिख दिया है, बड़ा अच्छा किया जो अपने को सावधान किया।' भीरु कहने लगा 'मुझे तो यह बेकार की बात लगती है। सामने साक्षात् जो पेड़ों के सुन्दर फल दीख रहे हैं, लिखा है कि उन्हें खाओ नहीं। सुन्दर फूल दीख रहे हैं, लिखा है कि उन्हें सूंघो नहीं और छाया दीखती है वहाँ आराम मत करो। अपने कपड़े-लत्ते भी फैंक दो। माना कि अपने कपड़े पुराने और जुओं वाले हो गये हैं, फिर भी अपनी चीज कहीं फेंकी जाती है। और लिखा है कि इस तालाब के अन्दर निर्भय होकर उतर जाओ ! इसके अंदर इतने कमल हैं, कहीं

अपने फँस गये तो ? और मान लो अगले पार पहुँच गये, तो शेर कभी किसी को छोड़ता नहीं है, वह तो खा ही जायेगा। मान लो नहीं भी खाया, उस पर बैठकर हम चले और उसने पहाड़ी पर जाकर कहीं गिरा दिया तो ? और इतना सब होकर भी हम लोग ऊपर पहुँच गये, और अभिषेक कर भी लिया और कुछ नहीं हुआ तो? इसलिय मुझे तो यह विश्वास की बात नहीं जँचती। यह तो सब ऐसे ही लगता है। इसलिये हम तो चलकर बढ़िया फल खाकर आराम करें।'

धीरू उसे समझाने लगा 'ऐसे घबराने से काम नहीं चलेगा। देखो, जो उन वृक्षों के नीचे लेटे हैं वे हिल भी नहीं रहे हैं जबकि अपने को यहाँ आये हुए काफी देर हो गई, इसलिये कुछ-न-कुछ जरूर गड़बड़ी है, नहीं तो कोई उठा होता, कोई खा रहा होता। कपड़े तो अपने पहले ही ऐसे हो गये हैं, कम से कम नहाकर तरोताजा तो हो जायेंगे। माना शेर भयंकर होते हैं लेकिन यह कोई जरूरी नहीं कि सर्वत्र भयंकर हों। ऐसे-ऐसे किस्से सुने गये हैं कि शेर के पैर से किसी ने कांटा निकाल दिया तो दस साल बाद भी उस शेर को याद रहा औरं जब उसी व्यक्ति को उस भूखे शेर के सामने डाला गया तो उसने उसे नहीं खाया क्योंकि उसे याद रहा कि इस व्यक्ति ने मेरे प्राण बचाये थे। फिर हमारे पास कौन से ऐसे हीरे-पन्ने हैं जो किसी ने धोखा देने के लिये लिखा हो ? इसलिये तुम घबराओ नहीं, तालाब की तरफ ही चलें।' भीरु ने कहा, 'तुम जाओ, हम तो जाने वाले नहीं हैं। पता नहीं तुम्हारी बुद्धि को क्या हो गया है ? बहुत समय के बाद एक अच्छी जगह मिली है।' यह कहकर भीरु वहाँ गया, फूलों को

सूँघने लगा। उसे मस्ती आने लगी, खुश हुआ कि बढ़िया हो रहा है। आगे जाकर फल खाये विषैले तो थे ही, थोड़ी देर में उसे मूर्च्छा आ गई। और वहीं उसका काम तमाम हो गया।

धीरू कपड़े खोलकर जैसे ही सरोवर में गया, बड़ा हल्का महसूस हुआ, मल-मलकर स्नान किया और सुन्दर कमलों की सुगन्धि से उसकी सारी क्लान्ति मिट गई। उसके मन में हुआ कि सूचनापट्ट पर ठीक ही लिखा हुआ है। आगे जब दूसरे किनारे पर पहुँचा तो उसे शेर दिखाई दिया। एक बार तो उसके मन में हुआ कि यह शेर है, पता नहीं क्या करे। लेकिन देखा कि वह चुपचाप खड़ा है, कुछ नुकसान नहीं कर रहा है। धीरे से पास गया तो भी शेर ने कुछ नहीं किया। वह उस शेर पर बैठ गया और शेर ने उसे ऊपर पहुँचा दिया। ऊपर पहुँचकर उसने भगवान् शंकर का अभिषेक किया तो उसके साथ ही उसे शिवसायुज्य की प्राप्ति हो गई और स्वयं वह सहस्राक्ष महादेव रूप हो गया।

वस्तुतः धीरू और भीरु श्रेय और प्रेय मार्ग के दो साधक हैं। जो धैर्य वाला, धीरतापूर्वक काम करने वाला हो उसे धीरू कहते हैं और जो हर नई परिस्थिति में अविश्वास के कारण क्या होगा क्या नहीं होगा यों डरता ही रहे, उसे भीरु कहते हैं। हम अनादि काल से भवाटवी इस संसार चक्र के अन्दर रास्ता भूलकर घूम रहे हैं, रास्ता ही नहीं मिल रहा है कि किधर जायें। राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि जुएँ पंचकोशों में पड़ गई हैं। जैसे जुएँ काटती हैं इसी प्रकार हर क्षण राग, द्वेष, काम, क्रोध हम लोगों को काटते रहते हैं। कामना पैदा हुई, पूरी की। उस समय लगता है कामना शांत हो गई लेकिन जैसे खाज करने से बढ़ जाती है ऐसे ही थोड़ी

देर में फिर कामना की जलन बढ़ गई। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जिस-जिस को शांत करते हो लगता है शांत हुए, थोड़ी देर बाद फिर वैसे के वैसे तैयार हैं। किसी काल में भगवत् कृपा के कारण मनुष्य शरीर मिलता है। मनुष्य शरीर में आने पर इसके सामने दो चीजें दिखाई पड़ती हैं—एक भोगमय संसार और एक त्यागमय संसार। दोनों सामने आते हैं। पहली प्रवृत्ति तो सभी की होती है कि जो चीज अच्छी लगती है उधर चलो। जैसे वहाँ सूचनापट्ट लिखा हुआ मिलता है, वैसे ही यहाँ वेद ही वह सूचनापट्ट है जो कहता है कि इधर जो फूल दिखाई दे रहे हैं वे श्रेष्ठ नहीं। वेदों में बहुत से कर्म दिखाई देंगे कि अमुक कर्म करने से पुत्र प्राप्त होगा, अमुक कर्म करने से धन प्राप्त हो जायेगा, अमुक करने से राज्य हो जायेगा। यह सब भी हम मनुष्य जन्म में कर सकते हैं। लेकिन वही वेद साथ में यह भी कह देता है, 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा' ये सब चीजें प्राप्त कर सकते हो, लेकिन ये कमजोर नावें हैं इसलिये ये फिर जन्म-मरण के चक्र में डाल देंगी। इन कामनाओं की पूर्ति में जाओगे तो चक्र से निकल नहीं सकोगे। 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः' बड़ी सुगन्धि वाले पुष्प अर्थात् बढ़िया पदार्थ देवलोक, विष्णुलोक, ब्रह्मलोक इत्यादि अन्य लोकों में तथा इह लोक में भी मिलेंगे, वेद कहता है कि उसका भी यह रास्ता है, लेकिन सावधान करता है कि यह रास्ता सुख का रास्ता नहीं है, सुख का रास्ता तो यह है कि जो तुमने अपने ऊपर कीड़े-मकोड़े जुओं वाले चीथड़े लगा रखे हैं इन्हें खोलो—शम, दम, उपरति, तितिक्षा के द्वारा राग-द्वेष आदि के जो कपेड़े अपने ऊपर बाँध रखे हैं, इन्हें खोलकर फेंको

और परमेश्वर का स्मरणरूप जो अमृत सरोवर है इसके अन्दर प्रवेश करो। इसमें जाओगे तो तुम्हारे शरीर का सारा मैल धुल जायेगा। जितनी परमेश्वर की भक्ति करोगे उतने तुम्हारे जितने मल हैं वे धुलते चले जायेंगे। जब तुम दूसरे किनारे पर पहुँचोगे तो वहाँ तुम्हें शेर खड़ा मिलेगा। वेदांतशास्त्र शेर की तरह है। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं 'न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदांतकेसरी' वेदांत शेर की तरह गरजता है। बहुत से लोग इसीलिये डर जाते हैं। यहाँ तक कि ज्ञान होने के बाद भी उपनिषद् कहती है 'गायन्नास्ते अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नम्'। तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्त में कहते हैं कि जब ज्ञान हो जाता है तब यह गाना गाता है क्योंकि अंदर का आनन्द वह अपने अन्दर रख नहीं पाता। उसे बाहर निकालता है। 'मैं ही सर्वरूप हूँ, मैं ही सर्वरूप हूँ।' यह वह गाने लगता है लेकिन इस शेर से डरना नहीं चाहिये क्योंकि यह तुम्हारे कल्याण के लिये गरजता है ताकि तुम्हारे दूसरे भय निवृत्त हों। जैसे ही वेदांत में मनुष्य प्रवृत्ति करता है इस गर्जन के कारण दूसरे भय हट जाते हैं। विचार करो कि यदि झूठ-मूठ, बिल्कुल झूठी बात भी हम तुमको कह दें कि 'आज पार्लियामेन्ट के अन्दर बड़ा विचार हुआ और यह निश्चय हुआ कि अगले राष्ट्रपति पद के लिये तुम्हारा नाम जनता पार्टी और कांग्रेस दोनों मिलकर रखने वाले हैं, यह निश्चय हो गया है, अब तुम्हारे पास टेलीफोन आने ही वाला है।' यह सुनने के साथ ही घण्टे दो घण्टे के लिये सारे भय तुम्हारे भाग जायेंगे या नहीं ? जब तक पता नहीं लगेगा तब तक इन्कमटैक्स अफसर, सेल्स टैक्स अफसर किसी का डर नहीं रह जायेगा। कहोगे 'भगवान् ने छप्पर फाड़

कर दे दिया।' इसी प्रकार जब तुमसे कहते हैं कि 'तुम ब्रह्म हो' तो झूठ कह रहे हों तो भी उतनी देर के लिये तो तुम्हारा भय चला ही जायेगा ! फ़िर अगर आगे झूठ सिद्ध होगा तो दूसरी बात है। तुम ब्रह्म हो—इस गर्जनमात्र से मनुष्य का भय हट जाता है। फरक केवल यह है कि यह सच्ची बात है। इसलिये जब इसका अनुभव करोगे तो फिर भय कहाँ रह जायेगा ? शास्त्रकार कहते हैं, 'अनुभूतेरभावेपि ब्रह्माऽस्मीत्येव चिन्त्यताम्' अर्थात् अनुभव नहीं भी हो रहा है तो भी इसका चिंतन करो, देखो कितनी विलक्षण शक्ति का संचार होने लग जाता है ! अपरोक्ष अनुभव से पहले भी अपूर्व उल्लास होगा। यह है शेर लेकिन यह शेर तुम्हें बचाने वाला शेर है, तुम्हें खाने वाला नहीं है। जब इसके ऊपर बैठकर चलते हो अर्थात् जब 'तत्त्वमसि' आदि का भागत्यागलक्षणा से विचार करते हो तब अंततोगत्वा भगवान् शंकर की सन्निधि में पहुँच जाते हो। फिर जो कुछ भी अपना सार है वह शिवार्पण करना है। जैसे गौ का दूध ही गौ का सार है वैसे ही ज्ञान का सार सारी वृत्तियों वाला चेतन है। चेतन का अभिषेक भगवान् शंकर पर हुआ तो शिवरूप ही हो गये।

मनुष्य के सामने ये दो चीज़ें आती हैं, वेद दोनों को बताता है—श्रेय का रास्ता भी मनुष्य को बताता है और प्रेय का रास्ता भी बताता है। जो विवेकी होता है वह कहता है कि जिन्होंने परमेश्वर का भजन किया उन्हें देख रहे हैं कि वे शांत हैं और जिन्होंने इस संसार के पदार्थों की प्राप्ति की उनके अन्दर कहाँ शान्ति देखने को मिलेगी ! पुत्र, धन, यश, प्रतिष्ठा प्राप्त करने वालों से लेकर देवलोक पर्यन्त जाने वालों में क्या देखने में आता

है ? उनमें रागद्वेषशून्यता, कामक्रोधरहितता कहाँ देखने में आती है ? वहाँ भी वही चिन्ता, वही झगड़ा चल रहा है। प्रत्यक्ष में देखने में आता है कि उससे निवृत्ति नहीं होती, बड़े-बड़े कर्मानुष्ठान किये और उन्हें देखते हैं कि छोटी-छोटी बात पर गुस्सा आता है। कहाँ उनके जीवन में शांति देखने को मिलती है ! एक विषय की प्राप्ति होने के बाद दूसरे विषय की कामना हो जाती है। दूसरी तरफ जो परमेश्वर की भक्ति के रास्ते में गये हैं उनमें शांति देखने में आती है। जो तो इस श्रद्धा को परमात्मा की तरफ देते हैं वे इस मार्ग से चलकर, जैसा यहाँ कहा, परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। जो इस मनुष्य शरीर में आकर भी भीरु की तरह सुन्दर फल फूलों को देखकर उनकी तरफ चले जाते हैं वे इस सुख को प्राप्त नहीं कर सकते। अश्रद्धा को श्रद्धा से जीतने का यही उपाय वेद ने बताया। परमात्मा में श्रद्धा करने से ही अश्रद्धा नष्ट हो जाती है। परमात्मा की तरफ इस विश्वास से प्रवृत्ति ही श्रद्धा का रूप है। जितनी यह प्रवृत्ति करते जाओगे उतना ही विश्वास बढ़ता जायेगा, अंततोगत्वा श्रद्धा में परिणत हो जायेगा।

भगवान् ने गीता में एक बहुत बड़ी बात कह दी कि यदि किसी गलत चीज़ को भी तुमने भगवान् मान लिया तो भी मत घबराओ।

'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।'

बड़ी विलक्षण बात शास्त्र कहता है। मन में आता है कि 'परमेश्वर को मैंने पहचाना नहीं, कहीं गलत जगह ही विश्वास कर लिया तो ?' भगवान् कहते हैं कि तुमने मुझे नहीं पहचाना, पर मैं तो

सर्वरूप हूँ, कण-कण और क्षण-क्षण में मेरे सिवाय कोई नहीं है। यदि तुमने गलत चीज को परमेश्वर समझा तो क्या उस गलत में मैं नहीं हूँ ? मैं वहाँ भी बैठा हुआ हूँ। तुमने मुझे नहीं पहचाना लेकिन तुम मुझे पहचानना *चाहते* हो यह तो मुझे पता लग गया। इसलिये यदि तुमने गलत चीज़ को भी अपने विश्वास का केन्द्र बना लिया तो परमात्मा वहाँ भी बैठा हुआ है इसलिये उसी रूप में आगे चलकर तुम्हारे अन्दर परमात्म-साक्षात्कार आ जायेगा, प्रकट हो जायेगा। यह भी एक बहुत बड़ा प्रतिबंधक बहुत से मनुष्यों के मन में आ जाता है कि 'हम किस पर श्रद्धा करें ?' वेद कहता है कि उसके किस रूप, किस नाम पर श्रद्धा करते हो यह गौण है, किसी भी नाम-रूप पर करो, याद यह रखना है कि वह परमेश्वर सारी सृष्टि का नियामक है। मेरे अंदर-बाहर सर्वत्र सब चीज़ों पर शासन करने वाला वही है। यह मानकर तुमने कोई गलत नामरूप भी लिया तो भी उसमें भगवान् है। इसलिये मन में यह संदेह कभी नहीं लाना कि हमसे गलती होगी। क्योंकि मैं परमात्मा को चाहता हूँ और परमात्मा में विश्वास करता हूँ—यह तो सत्य है, इसमें कहाँ भूल है ? यह हमारे में समझ है तो आगे का रास्ता स्वयं भगवान् स्पष्ट कर देते हैं। ऐसी श्रद्धा कभी नुकसान नहीं करती। लेकिन यदि परमात्मा 'है' यह विश्वास नहीं हुआ, केवल नामरूप को ही परम सत्य समझोगे तो गलती होगी। इसलिये उक्त श्रद्धा से ही मनुष्य आगे बढ़ता है, यह श्रुति ने स्पष्ट बताया।

चौथा सेतु असत्य का है जिसे सत्य से पार करना है। सत्य-असत्य का स्वरूप तो प्रसिद्ध ही है। ये चार प्रधान रूप से

वे कर्म हैं जो अमरता देते हैं। जगत् के प्राक्काल में ये सब भी नहीं थे क्योंकि तब केवल अद्वितीय परमात्मवस्तु थी। 'थी' में जो भूतकाल प्रतीत होता है वह भी इसीलिये कि हम काल-संदर्भ में ही समझने की आदत वाले हैं, शास्त्र उस वस्तु की सद्रूपता में भूतकाल का वैशिष्ट्य बताने में प्रवृत्त नहीं है।

इस प्रकार संक्षेप में विचार किया कि परमार्थ अद्वैत व्यक्त करने के लिये शास्त्र ने यह ढंग अपनाया कि जो कुछ भी जड-चेतन जगत् हमें अनुभव में आ रहा है वह वास्तव में है नहीं यह निश्चय हो जाये। इसके लिये जगत् की कारणावस्था उपस्थित की। जो कुछ कार्य है वह सब वहाँ नहीं था, ढाँकने वाला और ढाँका जा सकने वाला भी वहाँ कुछ नहीं था, सर्वसमर्थ माने जाने वाले कर्म भी वहाँ नहीं थे, काल नहीं था; इतना सुनकर शंका होगी कि क्या कुछ भी नहीं था ? इसका समाधान किया कि 'स्वधा' सहित वह एक परमात्मा अवश्य था, उससे अन्य कुछ नहीं था। क्योंकि कारण एकमात्र सच्चिदानंद है इसलिये कार्य की वास्तविकता भी सच्चिदानंद ही हो सकती है, उससे अतिरिक्त जो नाम-रूप-कर्म प्रतीत होते हैं वे अवास्तविक ही हैं। यों कारणविचार से भेद का बाध होकर अभेद स्पष्ट हो जाता है। इस अभेद के साक्षात्कार के लिये उपयोगी अनेक साधनों पर भी विचार किया। इन साधनों को करते रहने से ही धीरे-धीरे परम सत्य समझने की सामर्थ्य आ सकती है, बिना साधनानुष्ठान के वह सामर्थ्य कभी नहीं आ सकती। सामर्थ्य आ जाने पर तो केवल तत्त्वज्ञान की जरूरत पड़ती है, निःशंक निश्चल तत्त्वज्ञान होते ही समग्र बंधनों से मोक्ष स्वतःसिद्ध है।